आलोचना व निबन्ध

उर्दू साहित्य का इतिहास

उर्दू साहित्य का इतिहास

भाग १

(पद्य-खंड) आलोचना व निबन्ध

मूल-लेखक

डा० रामबाबू सक्सेना

एम० ए०, डी० लिट्

अनुवादक

श्री रामचंद्र टंडन

श्री शालिग्राम श्रीवास्तव

१९५०

हिंदुस्तानी एकेडेमी

उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद

प्रथम संस्करण : १९५० : मूल्य ५)

पहले १६ फर्मे विश्ववाणी प्रेस, प्रयाग, में तथा शेष पुस्तक सेन्ट्रल प्रिंटिंग प्रेस, प्रयाग, में मुद्रित हुई।

आलोचना व निबन्ध

वक्तव्य

हिन्दी के खड़ीबोली साहित्य से उर्दू साहित्य का बहुत निकट सम्बन्ध रहा है। हिन्दी साहित्य के विद्यार्थी के लिये उर्दू साहित्य के विकास का ज्ञान बहुत आवश्यक है। इसी दृष्टि से कई विश्वविद्यालयों में हिन्दी की उच्च कक्षाओं में उर्दू साहित्य के इतिहास से भी विद्यार्थियों को परिचित कराया जाता है।

अभी तक हिन्दी में कोई ऐसा प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं था जो उर्दू साहित्य के इतिहास का विस्तृत परिचय दे सके। इसी उद्देश्य से एकेडेमी ने प्रस्तुत ग्रन्थ प्रकाशित किया है। यह इतिहास मूलतया अंग्रेजी में 'हिस्ट्री आफ़ उर्दू लिटरेचर' शीर्षक से लिखा गया था। उसका उर्दू रूपान्तर, 'तारीख़-ए-अदब-ए-उर्दू' श्री मिर्ज़ा मोहम्मद अस्करी ने किया था। प्रस्तुत हिन्दी रूपान्तर मुख्यतया उर्दू संस्करण पर आधारित है और यथास्थान अंग्रेज़ी पुस्तक से भी सहायता ली गई है। उन दोनों संस्करणों के उपयोग करने की अनुमति देने के सौजन्य के लिये हम उनके प्रकाशक नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, तथा रामनारायण लाल पब्लिशर्स, इलाहाबाद, के कृतज्ञ हैं। प्रथम छः अध्यायों का रूपान्तर श्री रामचन्द्र टंडन ने किया है। बाद के अध्यायों का रूपान्तर श्री शालिग्राम श्रीवास्तव द्वारा हुआ है।

प्रस्तुत खंड में केवल उर्दू साहित्य के पद्य-खंड का इतिहास दिया जा रहा है। इतिहास का दूसरा खंड भी शीघ्र ही एकेडेमी द्वारा प्रकाशित किया जायगा जिसमें उर्दू गद्य-साहित्य की विवेचना और विकास का निरूपण होगा।

धीरेन्द्र वर्मा
मन्त्री
हिंदुस्तानी एकेडेमी

३०. १. ५०.

*

विषय-सूची

अध्याय १

पृष्ठ-संख्या

अध्याय २

अध्याय ३

अध्याय ४

अध्याय ५

अध्याय ६

अध्याय ७

अध्याय ८

अध्याय ९

अध्याय १०

अध्याय ११

अध्याय १२

अध्याय १ ३

अध्याय १४

अध्याय १

उर्दू भाषा और उसकी उत्पत्ति

उर्दू से क्या तात्पर्य है?

साधारणतया लोग उर्दू को फ़ारसी की एक शाखा समझते हैं, इसका कारण यह है कि उसका आरंभ मुसलमान आक्रमणकारियों की सेना में और हिन्दुस्तान के मुसल्मान सुल्तानों की राजधानियों में हुआ जान पड़ता है। उर्दू की फ़ारसी से उत्पत्ति होने की भूल साधारण लोगों से इस कारण भी होती है कि उसमें फ़ारसी शब्द बहुतायत से हैं और उसकी कविता के छंद तथा उसकी लिपि फ़ारसी जैसी हैं। इसी भूल के आधार पर साधारण जनता यह समझती है कि उर्दू मुसल्मानों की भाषा है, उसी प्रकार जिस प्रकार हिंदी हिन्दुओं की भाषा समझी जाती है। इसी भ्रांति से, बहुत समय से उर्दू के पक्षपातियों और हिंदी के समर्थकों के बीच, दोनों भाषाओं की विशेषताओं और लोकप्रियता को लेकर बराबर झगड़ा चला आता है, और इस तर्क-वितर्क में पड़कर लोग उर्दू भाषा की उत्पत्ति की ओर दृष्टि डालना भूल जाते हैं। सच बात यह है कि उर्दू भाषा उस हिंदी या भाषा की एक शाखा है जो सदियों तक दिल्ली और मेरठ के आसपास बोली जाती थी और जिसका सीधा संबंध "सूरसेनी प्राकृत" से था। यह भाषा जिसे पश्चिमी हिंदी कहना उचित होगा उर्दू भाषा की जननी समझी जा सकती है।

यद्यपि "उर्दू" का नाम उस भाषा को बहुत समय बाद दिया गया, उर्दू भाषा का व्याकरण, उसके मुहावरे, और हिंदी शब्दों

का उसमें प्रचुरता से प्रयोग इस बात को स्पष्ट रूप से बताते हैं कि उसकी उत्पत्ति हिंदी से हुई, और यह आकस्मिक मात्र है कि वह हिंदुस्तान की आम भाषा बन गई। इसका कारण यह है कि दिल्ली जो इस भाषा का प्रारंभिक केन्द्र था, मुसलमान आक्रमणकारियों और बादशाहों का मुख्य स्थान तथा राजधानी थी। अतएव यह विचार करना, जैसा कि मीर अम्मन और कुछ अन्य पुराने उर्दू गद्य लेखकों का विचार है कि उर्दू एक मिश्रित भाषा है, जिसमें वह सब भाषायें सम्मिलित हैं जो किसी समय में दिल्ली के बाज़ारों में बोली जाती थीं, ठीक नहीं है। यह अवश्य सच है कि लश्कर' या बाज़ार से इस भाषा के विकास और उन्नति का इतना सम्बन्ध था कि इसका नाम ही "उर्दू" पड़ गया, जिसे तुर्की भाषा में "लश्कर" कहते हैं। भाषा में इस समय तक पुष्टि नहीं आई थी, वह निर्माण की अवस्था में थी, और अपरिचित शब्दों और वाक्यों को ग्रहण करने की उसमें बड़ी शक्ति थी, जैसी कि अब भी है।

इस समय में, उर्दू को अंग्रेजी नामकरण के अनुसार "हिन्दुस्तानी" कहते हैं, लेकिन हमारे विचार में यह नामकरण अच्छा होते हुए भी यथार्थ नहीं है; क्योंकि इस शब्द के अंतर्गत पूर्वी-हिन्दी, पश्चिमी हिन्दी, और राजस्थानी सभी आ जाती हैं। इसी प्रकार हमारे विचार में ब्रजभाषा को, जो कि पश्चिमी हिन्दी की एक शाखा है, उर्दू का मूलस्थान समझना, जैसा कि मौलाना मुहम्मद हुसैन आज़ाद ने भी समझा है, ठीक नहीं जान पड़ता। मथुरा और उसके आस पास बोली जाने वाली ब्रजभाषा, यद्यपि दिल्ली और उसके आसपास बोली जाने वाली भाषा से बहुत कुछ मिलती-जुलती है, फिर भी दोनों भिन्न हैं। उर्दू का उद्गम दिल्ली और उसके निकट बोली जाने वाली भाषा से ही है।

उर्दू और हिन्दी का सम्बन्ध

ऊपर जैसा कि कहा गया है, उर्दू की उत्पत्ति उस बोली से हुई जो दिल्ली और मेरठ के आस पास बोली जाती थी, और जिसे पश्चिमी हिन्दी की एक शाखा समझना चाहिये। पश्चिमी हिन्दी स्वतः शौरसेनी प्राकृत से उत्पन्न हुई और उसकी निम्नलिखित शाखाएँ हैं:—बाँगरू, ब्रज-भाषा, कनौजी, और दिल्ली के आस पास की बोली। उर्दू से फ़ारसी शब्दों को निकाल कर उनके स्थान पर संस्कृत शब्द रख देने से आधुनिक 'क्लिष्ट हिन्दी' का विकास हुआ। इसी 'क्लिष्ट हिन्दी' में गद्य के ग्रन्थ लिखे गये हैं, जिनमें कि लेखकों ने संस्कृत के बड़े-बड़े शब्दों का व्यवहार किया है। लेकिन सच पूछिए तो उर्दू और हिन्दी अपनी उत्पत्ति और प्रकृति की दृष्टि से एक ही भाषा हैं और इन दोनों में कोई भेद नहीं है। यदि कुछ भेद है भी तो उनके विकास तथा उन्नति के ढङ्ग में। उर्दू मुसलमानों की संरक्षता में पली इसलिये उसमें फ़ारसी शब्दों की बहुतायत हो गई, हिन्दी अपने मूल उद्गम—संस्कृत – की ओर फिरी। परिणाम यह हुआ है कि वर्तमान काल की साहित्यिक उर्दू और साहित्यिक हिन्दी के बीच एक गहरी खाई उत्पन्न हो गई है। एक में फ़ारसी शब्दों और दूसरी में संस्कृत शब्दों को भरने की प्रवृत्ति चल रही है।

फ़ारसी का ऋण उर्दू भाषा तथा साहित्य पर

आरंभ में भाषा सहज और सीधी-सादी थी और साधारण जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त थी। ज्यों-ज्यों उसमें उन्नति हुई, और वह एक साहित्यिक भाषा बनती गई त्यों-त्यों उसमें फ़ारसी, अरबी और तुर्की शब्दों का समावेश होता गया। फ़ारसी शब्द सुनने में बहुत भले मालूम होते थे इस कारण लेखकों ने अपनी रचनाओं में नवीनता का पुट देने के लिए उनको स्वतंत्रता पूर्वक व्यवहार में लाना आरंभ कर दिया और इस प्रकार से फ़ारसी

प्रयोग जो कि मूल भाषा से बिलकुल अलग थे और उसके साथ मेल नहीं खाते थे, भाषा में प्रविष्ट होने लगे। इसी के साथ फ़ारसी लिपि भी कुछ थोड़े से परिवर्तन के साथ ग्रहण कर ली गई, क्योंकि फ़ारसी शब्द इस लिपि में अधिक सरलता से लिखे जा सकते थे। उर्दू कविता पर भी फ़ारसी का बड़ा प्रभाव पड़ा और वह भी फ़ारसी कविता की रूप-रेखा ग्रहण करने लगी। न केवल छंदों में वरन् विषय, कल्पना, कथा-प्रसंग और वाक्यों के संगठन आदि में भी उर्दू कविता ने फ़ारसी कविता की नक़ल की। उर्दू का पिंगल पूर्णतया फ़ारसी पिंगल का अनुकरण करने लगा। गद्य का भी यही हाल था। कुछ समय तक उर्दू कविता में फ़ारसी कविता का अनुवाद मात्र चलता रहा। सारांश यह कि फ़ारसी भाषा का विषय, विचारों और शैली की दृष्टि से उर्दू पर इतना प्रभाव हो गया कि उर्दू की प्रकृति और उत्पत्ति तक को लोग भूल से गए और कतिपय विद्वानों ने उर्दू के व्याकरण की भी फ़ारसी के ढंग पर रचना कर डाली।

उर्दू में फ़ारसी शब्दों और प्रयोगों की बहुतायत के कारण

मुसलमान विजेताओं के रूप में हिंदुस्तान में आए। स्वभावतः फ़ारसी भाषा जो उनकी मातृ-भाषा थी "शाही" भाषा बनी। इसका परिणाम यह हुआ कि देशी भाषा परिचारिका की भाँति दबकर और प्रभावित होकर अपनी स्वामिनी भाषा फ़ारसी की सेवा में लगी और उसी की शैली, मुहावरे आदि का अनुकरण करने लगी। लोगों को नई भाषा सीखने का चाव हुआ करता है। इसी कारण उस समय के लोग भी पुरानी प्रथा छोड़ने और नए शब्द और मुहावरे ग्रहण करने लगे। देशी भाषा में, जिसे अब सभ्रांत नागरिक छोड़ने लगे थे, और जो अब गांवों तक सीमित होती जा रही थी, लोगों को अब कोई रस न आता था अतएव

नूतनता के प्रेमियों ने नई भाषा के प्रति ध्यान दिया और उसे बड़े चाव और उत्साह के साथ सीखने लगे। इसी कारण, प्राचीन हिन्दी-कवियों की रचनाओं में फ़ारसी शब्दावली की प्रचुरता आश्चर्यजनक जान पड़ती है, जैसे चंद कवि के 'पृथ्वीराज रासो' को देखिए जो फ़ारसी शब्दों से भरा हुआ है। देशी भाषा की संकुचित परिधि के कारण भी यह आवश्यक हुआ कि नए विचारों को प्रकट करने के लिए नए शब्द ग्रहण किए जायँ। आरंभ में देशी भाषा में ऐसे शब्द बहुतायत से मिलते थे, जो या तो संस्कृत के शब्द थे या उन्हीं से बिगड़ कर दूसरे रूप में ज़बान पर चढ़ गए थे। जब मुसलमान आए तो भाषा में भी एक बड़ी क्रांति उपस्थित हुई। मुसलमान आक्रमणकारी बादशाह बन गए और दिल्ली उनकी राजधानी हुई। अब वह यहां पर बसने के लिए आने लगे न कि जिस प्रकार वह प्रतिवर्ष आते थे और लूट का माल लेकर वापस चले जाते थे।

जब दिल्ली राजधानी बन गई और बादशाह यहाँ अपने दल बल के साथ रहने लगा तो यहाँ के रहने वालों और विदेशी सिपाहियों में मेल-जोल बढ़ने लगा। एक दूसरे की भाषा और विचारों को समझने के लिए आवश्यक हुआ कि एक वर्ग दूसरे वर्ग के शब्द सीखे और उनका अपने ढंग पर उपयोग करे; और प्रकट है कि विजेता का प्रभाव विजित पर अधिक आ करता है। अतएव विजित लोगों की देशी भाषा, अर्थात् हिन्दी पर फ़ारसी का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ने लगा। इसी करण उर्दू फ़ारसी शब्द और प्रयोग बहुतायत से सम्मिलित हो गए। लेकिन हिंदी ने अपना प्रभाव फ़ारसी पर कम डाला, क्योंकि फ़ारसी भाषा-भाषी अपनी भाषा को इस प्रकार के मिश्रण से बचाना चाहते थे। यह परिवर्तन, यद्यपि आरंभ में बहुत अव्यक्त रूप में आया था ज्यों-ज्यों मुसलमानों की जड़ दृढ़ होती गई, और वह इस देश में बसते गए, बराबर बढ़ता रहा, यहाँ तक कि अकबर के समय में एक

हिंदू अर्थ सचिव के आग्रह से ऐसी आज्ञा निकली कि प्रत्येक सरकारी नौकर को फ़ारसी सीखना अनिवार्य है। परिणाम यह हुआ कि फ़ारसी भाषा की जड़ दृढ़ हो गई और उस की प्रतिष्ठा तथा महत्व बढ़ गया। लोग फ़ारसी, अरबी, तुर्की शब्द निस्संकोच हो कर बोलने लगे, क्योंकि वह सुनने में अच्छे जान पड़ते थे और प्रभावशाली थे और उनके बोलने वाले बरबस शिक्षित समझे जाते थे। इस के अतिरिक्त फ़ारसी के ज्ञान के कारण सरकारी पद भी सहज में मिलते और राजदरबार में सम्मान प्राप्त करने का भी यह अच्छा साधना था। ऐसी परिस्थितियों में प्रत्येक भाषा में इसी प्रकार से परिवर्तन होते हैं। जब कि इंग्लिस्तान के प्राचीन निवासियों पर नार्मन लोगों ने विजय प्राप्त की तो ऐंग्लोसैक्सन की भी नार्मन-फ्रेंच के हाथों यही दशा हुई। अतएव जिस प्रकार अंग्रेज़ी भाषा के अंतर्गत दो प्रकार की बोलियां पाई जाती हैं, वही उर्दू के क्षेत्र में भी समझना चाहिए। उर्दू में फ़ारसी शब्दों के बाहुल्य के कई कारण हैं। मुसलमान जब विजेताओं के रूप में इस देश में आए, तो अपने साथ बहुत सी चीज़ों के नाम लाए, जिन के पर्याय संस्कृत या देशी भाषा में नहीं मिल सकते थे। चूंक ऐसे नाम बिना व्याख्या के नहीं स्पष्ट किए जा सकते थे, इस लिए वह जैसे के तैसे भाषा में ग्रहण कर लिए गए। उदाहरण के लिए ऐसे नाम जिनका संबंध भूषा, भोजन, धर्म आदि से है। इसके अतिरिक्त फ़ारसी विजयी जाति की भाषा थी और एक ऐसी भाषा थी जो युद्ध और प्रेम की कथाओं के लिए अत्यंत उपयुक्त थी और जिस में ओज और मिठास भी थी। लोग फ़ारसी शब्दों का प्रयोग करना पसंद करते और उसमें अपनी शान समझते। इन शब्दों के आगे पुराने देशी शब्दों और मुहावरों को पीछे हटना पड़ा। ज़माना उन्हें पसंद नहीं करता था। अंग्रेज़ी भाषा पर भी इसी प्रकार का समय आया है, जब के यूनानी और लातीनी विद्याओं का और ज्ञान का

यूरोप में पुनः संचार हुआ था। उस समय भी मोटे-मोटे पांडित्य प्रदर्शन करने वाले शब्दों के बोलने की परिपाटी चल निकली थी। जैसा भी हो, यहां पर जब विजेताओं और विजितों का मेलजोल बढ़ा तो एक ऐसी मिश्रित भाषा या बोली की आवश्यकता जान पड़ी जो दोनों जातियों को अच्छी प्रकार समझ में आ सके, और इस लिए कि विजित अपने विजेताओं को विशेष रूप से संतुष्ट रखना चाहते थे, उन्होंने विजेताओं की भाषा से बहुत से शब्द ले लिए। स्वामियों ने विजितों की भाषा की ओर अपेक्षाकृत कम ध्यान दिया। पांडित्य प्रदर्शन के लिए भी अरबी फ़ारसी के शब्द बहुतायत से बोले जाने लगे। उर्दू साहित्य का आरंभ कविता से हुआ, और कविता फ़ारसी जाननेवालों के हाथ में मानों एक खिलौना थी, जिसे वह फ़ारसी शब्दों और मुहावरों की भूषा से सजाना चाहते थे। यह लोग हिंदी भाषा बहुत कम जानते थे और संस्कृत से नितांत अनभिज्ञ थे। इसी से यह होनहार बालक अपने वास्तविक माता-पिता से अलग होकर दूसरों की गोद में पला, और उन्होंने इसके साथ निस्संदेह बहुत कुछ किया। उनके लालन-पालन के प्रभाव में रहकर उर्दू का विकास बिल्कुल फ़ारसी के ढंग पर होता रहा। न केवल फ़ारसी शब्दों का एक समूह भाषा में प्रविष्ट हो गया वरन् फ़ारसी प्रयोग भी बहुतायत से उसमें होने लगे। जैसे संज्ञाओं और क्रियाओं के साथ आने वाले विशेषणों और क्रियाविशेषणों का स्थानांतर या "ब" उपसर्ग का अनेक शब्दों के साथ लगना आदि। यह उपयोग देशी व्याकरण के प्रयोगों के विपरीत पड़ते थे। आज भी हमारी साहित्यिक देशी भाषा में इसी प्रकार की फ़ारसी तरकीबें या प्रयोग बहुतायत से मौजूद हैं। यह अवश्य हुआ कि फ़ारसी के प्रभाव से उर्दू एक स्थायी भाषा के रूप में आज हमारे सामने उपस्थित है, लेकिन इसका खेद भी होता है कि मूल भाषा की विशेषताएं, जिनसे उर्दू का आरंभ हुआ था, बहुत कुछ नष्ट हो गईं।

यूरोप की भाषाओं का उर्दू पर प्रभाव

फ़ारसी भाषा और फ़ारसी साहित्य का तो उर्दू पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा ही था लेकिन पुर्तगाली और अंग्रेज़ी का भी कुछ कम प्रभाव नहीं पड़ा। हां, डच और फ्रेंच भाषाओं के प्रभाव या तो मिट गए या हैं भी तो इतने धुँधले कि मालूम नहीं होते। पुर्तगाली और अंग्रेज़ी दोनों ने उर्दू शब्दकोष में पर्याप्त वृद्धि की। १५४० ई० में हिंदुस्तान के प्रसिद्ध बंदरगाहों पर पुर्तगाल निवासी अधिकार किए हुए थे, और पूर्वी प्रदेशों में प्रायः व्यापार उन्हीं के हाथों में था। उनकी आबादियाँ हिंदुस्तान के समुद्र तट पर और देश के भीतर भी थीं। उनका संबंध हिंदुस्तान से अस्थायी न था वरन् वह यहाँ व्यापारियों, शासकों और धर्म प्रचारकों के रूप में बस गए थे। उन्होंने बड़ी उन्नति की थी और सत्रहवीं और अठारहवीं सदी में उनकी भाषा हिंदुस्तान के बड़े भाग की साधारण भाषा हो गई थी, जो केवल हिंदुस्तानियों और यूरोप निवासियों के बीच विचार-विनिमय का माध्यम हो न थी वरन् यूरोप के सौदागर आपस में इसी भाषा का व्यवहार करते थे। इसी में ईसाई पादरी अपने धर्म का प्रचार करते थे। अतएव इसी कारण उसे ऐसे अनेक अवसर मिले कि वह अपना प्रभाव यहां की देशी भाषाओं पर डाल सकी। सबसे अधिक प्रभाव बँगला भाषा पर पड़ा। इसी प्रकार द्राविड़ी भाषाएं जैसे मराठी, आसामी और उड़िया भी उससे बहुत कुछ प्रभावित हुईं। उर्दू पर भी उसके शब्द-कोष का प्रभाव पड़ा। यह प्रभाव उत्तरी हिंदुस्तान में उस समय पड़ रहा था जब कि दखनी भाषा जो पुर्तगाली के प्रभाव से निकट होने के कारण प्रभावित हो चुकी थी और इसी प्रकार अन्य भाषाएँ उर्दू पर अपनी छाप अच्छी तरह डाल रही थी।

पुर्तगाली शब्द देशी भाषाओं में अपने वास्तविक रूप में शेष नहीं रहे, बल्कि जिस बिगड़े हुए रूप में वह हिंदुस्तान में बोले जाते थे और

हिंदुस्तानी भाषाएँ उन्हें स्वीकार कर सकती थीं, उसी रूप में वह अब भी बहुतायत से पाए जाते हैं। पुर्तगाल निवासियों ने केवल अपनी भाषा के शब्दों को हिंदुस्तानी भाषाओं में प्रविष्ट नहीं किया वरन् बहुत से अरबी, फ़ारसी और हिन्दी शब्द भी बहुधा यूरोपीय भाषाओं में पहुँचा दिए। कुछ अरबी और फ़ारसी शब्द पुर्तगाली भाषा द्वारा हमारे यहाँ फिर आए, क्योंकि जब अरबों ने स्पेन और पुर्तगाल पर अधिकार किया था तो उन देशों पर अपना बड़ा प्रभाव डाला था। पुर्तगाली शब्द हमारी भाषा में बहुत से बोले जा रहे हैं। उदाहरण के लिए मेवा और खाने की वस्तुओं के वर्ग में अचार, अनन्नास, अफोस (एक प्रकार का आम), बिस्कुट, काजू, पंफ्रे (बंबई में मिलने वाली एक मछली), पपैया तंबाकू, तुरंज, चाय, सागू, गोभी आदि। सजावट के सामान, बाजा और हथियारों के वर्ग में आलपीन, अलमारी, अरगन, बजरा (नाव), बालटी, बोतल, पीपा, पिस्तौल, परेग (छोटी कील), चाबी, साबुन, कोच, कप्तान, कारबीन, कारतूस, मेज़, तौलिया, गारद आदि। धार्मिक शब्द जैसे पादरी, गिरजा, कुर्स आदि। पहनने के वस्त्र जैसे साया, कमीज, काज, स्पैट आदि। भिन्न शब्द जैसे इंग्रज, आया, बंबा, पागर (वेतन), पावरोटी, छाप, नीलाम, मिस्त्री, कमरा, रुपया।

पुर्तगाल निवासियों ने ही सब से प्रथम यूरोप की बहुत सी वस्तुओं का प्रचार हिंदुस्तान में किया, अतएव उनके नाम उसी रूप में प्रचलित हो गए जिस रूप में कि उनके यहाँ बोले जाते थे। मिर्ज़ा ग़ालिब ने पुर्तगाली शराब का बहुधा जिक्र किया है। अंग्रेजी भाषा एक जीवित और शासकों की भाषा है। उसने अपना बड़ा प्रभाव डाला है और डालती रहेगी। अंग्रेज़ी ज्ञान और साहित्य ने उर्दू गद्य और पद्य को बहुत लाभ पहुँचाया जिसकी चर्चा विस्तार से आगे किसी अध्याय में की जायगी। लेकिन इतना इस अवसर पर अवश्य बता देना चाहिए कि अंग्रेज़ी भाषा ने वह शब्द उर्दू को दिए जिनके स्थान पर कोई दूसरे शब्द न थे

और वह शब्द अब इस भाषा के अंग बन गए हैं। अनुवाद का भी यह परिणाम हुआ कि बहुधा अंग्रेज़ी शब्द उर्दू में प्रविष्ट हो गए। उर्दू में अंग्रेज़ी शब्द बहुतायत से लेने के विषय में बहुत सावधानी करनी चाहिए, इसी प्रकार वह अंग्रेज़ी शब्द जो कि सुष्ठ उर्दू भाषा में घुल मिल गए हैं और मान्य हो चुके हैं उन्हें भाषा से निकालने का प्रयत्न भी भयावह है। उर्दू को संपन्न होना चाहिए और प्रत्येक प्रकार के शब्द जो उसके सौष्ठव से मेल खाते हों उसमें अवश्य सम्मिलित होने चाहिए वह चाहे अंग्रेज़ी के हों चाहे फ़ारसी या संस्कृत के। केवल यही एक ढंग उर्दू भाषा की पुष्टि और उन्नति का है, और इसी प्रकार वह एक उच्च-कोटि की भाषा और हिंदुस्तान की आम भाषा बन सकेगी।

गद्य और पद्य की भाषा।

प्रत्येक भाषा में गद्य और पद्य की शब्दावली में अंतर होता है। रचना में ओज और गंभीरता उत्पन्न करने के लिए और इस विचार से कि गद्य और पद्य का भेद स्पष्ट हो पद्य की शब्दावली गद्य की शब्दावली की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली होती है। इसी कारण साधारण और सीधे-सादे शब्द और बोलचाल के जो प्रयोग गद्य में प्रायः पाए जाते हैं पद्य के लिए अनुपयुक्त समझे जाते हैं। यही कारण था कि फ़ारसी के मुहावरे उर्दू कविता में बहुतायत से प्रयुक्त होने लगे। यदि उर्दू गद्य के प्रारंभिक इतिहास पर दृष्टि डाली जाय तो जान पड़ेगा कि आरंभ में एक दूसरे से तुक खाने वाले वाक्य बहुत पसंद किये जाते थे। इस प्रकार के गद्य में बड़ा बनावटीपन होता था। ज़हूरी और बेदिल के अलंकृत गद्यशैली का अनुकरण विशेषता समझी जाती थी। हमारी पुरानी शैली की समता एलिज़बेथ कालीन अलंकृत और कृत्रिम गद्य से की जा सकती है।

मिर्ज़ा ग़ालिब, बल्कि सर सैयद अहमद खां के समय से एक नया युग आरंभ हुआ जबकि पश्चिमी शिक्षा के प्रभाव से वह पुराना रङ्ग बदल

गया और तुकपूर्ण तथा फ़ारसी अलंकरणों से भरी भाषा की अपेक्षा सहज सीधी भाषा पसन्द की जाने लगी। इस नए काल में गद्य शैली का पुराना ढङ्ग टिक भी नहीं सकता था क्योंकि व्यावहारिक क्षेत्र में सीधे सादे स्पष्ट और ज़ोरदार शब्दों की आवश्यकता है। अब भी फ़ारसी शब्दों का बाहुल्य है लेकिन उससे रचना की विशिष्टता में कोई अंतर नहीं आता और न किसी प्रकार की कृत्रिमता उत्पन्न होती है। हिन्दी मुहावरों की सुन्दरताके साथ प्रयोग होता है और पेचदार प्रयोग से बचते हैं, लेकिन पद्य के उद्यान को अब भी फ़ारसी स्रोत के जल से सींचते हैं और उसका उपवन अब भी उन्हीं अलंकरणों से सुशोभित होता है। हिन्दी शब्द और मुहावरे उपयोग में अवश्य आते हैं, लेकिन कमी के साथ और केवल उस समय जब वह फ़ारसी शब्दों के साथ मेल खाते हैं।

गद्य की भाँति पद्य में भी कुछ परिवर्तन हो चला है और वर्तमान प्रवृत्ति पुराने शब्दाडंबर और कृत्रिमता के स्थान पर सादगी और स्वभावोक्ति पसन्द करने की है। लेकिन इस के होते हुए भी बहुधा साहित्यिक अब भी फ़ारसी शब्दावली और प्रयोगों पर मोहित हैं। लेकिन इन्हें अतिशयता के साथ और उचित अनुचित सभी अवसरों पर उपयोग में लाना ठीक नहीं, जहाँ तक हो इस प्रकार के उपयोगों का कम करना ही ठीक है। हमारे मत में गद्य और पद्य की शब्दावली में और शैली में कोई सैद्धांतिक भेद नहीं है।

साहित्यिक उर्दू

बोल-चाल की भाषा लिखने की भाषा से बिल्कुल अलग है। सादे और नित्य व्यवहार में आने वाले वाक्य, जो प्रत्येक समय ज़बान पर चढ़े होते हैं, लिखते समय फ़ारसी शब्दों से बदल जाते हैं, जिसका कारण उनका नयापन, ओज और महत्व है। आरंभ में निस्संदेह भाषा का क्षेत्र बड़ा संकुचित था और शब्द-कोष थोड़ा था और वह एक स्वतंत्र भाषा

कहलाने की अधिकारिणी न थी, क्योंकि उस समय तक इसमें भोंडापन था। न उस पर चमक आई थी और न उसमें इतनी क्षमता ही थी कि उसके द्वारा सूक्ष्म और कोमल भावों को प्रकट किया जा सके या विभिन्न भावों को व्यक्त किया जा सके। उसमें एक प्रकार का लचीलापन और शब्दों और प्रयोगों को ग्रहण करने की क्षमता अवश्य थी जिसका परिणाम यह हुआ कि जो शब्द और प्रयोग उसे मिलते गए वह सब उसमें सम्मिलित होते गए। धीरे-धीरे भाषा में पुष्टता और सफ़ाई आती गई। पहले युग के कवि ऐसी भाषा में लिखते थे जिसमें आधी उर्दू और आधी फ़ारसी होती थी। क्रमशः उर्दू का अंश विशेषता प्राप्त करता गया और इसने और अंशों को अपने में समाविष्ट कर लिया। फ़ारसी शब्द और अपरिचित फ़ारसी प्रयोग इस प्रकार उर्दू में मिल गए कि वह अब हमारी भाषा का अंश बन गए, और उन्हें अब हम निकाल नहीं सकते। कुछ सज्जन जो इस युग में संस्कृत के प्रेमी हैं वह फ़ारसी शब्दों और प्रयोगों को भाषा से निकालने के यत्न में हैं। हमारे मत में यह एक व्यर्थ प्रयास है क्योंकि यही शब्दों का बाहुल्य जिस पर कि उर्दू को गर्व है, उसे इतना लोचदार और दृढ़ बनाए हुए है कि प्रत्येक साहित्यिक कार्य उसके द्वारा हो सकता है।

उर्दू भाषा के पुराने नाम

पुराने अंग्रेज़ इतिहासकार जिन्होंने हिन्दुस्तान का वृत्तांत लिखा है, उर्दू को "इन्दोस्तानी" शब्द से संकेत करते थे। अठारहवीं सदी के आरम्भ के लेखकों ने लातीनी भाषा में उसे "लैंग्वा इंदोस्तानिक" लिखा है। इससे भी पहले के अंग्रेज़ इतिहासकार इसको "मूर्स" कहते थे। जान गिलक्राइस्ट ने सन् १८८७ ई० में सबसे पहले "हिन्दोस्तानी" शब्द उर्दू के लिये व्यवहार किया और तभी से यह शब्द प्रचलित हो गया—यद्यपि इसका पता कुछ पुस्तकों में सन् १६१६ ई० तक मिलता

है जबकि मिस्टर यूल ने सबसे पहले इसका व्यवहार किया था। शाह-जहां ने इसे "उर्दू-ए-मुअल्ला" का प्रतिष्ठित नाम दिया! जबकि भाषा साहित्य के कार्यों के लिये परिपक्व हो चुकी थी 'रेख़्ता" शब्द (अर्थात् वह भाषा जिसमें देशी शब्दों के साथ फ़ारसी शब्द भी बहुतायत से प्रयुक्त हुए हों) बाद के लेखकों ने इस उद्देश्य से प्रयोग किया कि साहित्यिक भाषा और बोल-चाल की भाषा में भेद किया जा सके, और "उर्दू" शब्द का (जिससे कि बाज़ारू और अशिक्षित फ़ौजिओं की भाषा का आभास होता था) उन्होंने प्रयोग करना भी पसंद न किया। रेख़्ता शब्द भाषा के लिए अब बहुत कम व्यवहार में आता है। प्रारंभ में पद्य के लिए यही शब्द व्यवहृत किया जाता था, इस कारण कि गद्य का चलन उस समय बहुत कम था। मीर और मसहफ़ी तक के समय में "उर्दू" को फ़ारसी के प्रत्यक्ष "हिंदी" कहते थे, जिससे देश की भाषा का तात्पर्य था।

उर्दू लिपि उर्दू की वर्ण-माला वही है जो फ़ारसी और अरबी की। हाँ कुछ विशिष्ट अक्षर, जिनसे हिंदुस्तानी भाषा की विशेष ध्वनियाँ उच्चरित होती हैं, और जो फ़ारसी और अरबी में नहीं पाई जातीं बढ़ा दिए गए हैं। जैसे ट, ठ, ड, ढ, ड़, ढ़, इन अक्षरों के लिखने के ढंग यह है कि ت, د, ر पर या तो छोटा सा (ط) चिन्ह बना देते हैं या चार बिंदु (::) दे देते हैं।

उर्दू छंद उर्दू का छंदशास्त्र फ़ारसी और अरबी छंदशास्त्र का अनुगामी है। अँग्रेज़ी में जिसे ऐक्सेंट (स्वराघात) कहते हैं वह उर्दू में नहीं है। यह अवश्यक है कि प्राचीन यूनानी और रूसी कविता की भाँति स्वारों को यथावश्यक रूप में खींच कर पढ़ा जाता है। उर्दू कविता में रदीफ़ और क़ाफ़िया (तुक) को बड़ा महत्व है। प्रचलित छंद १९ हैं, जिनमें से कुछ अरबी के विशेष छंद हैं

और कुछ में अब इतने परिवर्तन हो गए हैं कि उनका मूल रूप पहचाना नहीं जाता। छंद शास्त्रियों द्वारा निश्चित गणों की पुनरुक्ति से या विभिन्न गणों के मिश्रण से छंद बनते हैं। तक़तीअ के विशेष नियम हैं। लिखे हुए अक्षरों के साथ उन अक्षरों की भी गणना होती है जिनका उच्चारण होता है यद्यपि वह लिखे नहीं जाते। वह अक्षर जो पढ़ने में नहीं आते वरन् केवल लिखे जाते हैं उनकी गणना तक़तीअ में नहीं होती। अलिफ़ ममदूद जब किसी शब्द के आरंभ में आता है तो उसकी गिनती दो अक्षरों की होती है और इज़ाफ़त जो खींच कर पढ़ी जाय एक अक्षर के बराबर समझी जाती है। उर्दू में गण को रुक्न कहते हैं, जिसका शाब्दिक अर्थ है स्तंभ जिस पर इमारत या खेमा टिकता है। पूरे छंद को 'बैत' और आधे को 'मिसरा' कहते हैं। मिसरा का शाब्दिक अर्थ है 'द्वार का एक पट'।

पद्य के वह विविध रूप जो फ़ारसी में स्वीकृत और वहाँ से उर्दू में लिए गए हैं निम्न हैं:—

ग़ज़ल और क़सीदा यह पद्य के सबसे प्रसिद्ध प्रकार हैं। इन दोनों में भेद केवल विषय और लम्बाई का होता है। छंद रदीफ़ और क़ाफ़िया का प्रतिबंध दोनों में समान है। ग़ज़ल का रंग प्रायः प्रेम संबंधी या सूफ़ियाना होता है और छंदों की संख्या साधारण तथा १० से १२ तक यद्यपि इस प्रतिबंध का पालन बहुत कम होता है। क़सीदा में साधारणतः किसी की प्रशंसा या अप्रशंसा होती है और उपदेशात्मक तथा दार्शनिक रंग का भी समावेश रहता है। छंदों की संख्या कम से कम २५ और अधिक से अधिक ७० तक होनी चाहिए लेकिन इस प्रतिबंध का पालन भी नहीं होता।

क़ता का शाब्दिक अर्थ टुकड़ा है। इसे ग़ज़ल या कसीदे का एक हिस्सा समझना चाहिए। छंद संख्या कम से कम दो होनी चाहिए अधिक से अधिक कितनी हो इसकी कोई सीमा नहीं है। पहले दो मिसरों का तुक

मिलना आवश्यक नहीं, लेकिन शेरों में क़ाफ़िया का पालन होना चाहिए। क़ितों में बहुधा उपदेशात्मक बातें रहती हैं और वह स्वतः पूर्ण होते हैं।

रुबाई—इसमें दो शेर या बैत होते हैं। इसी कारण इसे दो-बैती भी कहते हैं। पहले, दूसरे और चौथे मिसरे एक ही तुक में होते हैं, और अधिकांश एक ही छंद में रुबाई कही जाती है जिसे हज़ाज कहते हैं। विषय का रुबाइयों में प्रतिबंध नहीं। लेकिन चौथा मिसरा प्रायः विषय को स्पष्ट करने वाला सारपूर्ण और विशेष चमत्कार वाला होता है।

मसनवी—यह युद्ध और प्रेम के आख्यानों के लिए विशिष्ट है। इसमें हर शेर के दोनों तुक मिलने चाहिए रदीफ़ हो या न हो। छंद संख्या निर्धारित नहीं है। मसनवी के लिए साधारणतः ५ विविध छंद निर्धारित हैं; कुछ के अनुसार सात हैं। मुस्तज़ाद उसको कहते हैं कि जब हर मिसरे के अंत में कुछ अतिरिक्त शब्द बढ़ाए जायँ। यह अतिरिक्त शब्द उसी छंद में होते हैं जो मुख्य मिसरे के दो अंतिम रुकनों का होता है। लेकिन इनका तुक कहीं अलग भी होता है। तर्जीअ-बंद और तरकीब बंद यह भी पद्य के भेद हैं। इन में बहुत से बंद होते हैं और प्रत्येक बंद में बराबर या कभी-कभी संख्या में चरण होते हैं, जिनके तुक मिलते हैं। हर बंद के अंत में एक बैत होता है, जो ऊपर के बंद को नीचे के बंद से पृथक् करता है, और तुक में भी उनसे भिन्न होता है। यदि प्रत्येक बंद के बाद एक ही बैत बारबार आए तो ऐसे पद्य को तर्जीअ बंद कहते हैं, और यदि बैत बदलता जाय तो तरकीब बंद कहलाता है। इन दोनों बंदों में समस्त शेर एक ही छंद में होते है।

मुरब्बा चार चरणों या मिसरों के पद्य को कहते है जिसमें सब मिसरे समान तुक वाले हों। मुख़म्मस में चार मिसरों के स्थान पर पांच

मिसरे होते हैं और पांचवें मिसर का तुक बदला हुआ होता है। शेष रूप मुरब्बा का सा है। मुनद्दस का रूप भी प्रायः ऐसी ही है। भेद इतना है कि पहले चार मिसरे या दो बैत तो एक तुक के और शेष दो मिसरे पृथक् होते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य भेद—मुसब्बा आदि—भी इसी प्रकार के होते हैं।

वासोख्त—पद्य का वह प्रकार है जिसमें प्रेमी अपने प्रिय की निर्दयता, बेवफ़ाई, स्पर्द्धी के साथ प्रेम तथा अपने विरह आदि का उपालंभ करता है। मानो वह अपने प्रिय को धमकाता हो कि यदि उसका व्यवहार इसी प्रकार का रहा तो प्रेमी उससे अलग होने पर विवश होगा।

तारीख़- यह पद्य का वह प्रकार है जिसमें किसी घटना का काल-क्रम पद्य के अंतर्गत आए गए अक्षरों के क्रम से निकाला जाता है।

फ़र्द—किसी पूर्ण या अपूर्ण ग़ज़ल के एक शेर को कहते हैं जो उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। क़सीदा और ग़ज़ल का पहला शेर मतला और अंतिम शेर मक़ता कहलाता है जिसमें कवि अपना तख़ल्लुस या उपनाम देता है। पद्य की पुस्तकों में प्रायः पहले 'हम्द व नात' (ईश्वर तथा रसूल की प्रशंसा), फिर बादशाह या शासक की प्रशंसा, उसके बाद रचना का प्रयोजन और कुछ आत्म-प्रशंसा संबंधी पद्य होते हैं। कविता संग्रह को मजमूआ कहते हैं, जिसमें क्रम प्रायः इस प्रकार होता है—क़सीदे, ग़ज़लें, क़िते, रुबाइयाँ, मसनवियाँ आदि।

गद्य गद्य के तीन प्रकार हैं:—(१) आरी, जो नितांत सहज और सीधा सादा होता है। (२) मुरज़्ज़ जिसमें छंद होता है लेकिन तुक का अभाव रहता है और (३) मुसज्जा जिसमें छंद नहीं होता लेकिन तुक का प्रतिबंध होता है। मुसज्जा गद्य के भी तीन भेद हैं:—(१) मुतावजी (२) मुतरफ़ और (३) मुतवाज़न।

मुतवाजी गद्य में दो वाक्यों के अंतिम शब्द समान गण और समान तुक के होने चाहिए, मुतरफ़ में अंतिम शब्द के समान क़ाफिया तथा तुकवाला होना आवश्यक नहीं मुतवाज़न में समान गण होते हैं लेकिन समान क़ाफिया वाले या तुकवाले होना आवश्यक नहीं। यह सभी प्रकार अब व्यवहार मे उठ गये हैं, क्योंकि उन्नीसवीं सदी के अंत में इस प्रकार के बनावटी शब्द विन्यास और तुकबंदी का अत हो गया है।

"तज़किरा" में कवियों का जीवन चरित्र संक्षेप में होता है वर्णित और "गुलदस्ता" उनकी रचनाओं के संकलन को कहते हैं।

अध्याय २

उर्दू साहित्य पर एक व्यापक दृष्टि

कविता गद्य से पहले क्यों?—उर्दू साहित्य में विशेष रूप से।

संसार के समस्त साहित्यों का आरंभ कविता से होता है। कविता में एक जीवनी शक्ति है, जिसका अस्तित्व गद्य से बहुत पूर्व हुआ जान पड़ता है। भावों का छंदोबद्ध उतार मनुष्य के लिए एक स्वाभाविक वस्तु है। मनुष्य के हृदय में पहले भावनाएँ उपजती हैं, उसके बाद वह मस्तिष्क का उपयोग करता है, और विचार करता है, इसी कारण सभ्यता के विकास में भावनाओं का उद्धार गद्य से पहले आता है, जो कि तर्क का परिणाम है। सबसे पूर्व, जब कि लेखन कला की सृष्टि नहीं हुई थी, पद्य ही अपने विशेष प्रभाव के कारण याद किए जा सकते थे और स्मृति की सहायता से समुदाय विशेष में सुनाने योग्य हो सकते थे। यद्यपि गद्य बातचीत का सहज स्वाभाविक माध्यम प्रतीत होता है, लेकिन विचार करने पर, और अनुभव से जाना जाता है कि वह केवल बहुत अनुभव और समय बीतने के अनंतर विचारों को बद्ध करने योग्य समझा गया।

उर्दू साहित्य, जिसने अपने साहित्यिक रूपों को अधिकांश फ़ारसी आधार पर ग्रहण किया, गद्य की अपेक्षा पद्य का अधिक सहज में अनुकरण कर सका। गद्य के रूपों को एक भाषा से दूसरी भाषा में ग्रहण करना अपेक्षाकृत कठिन होता है। उर्दू भाषा को अपनी प्रारंभिक अवस्था में, और उर्दू साहित्य को अपने बाल्यकाल में एक

ऐसा भंडार प्राप्त हो गया जिसके कारण यह यकायक प्रस्फुटित हो। गए विचारों को प्रकट करने के लिए गद्य का माध्यम प्रायः पद्य की अपेक्षा हेय समझा जाता है, अतएव प्रारंभिक उर्दू लेखक भी इस विचार से प्रभावित रहे।

सबसे प्रथम उर्दू कवि—अमीर ख़ुसरो

उर्दू भाषा के विकास का प्रारंभिककाल इतना धुँधला दृष्टिगोचर होता है कि उसकी रूप रेखा स्पष्ट नहीं, लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस भाषा का सबसे पहला कवि जो इस युग में स्पष्ट रूप से हमारे सामने आता है वह दिल्ली का अमीर ख़ुसरो है। ख़ुसरो की प्रतिष्ठा एक फ़ारसी कवि के रूप में तो प्रमुख है ही, इसी कविता के आधार पर यह "तूति-ए-हिन्द" कहलाए हैं। उन्होंने सबसे पहले उर्दू शब्दों का साहित्य में प्रयोग किया और सबसे पहले उर्दू में कविता की। उर्दू की सबसे पहली ग़ज़ल भी उन्हीं के नाम से सम्बद्ध है, लेकिन उसका रूप इस प्रकार है कि एक मिसरा (चरण) फ़ारसी और दूसरा उर्दू है, और छंद फ़ारसी का ही है। इसके अतिरिक्त प्रायः पहेलियाँ, मुकरियाँ, अनमिलियाँ, दो सख़ुने, दोहरे आदि, जो आज तक प्रसिद्ध हैं, उनके नाम से संबद्ध हैं। कुछ छंद ऐसे भी हैं जिनमें ठेठ हिन्दी शब्द जो कठिनाई से उर्दू कहे जा सकते हैं, संस्कृत वृत्तों में बँधे हैं। यद्यपि फ़ारसी शब्द भी कहीं-कहीं व्यवहृत किये गए हैं। हज़रत अमीर ख़ुसरो तेरहवीं सदी ईसवी में, संयुक्त-प्रांत के एटा ज़िले में उत्पन्न हुये थे और दिल्ली के विभिन्न शाहों—जैसे ग़यासुद्दीन बलबन, मइज़ाउद्दीन कैक़ुबाद आदि के दरबारों में विभिन्न पदों पर आसीन रह चुके थे। वह प्रसिद्ध सूफ़ी और पीर निज़ामुद्दीन औलिया के प्रिय शिष्य रहे, और उनके प्रति इन्हें इतनी आस्था और श्रद्धा थी कि जब पीर की मृत्यु का समाचार सुना तो उसी शोक में कुछ दिनों के बाद १३२५ ई० में इनका भी स्वर्गवास हो गया। बलबन

इनका बड़ा आदर करता था और इनकी रचनाओं का प्रेमी था। अमीर ख़ुसरो सङ्गीत के भी उस्ताद थे। उन्होंने सबसे पहले फ़ारसी वृत्तों का उर्दू में प्रयोग किया और उनकी पुस्तक ख़ालिकबारी (जिसका कि नाम करण इस कारण हुआ कि पुस्तक इन्हीं दो शब्दों से आरंभ होती है) जो कि अरबी और फ़ारसी शब्दों के उर्दू पर्याय का कोष है अब तक प्रसिद्ध है, और उसे बच्चे बड़े चाव से पढ़ते हैं। अमीर ख़ुसरो की प्रसिद्धि उर्दू भाषा के कवि और साहित्यिक के रूप में नहीं है वरन् वह उसके एक प्रकार से स्रष्टा हैं और इसलिये उनका महत्व ऐतिहासिक है। उनके समय में भाषा में प्रवाह उत्पन्न हो चला था, लेकिन अभी परिपक्वता न आई थी, और भाषा का शब्दकोष भी सीमित था। सारांश यह कि उनका समय प्रारंभिक युग है और यद्यपि उस समय तक भाषा में कोई उन्नति नहीं हुई लेकिन भावी उन्नति का सूत्रपात इसी समय में हो गया था।

अमीर ख़ुसरो के समय से लेकर दकन के कवियों के समय तक बड़ा अन्तर है, लेकिन भाषा ने इस काल में—जो लगभग तीन सदियों का लम्बा—काल है, कोई विशेष उन्नति न की। फिर भी यही काल उसके वास्तविक विकास और प्रस्फुटन का और दृढ़ता प्राप्त करने का काल कहा जायगा। भाषा अब तक अव्यवस्थित अवस्था में थी और उसे शक्ति, लोच, और विस्तार की बड़ी आवश्यकता थी। सबसे बड़ी बात यह थी कि उच्च कोटि के साहित्य को माध्यम बनने के लिये इसके शब्द कोष में बहुत वृद्धि वांछनीय थी। इसीलिये उपयुक्त फ़ारसी शब्दों को उसने बड़े चाव से अपनाया। अतएव मलिक मुहम्मद जायसी (सन् १५४०) की 'पदमावत' जो फ़ारसी लिपि में लिखी गई थी, कबीर (सन् १४४०-१५१८ ई०) के भजन और बाबा तुलसीदास (१५५०-१६२४ ई०) की रचनाओं में ऐसे शब्दों का अच्छा परिचय

उर्दू भाषा का विकास

शाही दरबार में कवियों का बड़ा आदर किया जाता था। इस काल की प्रसिद्ध रचनाएँ मीरहसन और ख़्वाजा मीर दर्द के भाई मीर असर की मसनवियां हैं, विशेष कर मीरहसन की प्रसिद्ध मसनवी 'सहरुलबयात' जिसके, प्रवाह प्रसाद गुण, मिठास और सरसता अद्वितीय हैं।

इस काल का आरंभ शाह नसीर, ज़ौक़, ग़ालिब, मौमिन और ज़फ़र से होता है। इस में वह रहे सहे हिंदी शब्द भी जो पुराने समय से शेष रह गए थे निकल गए और फ़ारसीपन में वृद्धि हुई। ग़ालिब और मौमिन फ़ारसी में भी ऊँचे दर्जे का कविता करते थे। अतएव उनकी कुछ रचनाएं इस भाषा में प्राप्त होती हैं। कदाचित् यही कारण है कि इस युग में भाषा में फ़ारसी शब्दों को भरमार हो गई, जिसका परिणाम अच्छा नहीं हुआ। शाह-नसीर को पिछले युग (मसहफ़ी और इंशा) और इस युग (ज़ौक़ और ग़ालिब) के बीच की कड़ी समझना चाहिए। यही समय नज़ीर अकबराबादी का भी है, जिनका रंग सबसे अलग है, और उर्दू साहित्य में एक विशिष्ट और प्रधान रंग है। ग़ालिब और मौमिन के यहां हमको उन कठिन और क्लिष्ट फ़ारसी प्रयोगों तथा मुहावरों का आरंभ मिलता है जो उस्तादों की लेखनी से तो बुरे नहीं मालूम पड़ते किन्तु साधारण लोगों के हाथ में वह बिल्कुल बिगड़ जाते हैं। अच्छा हुआ कि इस प्रकार की भाषा जिस पर फ़ारसी का इतना रंग चढ़ा था, अधिक प्रचलित न हुई। नहीं तो उर्दू और फ़ारसी में भेद ही क्या रह जाता। इसी फ़ारसीपन की प्रधानता के कारण मौमिन और ग़ालिब की रचनाएं प्रायः समझ में नहीं आतीं। ज़ौक़ यद्यपि कविता की दृष्टि से, ग़ालिब से नीचे रहते हैं, लेकिन भाषा पर उनका पूरा अधिकार है और मुहावरों तथा उपमाओं में तो वह अद्वितीय हैं। उनकी रचनाएँ बहुत स्पष्ट और सरस होती हैं। ज़फ़र की कुछ अपनी

ग़ालिब और ज़ौक़ का समय और उसकी विशेषताएँ

विशेषताएं हैं वह ग़ालिब और ज़ौक़ के समकक्ष नहीं, वरन् उनसे परामर्श किया करते थे। ज़फ़र, और ज़ौक़ की रचनाओं में बहुत साम्य है, जिससे कुछ लोगों को संदेह होता है कि यह ज़फ़र की रचना ही नहीं बल्कि उनके उस्ताद, ज़ौक का कहा हुआ है। इस काल में ग़ज़ल और क़सीदे में बड़ी उन्नति हुई। अतएव ज़ौक और ग़ालिब का ग़ज़लें और क़सीदे उर्दू कविता में अपना जवाब नहीं रखते। कठिन वृत्तों और नए नए और दुरूह छंदों का व्यवहार हुआ। कवि अपना कौशल दिखाने के लिए कठिन क़ाफ़िए और रदीफ़ बांधते और असाधारण छंदों में रचनाएं करते और एक दूसरे से आगे बढ़ जाने का प्रयत्न करते थे। लेकिन इस प्रकार की रचनाएँ वस्तुतः कवित्व गुण से शून्य होती थीं। सारांश यह कि इस काल में हिंदी शब्द भाषा से प्रायः निकल गए। फ़ारसी प्रयोग बहुतायत से आ गए, विचारों में मौलिकता और विषय में नई योजनाएं सामने आईं। इसका सर्वश्रेष्ट उदाहरण ग़ालिब की रचनाएँ हैं।

लखनऊ के कवियों का नया-युग और उसकी विशेषताएँ। नासिख और आतश का समय उनकी भाषा के प्रति सेवाएँ

नासिख और आतश के समय से लखनऊ में एक नया युग आरंभ होता है। दिल्ली की जब अवनति हुई तो वहां के बहुत से गुणियों ने लखनऊ की ओर मुख किया और यहां आकर शरण ली। दिल्ली से आई हुई ज्योति से लखनऊ की शायरी का दीपक जला, और वहाँ भी बहुतायत से कवि उत्पन्न होने लगे। नासिख और आतश का संबंध बिल्कुल लखनऊ से था। वहां के शाही दरबार में कविता का इतना आदर हुआ कि इससे पूर्व कभी न हुआ था। लोग कविता के पीछे दीवाने हो रहे थे। मुशायरे घर घर हुआ करते थे। गुणज्ञों की प्रशंसा कवियों में उत्साह तथा उमंग उत्पन्न करती। मुशायरे प्रतिमास, प्रतिसप्ताह क्या

प्रायः प्रतिदिन हुआ करते थे। इसी अभ्यास ने कविता को उत्कृष्टता की चरम सीमा तक पहुँचा दिया, और उसमें तरह तरह की नवीनताएं और सरसताएं उत्पन्न कीं। कविता के विविध अंगों पर कवियों को अधिकार प्राप्त हो गया। कविता के साथ भाषा भी परिमार्जित होती गई, और उन्नति करती गई। जो हिन्दी शब्द पहले की काट-छाँट से बच गए थे वह भी अब निकल गए और उनका स्थान फ़ारसी और अरबी शब्दों ने लिया। इसी प्रकार पुराने प्रयोग भी जो ज़बान पर चढ़े थे छोड़ दिए गए।

नासिख़ को यह गर्व प्राप्त है कि भाषा को अंतिम रूप देने में उनका पूरा हाथ था। वास्तव में उन्हें वर्जित प्रयोगों का 'नासिख' (रद्द करने) वाला कहना उचित है। उनके समय से शायरी का एक नया रंग आरंभ हुआ उनके द्वारा प्रचारित शैली की कविताओं में अलंकरण बाहुल्य, अतिशयोक्ति, उपमाओं और रूपकों की कृत्रिमता और भावों मे अस्वाभाविकता लक्षित होती है। फिर भी इन रचनाओं में चातुरी है, प्रवाह है और यह लोगों को बहुत रूची। नासिख़ के अतिरिक्त उनके चेले बह्र, वजीर, सबा, सेहर, रश्क आदि अपने समय के उस्ताद माने जाते थे

यही बराबर लोक प्रिय रहे। अंततः कविता का यह रंग फिर बदला और उसमें सरलता, स्वभाव गुण और प्रकृति चित्रण का समावेश हुआ।

नासिख़ ही के समकालीन आतश भी थे, जिनका रंग बिल्कुल अलग था। वह ग़ज़ल के माने हुये उस्ताद हैं। यद्यपि अपनी शिक्षा सम्बन्धी योग्यता में वह नासिख़ के बराबर न थे किन्तु उनकी काव्य प्रतिभा नासिख़ से उच्चतर थी, उनकी रचनाएँ नासिख़ की रचनाओं की अपेक्षा अधिक सरस और प्रभावोत्पादक हैं। वह बहुत कुछ पुराने कवियों की परंपरा में हैं, और उनकी **शैली** सरल, शुद्ध, ओज़पूर्ण

और करुणा में डूबी हुई है। विद्वान वह नासिख़ की अपेक्षा भले ही कम रहे हों, लेकिन कदाचित् पांडित्य की कमी ही उनमें विशेष सरसता और प्रभाव का कारण हुई। भाषा के परिमार्जन में उनका भी बहुत बड़ा हाथ है, लेकिन वास्तविक बात यह है कि इस विषय में हमको नासिख़ का अधिकतर कृतज्ञ होना चाहिये। इन दो साहित्यिक महारथियों की तथा उनके चेलों की प्रतिस्पर्द्धा के कारण उर्दू कविता का बड़ा हित हुआ और यह स्पर्द्धा उसके विकास की हेतु बनी।

मर्सिये और उनका भाषा पर आभार

मर्सिया कविता का एक प्राचीन अंग है। उर्दू मर्सिया गोई को पुराने कवितों ने विशेष कृपा दृष्टि से नहीं देखा इस कारण वह एक लम्बे समय तक दबी रही। यहाँ तक कि मीर ख़लीक़, और उनके योग्य पुत्र अनीस और अनीस के समकालीन दबीर के समय में वह पुनरुज्जीवित हुई, और उनके बाद से तो मर्सिया लिखने वाले बहुत से उत्पन्न होने लगे। मर्सिया बहुत पुरानी चीज़ है। अरबों में यह पहले से मौजूद था। वहाँ से यह फारस वालों के यहां आई, और फ़ारसी से उर्दू में। यह प्रचलित हुई। दकन के पुराने उर्दू कवियों ने भी मर्सिये कहे, लेकिन उनकी भाषा कच्ची और प्रारंभिक अवस्था में थी। मर्सिया की वास्तविक उन्नति लखनऊ में हुई जहां उसमें नए प्राण फूंके गए। लखनऊ के बहुत से अमीर और रईस शिया मतावलम्बी थे। जो कर्बला के शहीदों के कष्टों पर दुःख प्रकट करना अपना धार्मिक कर्तव्य समझते थे। मातम की अवधि मुहर्रम के अवसर पर अब १० दिन न रहकर ४० दिन होगई थी और इस बीच सारा लखनऊ मातम का चित्र बन जाता। शिया लोग अपने दुःखों और उद्वेगों का उद्धार प्रभावशाली और उच्च कक्षमर्सिलों द्वारा करते थे। अतएव मर्सियागोई की कला ने जैसी उन्नति इस बीच में की वैसी उन्नति कभी पहले न की थी।। स्वयं नवाब-बादशाह मर्सियों की रचना

करते और उन्हें रोती-पीटती और मातम करती हुई जनता के सामने सुनाते थे। अनीस और दबीर इन मर्सिया कहने वालों में सबसे चमकीले सितारों की भाँति हैं, जिनकी विस्तृत रचनाएँ ओज और वास्तविक कवित्व गुण से ओत-प्रोत हैं। इन मर्सियों ने उर्दू-कविता की प्रतिष्ठा पुनःस्थापित की। इन रचनाओं में नैतिक शिक्षा कूट-कूट कर भरी है। नासिख और उनके समय के कवियों की अतिशयोक्ति, कृत्रिमता और अलंकरण से रहित, इन रचनाओं में ओज है, स्वाभाविकता है और प्रसाद गुण है; और मानवी भावनाओं का प्रभावशाली चित्रण है। सच बात तो यह है कि मर्सिया-लेखकों ने उर्दू कविता में एक नया युग उपस्थित कर दिया।

इन्होंने उर्दू कविता में एक नया उषाकाल दिखलाया। नज़ीर और मर्सिया कहने वाले कवियों को प्रकृतिचित्रण सम्बन्धी रचनायें

नज़ीर अकबराबादी का महत्व

प्रस्तुत करने का श्रेय प्राप्त है, नज़ीर तो मुख्यतः एक भारतीय कवि हैं और उन्होंने हिन्दुस्तान के मेलों, त्यौहारों आदि के वर्णन किए हैं। उनकी सभी कवितायें पूर्णतया हिन्दुस्तानी भावनाओं तथा वातावरण का चित्रण करने में सफल हुई हैं।

नवाब वाजिदअली शाह के पदच्युत होने और ग़दर के समय के अनन्तर अनेक प्रसिद्ध कवि—जैसे अमीर दाग़, जलाल और तसलीम

रामपुर और हैदराबाद दरबार के कवि : अमीर और दाग़ का समय

आदि अपना घर छोड़ छोड़ कर मुसल्मानी रियासतों में चले गए। कुछ ने रामपूर और हैदराबाद के लिए प्रस्थान किया—इस कारण कि यह दरबार उर्दू भाषा के समर्थक समझे जाते थे। इस काल के कवियों का कोई विशेष रंग नहीं, वरन् यह लोग पुराने कवियों का अनुकरण करते थे और उन्हीं की परंपरा में थे। दरबारों में और अमीरों-रईसों के

घरों पर मुशायरे हुआ करते थे। ग़ज़ल, रुबाइयाँ, क़सीदे और क़िते इस काल में बहुत कहे गए। अमीर मीनाई अपने से पहले कवियों की परंपरा का निर्वाह करते हैं और उनकी रचनाओं में नासिख़ व उनके अनुयायियों के दुर्गुण नहीं है। दाग़ के यहां स्वाभाविकता, प्रसादगुण और ओज है लेकिन इसमें आदर्शवाद की कमी स्पष्ट है। जलाल का कोई विशेष रंग नहीं लेकिन वे काव्यज्ञान अच्छा रखते थे और भाषा की शुद्धता का उन्हें बड़ा विचार था और पुराने कवियों के अनुगामी थे। इस युग में उर्दू-कविता ने अपने विकास में विशेष मौलिकता का परिचय नहीं दिया।

नया रंग—आज़ाद और हालीकासमय भाषा के प्रति उनकी सेवाएँ

आधुनिक काल में उर्दू-कविता ने एक नया रंग ग्रहण किया। इसके प्रमुख व्यक्ति आज़ाद, शरूर और हाली हैं। नए विषय और नई शैलियाँ उर्दू-साहित्य में समविष्ट हुईं। जातीय कविता में, काल्पनिक कविताएँ और वर्णनात्मक कवितायें (प्रबंध-काव्य) लिखी गईं जो पुराने नियमों के बंधनों से मुक्त हैं। उर्दू-काव्य का क्षेत्र विस्तृत हुआ। सरलता, स्वभाव-गुण भावुकता और करुण-रस इस युग की कविता की विशेषताएँ हैं। नए-नए काव्य-विषय ग्रहण किए गए। हमारे विचार में इस परिवर्तन का सबसे बड़ा कारण अंग्रेज़ी शिक्षा और अंग्रेजी साहित्य का अनुकरण है। हाली जातीय कवि हैं, आज़ाद प्राकृतिक कविता के संचालक। सरूर की कल्पना और शैली बड़ी उत्कृष्ट है। अकबर का रंग अपना अलग है जो उनसे आरंभ होकर उन्हीं तक समाप्त होगया। इक़बाल की रचनाओं में दर्शन और प्रकृति दोनों का आनंद मिलता है। हसरत में आधुनिक युग की अनेक विशेषताएँ हैं। इस नए युग में ग़ज़लगोई में भी बहुत कुछ सुधार हुए। सारांश यह कि इस नए रंग ने उर्दू कविता को पुराने बंधनों से बहुत कुछ मुक्त कर दिया और भावी उन्नति के

के लिए नया पथ खोल दिया।

आधुनिक उर्दू-गद्य का सूत्रपात उन्नीसवीं सदी ईस्वी के आरंभ से होता है। इसकी नींव डाक्टर जान गिलक्राइस्ट के प्रयत्न से फ़ोर्ट विलियम कालेज, कलकत्ता में पड़ी। उन्होंने उत्तरी हिंदुस्तान से सुयोग्य लोगों को अपने यहाँ बुलाकर इस लिए एकत्र किया था कि नए-नए अंग्रेज़ी अफ़सरों के लिए ऐसी पुस्तकें तैयार की जायँ जिनसे देश के शासन और हिंदुस्तानियों के साथ मेल-जोल बढ़ाने में उन्हें सहायता मिले। इस प्रसिद्ध कालिज की स्थापना से पूर्व भी, उर्दू-गद्य की कुछ पुस्तकें मौजूद थीं, लेकिन वे या तो धार्मिक थीं या क़स्से-कहानियों की और कच्ची और प्रारंभिक भाषा में फ़ारसी से अनूदित थीं। वाक्यों की शुद्धि और व्याकरण का उनमें कुछ ध्यान न रक्खा गया था। "दह मजलिस" और "नौ तर्ज़ मुरस्सा" इसी समय के उर्दू-गद्य के नमूने प्रस्तुत करती हैं। वह लोग जो अंग्रेजों के लिए विशेष रूप से संस्कृत और फ़ारसी से अनुवाद करने या नई पुस्तकें सरल-सहज भाषा में लिखने के उद्देश्य से एकत्र किए गए थे, सैयद मुहम्मद हैदरबख़्श हैदरी, बहादुर अली हुसैनी, मीर अम्मन, हफ़ीज़ुद्दीन अहमद, मज़हर अली विला, इकराम अली और मिर्ज़ा अलीलुत्फ़ आदि हैं, जिनकी रचनाएँ बहुत साफ़ सरल और रोचक हैं। इन पुस्तकों से प्रायः कठिन और अप्रचलित फ़ारसी और संस्कृत शब्द निकाल दिए गए हैं। यह पुस्तकें आधी शताब्दी उर्दू-गद्य का उत्कृष्ट उदाहरण समझी जाती थीं और वर्तमान काल में जो उन्नति भाषा में हो रही है अधिकतर उनके ही आधार पर है। डाक्टर गिलक्राइस्ट के ही प्रयत्नों का यह परिणाम है कि देशी भाषा (उर्दू) सरकारी भाषा हो गई और उसमें यह क्षमता आ गई कि प्रचलित फ़ारसी के स्थान पर वह अदालत और सरकार की भाषा मानी गई डाक्टर गिलक्राइस्ट को यह गर्व भी

उर्दू गद्य—फ़ोर्ट विलियम कालेज कलकत्ता

प्राप्त है कि उर्दू कोष और व्याकरण की पुस्तकें प्रस्तुत हुईं।

लखनऊ का 'मुक़फ़्फ़ा' गद्य—रज्जब अली बेग सरूर

एक ओर तो वह गद्य है जो कि सरल था और जिसका आरंभ कलकत्ता के फ़ोर्ट विलियम कालेज से हुआ था, दूसरी तरफ़ वह मुक़फ़्फ़ा (तुक-युक्त) गद्य है, जो ज़हूरी और बेदिल के फ़ारसी गद्य के ढङ्ग पर लिखा जाता था। इसकी भाषा तुक-युक्त, और वाक्य नपे तुले होते थे। इसमें तुक के साथ बल्कि दोहरे तुक कल्पनाओं और अलंकारों का भी समावेश होता था। वाक्य लम्बे, पेचदार और तुकों के बैठाने के प्रयत्न में बहुधा अर्थ लगाने में कठिनाई उत्पन्न करने वाले होते थे। इसी कारण पूरा वाक्य पढ़ने और मतलब समझने में दुरूहता का सामना करना पड़ता था। बहुत समय तक इसी प्रकार की तुक-युक्त और कृत्रिम भाषा दिल्ली और लखनऊ में चलती रही। पत्र तक इसी प्रकार की भाषा में लिखे जाते थे। पुस्तकों की भूमिकाएँ प्राक्कथन आदि चाहे उर्दू में हों चाहे फ़ारसी में सब इसी प्रकार की भाषा में लिखने का प्रचलन सा था। इस भाषा के सबसे अच्छे उदाहरण मिर्ज़ा रजब अली बेग सरूर की रचनाओं में मिलते हैं। उनकी पुस्तक 'फ़िसानए अजायब' जिस प्रकार अपनी शैली के लिये प्रसिद्ध है उसी भांति लखनऊ के उस समय के सामाजिक चित्रण के लिये भी।

दरियाये लताफ़त

इन्शा और क़तील की 'दरयाये लताफ़त' जो मिश्रित फ़ारसी और उर्दू में रची गई है, अपना ऐतिहासिक महत्व रखती है। यह एक हिन्दुस्तानी की लेखनी से निकली हुई न केवल उर्दू व्याकरण की पहली पुस्तक वरन् उन बोलियों के नमूने भी प्रस्तुत करती है जिन्होंने उर्दू को प्रभावित किया है, और साथ ही भिन्न साहित्यिक केंद्रों में प्रचलित मुहावरों को भी देती है।

उर्दू-गद्य के इतिहास में एक बहुत बड़ा व्यक्तित्व

उर्दू ए मुअल्ला और ऊदे-हिंदी

मिर्जा ग़ालिब का है। उनकी प्रसिद्ध रचनाएं-'उर्दू-ए-मुअल्ला' और 'ऊदे हिंदी' बड़े मनोरंजक पत्रों के संग्रह हैं, जिनकी भाषा बहुत सहज-सरल; स्वाभाविक और हृदय को आकर्षित करने वाली है। इन में एक विशेष प्रकार की आमोद-प्रियता है और भाषा खिली हुई है। दोनों पुस्तकें सहज उर्दू-गद्य के उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। लेखक की निजी बातों के विषय में जो संकेत हैं उनमें बनावटीपन छू नहीं गया है। ग़ालिब की शैली ने उर्दू-गद्य लेखन पर अपना गहरा प्रभाव ही नहीं डाला वरन् उसमें क्रान्ति उत्पन्न कर दी है। उन के बाद के उर्दू लेखकों पर भी यह प्रभाव बना रहा। हाँ, ग़ालिब स्वयं अपने समय की तुक-युक्त और अलंकारिक शैली से अछूते नहीं रह सके और जगह-जगह उनके लेखों में हमे इस प्रकार की भाषा के नमूने मिलते हैं।

ईसाई पादरियों की रचनाओं का प्रभाव

ईसाई पादरियों की रचनाओं ने भी उर्दू-गद्य पर अपना एक विशेष प्रभाव डाला। इन लोगोंने साधारणतया, और विशेष कर उन पादरियों ने जो सीरामपूर (बंगाल) में रहते थे, बाइबिल का अनुवाद देश की भिन्न भिन्न भाषाओं में प्रकाशित करके उनका जनता में प्रचार किया। इनके अतिरिक्त सैकड़ों छोटी-छोटी धार्मिक पुस्तिकाएँ और पुस्तकें उर्दू में प्रकाशित कीं। हमारा ख़याल है कि देशी-भाषा में पत्रकारिता का आरंभ भी इसी समय में हुआ। सबसे पुराने अनुवाद बाइबिल के जो १८०५ ई० से १८१४ ई० तक प्रकाशित हुए, वह अधिकांश उर्दू में ही हुए थे।

सर सैयद अहमद और उनके अनुयायियों की

उर्दू-गद्य की उन्नति का स्वर्ण-काल उन्नीसवीं सदी ईस्वी के उत्तरार्द्ध को समझना चाहिए, जिसमें सर सैयद अहमद और उनके साथियों ने उर्दू गद्य-शैली में एक विशेष रंग उत्पन्न कर

उर्दू के प्रति सेवाएँ दिया। इस काल में जितने धार्मिक वाद-विवाद चाहे वह मुसल्मानों के आपस में चाहे ईसाइयों और हिंदुओं के बीच होते थे—उनसे भी उर्दू की उन्नति हुई। ऐसी समस्त पुस्तकें और पुस्तिकाएँ साधारणतः बहुत सीधी-सादी परंतु प्रभावशाली और ज़ोरदार भाषा में लिखी जाती थीं; और यद्यपि उनका एक अस्थायी महत्व और प्रभाव होता था, फिर भी उनसे यह लाभ अवश्य हुआ कि उर्दू गद्य-लेखन-शैली में सरलता और साथ ही साथ प्रौढ़ता आई। मौलवी सैयद अहमद शहीद बरेलवी (१५७८२—१८३१) के धार्मिक उपदेशों और विविध प्रचार सम्बन्धी बातों पर (जिन्हें वह सारे देश में फैलाना चाहते थे) बहुत सी पुस्तक-पुस्तिकाएँ लिखी गईं। कुरानमजीद का सबसे पहला उर्दू अनुवाद सन् १८०३ ई० में प्रकाशित हुआ। जो उपदेश मौलवी सैयद अहमद शहीद बरेलवी के समय से आरंभ हुये थे उनकी उन्नति प्रकट रूप में सर सैयद अहमदखाँ के हाँथों हुई, जिनकी अनेक रचनाएँ शिक्षा, लोकव्यवहार, समाज, दर्शन, राजनीति, आदि सभी विषयों से सम्बन्धित हैं। उर्दू भाषा को इतना लाभ पहुँचा और वह इतनी सम्पन्न हुई कि और किसी चीज़ से नहीं हुई थी। स्व० सर सैयद एक ऐसी शैली के प्रचारक हुए जो कि सभी विषयों के लिये उपयोगी थी। उनकी सभी रचनाएँ और विशेषकर वह मूल्यवान लेख जो "तहज़ीबुल-अख़लाक" तथा अन्य पत्रों में प्रकाशित हुये हैं, अत्यंत प्रशंसनीय हैं।

सर सैयद के साथियों का, जिनको उर्दू भाषा का नवरत्न समझना चाहिए, उर्दू-भाषा और साहित्य पर बड़ा आभार है। मौलाना हाली की जातीय कवितायें और समालोचनात्मक निबंध, अल्लामा शिबली और मौलवी ज़काउल्ला के ऐतिहासिक लेख, मौलवी चिराग़अली और नवाब मुहसिनुल्मुल्क के नैतिक तथा राजनैतिक लेख और व्याख्यान, मौलाना नज़ीर अहमद के उपदेशप्रद उपन्यास और अन्य

रचनाएँ जिनमें साहित्यिकता के साथ विनोद का पुट है—इन सब से न केवल योग्य लेखकों के सहधर्मियों को लाभ पहुँचा वरन् वह समस्त देश के लिए समान रूप से लाभप्रद प्रमाणित हुईं। इसी प्रकार मौलाना मुहम्मद हुसैन अज़ाद की चमत्कार-पूर्ण लेखनी (जिसका सबसे भिन्न और अपना विशेष रङ्ग है) वास्तव में अत्यंत ही सरस और रोचक है। उनकी रचनाओं को उर्दू के कोष के अमूल्य रत्न समझना चाहिये।

अंग्रेज़ी-शिक्षा का उर्दू पर प्रभाव छापे का आरंभ। उर्दू सरकारी भाषा निश्चित की गई

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध से अंग्रेज़ी शिक्षा का प्रकट प्रभाव उर्दू भाषा पर पड़ने लगा। इसमें साहित्य का क्षेत्र और ज्ञान और बढ़ गया तथा साहित्य के विविध अंग उसमें प्रविष्ट होने लगे। छापे के कारण पुस्तकों के प्रचार में सहायता मिली। पुराने और नए सब प्रकार के ग्रन्थ छपने लगे और उनका प्रकाशन सहज हो गया। सन् १८३२ ई० में, फ़ारसी के स्थान पर उर्दू सरकारी दफ़्तरों की भाषा के रूप में स्वीकृत हुई, जिससे उसकी प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई, और अदलती दफ्तरों के नए-नए पर्यायों के योग से उसके शब्द कोष की अच्छी वृद्धि हुई।

उपन्यास का लेखन विकास

उपन्यास-लेखन, ऐतिहासिक उपन्यास, और पत्र-कारिता को अंग्रेजी शिक्षा प्रसार का अनिवार्य परिणाम समझना चाहिये। यह विषय आवश्यक और महत्वपूर्ण है; अतएव इसका विस्तार से वर्णन आगे के अध्यायों में किया जायगा। इस काल में हैदराबाद की उस्मानिया यूनिवर्सिटी, जिसने उर्दू भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाया है, और स्व० मौलाना शिबली के "दारुल उलूम नदवा' के अस्तित्व इस बात के सूचक हैं कि भाषा किस प्रकार से उन्नति कर रही है, और

किस प्रकार उर्दू को हिंदुस्तान की एक साहित्यिक भाषा बनने का गौरव प्राप्त हो गया है।

उर्दू नाटक

यह नितांत नई और स्थानीय वस्तु है -- इस कारण कि फ़ारसी में इसका अस्तित्व ही न था। साहित्य के इस अंग की अभी बाल्यावस्था समझनी चाहिये। अभी तक इसमें परिपक्वता नहीं आई है। हमारे देश के नाटककारों में अभी वह प्रौढ़ता नहीं आई जिसका परिणाम यह है कि उनका चरित्र-चित्रण त्रुटिपूर्ण है, उनकी कथा-वस्तु महत्वहीन और अधूरी होती हैं, उनकी रचनाओं में केवल ऊपरी बातें और शब्दाडंबर हैं। शेक्सपियर और अन्य यूरोपीय नाटककारो के नाटकों के अनुवाद अवश्य हुए हैं, और उन्हें हिन्दुस्तानी नाट्य मंच के उपयुक्त बनाने का प्रयत्न हुआ है उर्दू-नाट्य कला के सम्मुख एक आशापूर्ण क्षेत्र है।

अध्याय ३

उर्दू कविता की साधारण विशेषताएँ

उर्दू-कविता फ़ारसी की अनुगामिनी है

पुरानी उर्दू शायरी देश की उपज नहीं है, वह फ़ारसी से उत्पन्न हुई और फ़ारसी के नमूने उसके सम्मुख थे। फ़ारसी काव्य-शास्त्र ने, जो कि स्वतः अरबों द्वारा रचा गया था, उर्दू-कविता पर बहुत बड़ा प्रभाव डाला। इसी प्रकार फ़ारसी छंदों और उनके नियमों को उर्दू ने चुपचाप ग्रहण कर लिया। धीरे धीरे यह विदेशी पौदा जड़ पकड़ गया और उसे इस देश का जलवायु उपयुक्त हुआ। छंदों के अतिरिक्त उर्दू कवियों ने फ़ारसी की ही उपमाएँ और वही विषय ग्रहण किए और यह सब चीजें, बिना इस बात का बिचार किये हुए कि उर्दू भाषा का प्रारंभ किस प्रकार हुआ है और उसमें इनके अपनाने की कितनी क्षमता है उर्दू कवियों की संपत्ति बन गई। इस अनुकरण में लाभ और हानि दोनों ही रहे। हानि तो यह कि उर्दू कविता को विकास की वह सीढ़ियाँ नहीं पार करनी पड़ीं जिनके कारण गति तो अवश्य मंद रहती लेकिन एक नई भाषा की उन्नति के लिए वह आवश्यक थी। उदाहरण के लिये अंग्रेज़ी कविता को देखिए जिसने सभी सीढ़ियां पार कर के उन्नति प्राप्त की। उर्दू में इसी कमी के कारण वही पुरानी ठंडी बातें और वही विषय जो कि फ़ारसी कविता में बहुतायत से पाए जाते थे और जिनका कोई संबंध इस देश से न था, अचानक नींव के पत्थर बन गए। प्रारंभ में तो बहुधा उर्दू शेर फ़ारसी शेरों के शाब्दिक अनुवाद-

मात्र होते थे; और अब भी हमारे कवि सायब, हाफिज़, नज़ीरी और बेदिल आदिका अनुसरण करना अपने लिए गर्व की बात समझते हैं।

अनुकरण के बुरे परिणाम

इस दैन्य अनुकरण और लोभ-पूर्ण ग्रहण के कारण उर्दू कविता में एक ऐसी अवस्तविकता आ गई है जो उसके पद को गिराती है और उसकी प्रतिष्ठा के लिए घातक है। हिंदुस्तान की भूमि ऐसे विषयों से अपरिचित है: लैला-मजनूँ तथा शीरीं फ़रहाद का प्रेम; रुस्तम और असफ़न्दयार की बहादुरी; मानी और बिहज़ाद की चित्र-कला; जैहूँ और सैहूँ का ज्वार-भाटा; अलवंद और बेसुतूं की चोटियाँ इत्यादि अथवा पक्षियों में बुलबुल, वृक्षों में संबुल आदि। यह सब विदेशी चीजें हैं जिन्हें यहाँ के लोगों ने कभी देखा भी नहीं।

उर्दू कविता केवल नक्क़ाली रह गई

इसी अनुकरण के परिणाम-स्वरूप कविता वास्तविकता से दूर हटकर नक्क़ाली मात्र रह गई। हिन्दुस्तानी बादशाहों के न्याय की जब प्रशंसा की जाती है तो उनकी बराबरी नौशेरवाँ से की जाती है; दान में वह हातिम बताए जाते हैं, दुखो और विरही प्रेमी के उदाहरण के लिए मजनूँ के अतिरिक्त कोई नहीं मिलता और उनकी प्रेमिका सदा लैला होती है। एक अच्छी आकृति के मनुष्य की प्रशंसा यही हो सकती है कि वह यूसुफ़ की भाँति 'कनां का चांद' हो, और प्रियतम के कठोर अनुशासन का पालन करने वाला कोहकन की उपाधि प्राप्त करता है। क़द की उपमा के लिए सर्व व शमशाद, नेत्रों के लिए नरगिस, बालों के लिए संबुल निर्दयता के लिए तुर्क, पुष्पों का प्रेमी बुलबुल, सर्व का प्रेमी फ़ाख्ता, 'बादे सबा' की अठखेलियाँ आदि का भरमार होना—यह सब उर्दू कविता में समाविष्ट होने लगे और उनकी वह भरमार हुई कि कविता अपनी वास्तविकता भूल गई, उसे अपने देश की उपमाओं से अरुचि उत्पन्न हो गई और अपने देश की सुन्दर

मे मुर्दर वस्तुओं का आदर करने की भावना तक उसकी नष्ट हो गई। उदाहरण के लिए हिन्दुस्तान की वर्षा-ऋतु के सुहावने पन की क्या बात है, लेकिन पुरानी उर्दू कविता में उसकी चर्चा कहीं न मिलेगी। इसी प्रकार ग्रीष्म-ऋतु, वसंत, हिमालय की बर्फ़ से ढकी चोटियां, गंगा और यमुना के सुन्दर घाट—इनका हमारे पुराने उर्दू कवियों ने कोई ख़याल न किया। अपनी भाषा की सुन्दरता और मिठास को दूसरी भाषा के आकर्षणों पर निछावर कर दिया। सारांश यह कि उर्दू कविता ने फ़ारसी कविता का अनुकरण आँख बन्द कर के छोटी-छोटी बातों तक में किया। सर चार्लस लायल इसी अनुकरण के विषय में लिखते हैं:—"उर्दू कविता फ़ारसी कविता का पूर्णतया अनुकरण करती है और वही विषय बार-बार दुहराती है, जिनको स्वयं फ़ारसी उस्तादों ने बार बार बाँधा है। विषय और शब्दावली दोनों आरम्भ से आज तक जैसे थे वैसे हैं। उनमें कोई मौलिकता और अनुभव की वास्तविकता नहीं पाई जाती; और इसी कमी के कारण उन्हें

वाग्मिता

एक विस्तृत वाग्मिता की नींव रखनी पड़ी जब कि कोई बात जो किसी कवि को कहनी हो और उसको उससे पहले सैकड़ों नहीं हज़ारों कह गए हों तो निश्चित रूप से उस बात को कहने का अपने लिए एक विशेष ढंग खोजना पड़ेगा। अतएव उर्दू कविता की विशेषता कवित्वपूर्ण भावना न रह कर एक वाग्मिता-मात्र रह गई। अतिशयोक्तियाँ, कौशलपूर्ण रचना, विरोधालंकार, अनुप्रास आदि के प्रयोग कविता में अनूठापन उत्पन्न करने के साधन हुए।"

उर्दू कविता में केवल लकीर पीटना रह गया

उर्दू कविता में न केवल वाग्मिता का प्रदर्शन वरन् लकीर पीटना मात्र शेष रह गया। वही रूपक, वही उपमाएँ बार-बार आती हैं। प्रकृति के स्वाभाविक और मौलिक चित्रण का कोई प्रयास

नहीं। विषय में कोई नवीनता नहीं, वर्णन शैली भी पिटी हुई मिलती है और कवियों का अपना कोई संदेश नहीं। वे पुराने कवियों के द्वार पर विषयों के लिए भटकते हैं। कविता नपी-तुली सीमित वस्तु बनकर रह गई। प्रत्येक कवि अपनी रचना में पुरानी टेकों को दुहराता है।

तुकबंदी

फ़ारसी के अनुकरण में उर्दू में भी एक तुक और कभी-कभी दो तुकों का नियम चलता है। तुक यद्यपि कानों को अच्छा लगता है लेकिन विचारों को प्रकट करने में बाधाएँ उपस्थित करता है इसी कारण बहुत समय हुआ कि यूरोपीय कविता इस बंधन से मुक्त हो गई। वस्तुतः यह होता है कि तुक पहले मस्तिष्क में आता है और वह रचयिता को विषय की ओर प्रेरित करता है यद्यपि होना यह चाहिए कि विषय स्वयं तुक उत्पन्न करे। सारांश यह कि इन्हीं बंधनों से उर्दू कवियों की कृतियाँ भरी पड़ी हैं और इस असंगतता का अनुभव स्वयं हमारे कवियों को हो चला है।

अप्राकृतिक विषय चित्रण

उपर्युक्त दोषों के अतिरिक्त सब से बड़ा दोष यह है कि उर्दू कविता में बहुधा विषय-चित्रण अप्राकृतिक होता है। जैसे पुरुष का प्रेम पुरुष के प्रति, जिसके लिए कोई उचित कारण भी नहीं प्रस्तुत किया जाता। एक लड़के को प्रियतम मानकर उसके घूँघर वाले बाल, उसकी काकली, उसके ख़त, उसकी भीगी मसें, उसके तिलों आदि का वर्णन इस चाव से किया जाता है कि शिष्ट कल्पना को बड़ी चोट पहुँचती है। इस रंग को हमारे पुराने उर्दू कवियों ने चलाया था, और आज तक उसका अनुकरण किया जा रहा है। हमारे विचार में शिष्टता तथा भावों की शुद्धता की दृष्टि से भाषा के कविगण उर्दू-कविगण के अपेक्षा ऊँचे स्तर पर हैं। भाषा में कवि अपनी रचना में प्रेम का चित्रण इस प्रकार करता है जैसे स्त्री अपने पति के अथवा प्रेमी के

विरह में क्रंदन करती हो, या जैसे उसका कल्पित प्रियतम उसके प्रेम से प्रभावित नहीं होता। इसके विपरीत हमारे उर्दू कवि प्रेम-प्रदर्शन समान लिंगियों के प्रति करते हैं। इसी भेद के कारण भाषा की कविता स्वभाविक और प्रकृति के अनुकूल है और हृदय में स्थान कर लेती है और विचारों में उत्कर्ष उत्पन्न करती है। इसके प्रत्युत उर्दू के बहुधा शृंगारी शेरों में बाज़ारी और अस्वस्थ प्रेम का प्रदर्शन होता है जिससे विचारों में पस्ती और रचना में निकृष्टता उत्पन्न हो जाती है। यदि विचार करके देखा जाय तो यही एक चीज़ इस बात को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है कि उर्दू कविता फ़ारसी की नक़ल करने वाली है। यही कारण है कि उर्दू भाषा के फलने और उन्नति करने का अवसर नहीं मिला। एक कारण यह भी हुआ कि लोगों ने उर्दू कविता को केवल विनोद की वस्तु समझा और जब कभी फ़ारसी काव्य-रचना से उनको अवकाश मिला तो थोड़ा सा समय जी बहलाने के लिए इसमें भी व्यतीत कर दिया। बड़ी कठिनाई यह हुई कि वे लोग प्रायः हिन्दी और संस्कृत से अपरिचित थे, जिसके कारण वे इन दोनों भाषाओं के गुणों से लाभ न उठा सके। फ़ारसी चूंकि दरबारी और सरकारी भाषा थी, और उस समय के बड़े-बड़े रईस व अमीर, विद्वान् और कवि सब इसी को पसंद करते थे, और यही भाषा प्रचलित थी, अतएव स्वाभाविक था कि हिन्दी शब्द उनके आगे भद्दे और अपरिचित जान पड़े और इसी कारण वह त्याग दिए गए। हमारी समझ में फ़ारसी के अनुकरण के केवल दो मुख्य कारण हो सकते हैं। एक यह कि फ़ारसी भाषा का बाज़ार उस समय गर्म था, दूसरे यह कि लोग संस्कृत और भाषा से अपरिचित थे। इन्हीं कारणों से पुराने समय में उर्दू का भी अनादर था। अतएव उर्दू के पुराने उस्ताद के सब फ़ारसी रचना करने वाले कवि थे, यहां तक कि मिर्ज़ा ग़ालिब भी फ़ारसी के सामने अपनी उर्दू रचनाओं के प्रति हीनता का भाव रखते थे। वे कहते हैं:—

फ़ारसी बीं ताब बीनी नक़्शहाए रंग रंग।
बुग्ज़रज़ मजमूअए उर्दू की बेरंगे मनस्त॥

[फ़ारसी (संग्रह) देखो, कि जिसमें रंग-रंग के चित्रण देखने में आएँगे; उर्दू-संग्रह को छोड़ जाओ, जो कि एक बेरंग वस्तु है।]

पुराने समय के अरबों में यह नियम था कि प्रेमी अपनी प्रियतमा को उसके नाम से संबोधन करता था और अपने प्रेमोद्गार कविता के रूप में उसके समक्ष प्रस्तुत करता था और अंततोगत्वा उसी के साथ विवाह हो जाता था। इस प्रथा का एक बुरा परिणाम यह हुआ कि कभी-कभी प्रेमिका का नाम प्रकट हो जाने के कारण झगड़े और दंगे होगये और कभी-कभी रक्तपात तक हुआ। अतएव इस आपत्ति को दूर करने के लिए काल्पनिक स्त्रियों के नाम लिए गए। परदे की प्रथा ने स्त्रियों के खुल्लमखुल्ला नाम लेने को वर्जित किया, जिसके कारण उनके लिए या तो किसी प्रसिद्ध प्रेमिका का नाम लिया जाने लगा या उनका वर्णन पुल्लिंग के रूप में होने लगा। फ़ारसी में लिंग-भेद के प्रकट करने के साधन न थे, इसी कारण कदाचित ऐसा परिणाम हुआ। फ़ारसी के पक्ष में यह तर्क किया जाय तो किया जाय, उर्दू के सम्बन्ध में, जहाँ लिंग भेद का बोध कराया जा सकता है यह तर्क बिल्कुल निस्सार होगा। और स्वीकार नहीं किया जा सकता। संसार के प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ के समाज के नैतिक जीवन का दर्पण होता है, अर्थात् समाज के नैतिक दुर्गुणों का पता किसी देश के साहित्य से भली-भाँति प्रकट होता है। इन सब बातों के उत्तर में यह बहाना प्रस्तुत किया जा सकता है कि यद्यपि प्रकट में पुल्लिंग शब्द व्यवहार में आता है परन्तु तात्पर्य उसी प्रेम से है जो उचित है। सच पूछिए तो नैतिक दृष्टि-कोण से यह उत्तर भी ठीक नहीं है—इस कारण कि परदे की प्रथा के परिणाम-स्वरूप भले घर की स्त्रियाँ सामने नहीं आ सकतीं, अतएव

जिस सौंदर्य की चर्चा होगी वह बरबस बाज़ारी स्त्रियों का माना जायगा।

रचना-विभेद

उर्दू काव्य-रचना के निम्न भेद हैं:—ग़ज़ल, क़सीदा, रुबाई, किता, मसनवी, मरसिया आदि। इन में सब से प्रसिद्ध गज़ल है जिसका रंग अधिकांश श्रृंगारी या सूफ़ियाना होता है। पुराने कवियों की रचनाओं में सूफ़ियाना रंग सब रंगों से ऊपर था। मध्य-काल में धार्मिक जागृति की एक लहर समस्त हिंदुस्तान में दौड़ गई थी। हिन्दी का भक्ति-काल और राम तथा कृष्ण की उपासना की परंपरा इसी धार्मिक जागृति की द्योतक हैं।

सूफ़ीमत

उर्दू के समस्त पुराने कवि सूफ़ी थे और उन संतों और धार्मिक पुरुषों के वंशज थे जो कि मुसल्मान विजेताओं के साथ या पीछे स्वयं आए थे। उनमें सूफ़ी विश्वास परंपरागत था और लोग उनका आदर और सम्मान करते थे। अतएव उर्दू का सबसे पहला कवि वली दकनी एक बहुत बड़ा सूफ़ी था और दिल्ली के प्रसिद्ध सूफ़ी शाह सादुल्ला गुलशन की शिष्य परंपरा में था। इसी तरह शाह मुबारक आबरू, शाह मुहम्मद ग़ौस गवालियरी के वंशज थे जो हिन्दुस्तान में एक प्रसिद्ध धार्मिक पुरुष हो गए हैं। शेख शरफ़ुद्दीन मज़मून यद्यपि एक सिपाही-पेशा व्यक्ति थे, लेकिन अंत में दुनिया छोड़कर फ़क़ीर हो गए थे। शाह हातिम और मिर्ज़ा मज़हर जानजाना भी, एक प्रसिद्ध सूफ़ी हो गए हैं। ख्वाज़ा मीर 'दर्द' जो कि ख़्वाजा बहाउद्दीन नक़्श बंद के वंशज थे कवि होने के साथ फ़क़ीर भी थे। इनके अतिरिक्त प्रसिद्ध साहित्यिक महारथियों में थे मीर और सौदा और उनकी तथा इनके समकालीनों की रचनाओं में सूफ़ियाना रंग मिलता है। चूंकि फ़ारसी कविता सूफ़ियाना विषयों से भरी हुई थी अतएव यह बहुत स्वाभाविक था कि उर्दू ने और बातों के

साथ-साथ इस बात में भी फ़ारसी का अनुकरण किया। "सतर्कता से धर्मपरायण होना, ईश्वर के लिए सब वस्तुओं का त्याग, सांसरिक आडंबर और दिखावे से अलग रहना, धन और शक्ति के सुखों का त्याग, एकांत में ईश्वर-निष्ठा और साधना—ये सूफ़ीमत के मुख्य सिद्धांत थे।" सूफ़ी कवि सांसारिक सौंदर्य की प्रशंसा इस कारण करते हैं कि वे उसको चिरंतन सौंदर्य के प्रति की सीढ़ी समझते हैं और आत्मिक प्रेम के प्रति अभिरुचि लोगों के हृदयों में उत्पन्न करने के लिए इन्हीं स्थल चिह्नों से काम लेते हैं। उनका कथन है कि :—

मताब अज़ इश्क़ रू गर्चे मजाज़ी अस्त।
कि आँ बहे हक़ीक़त कारसाज़ी अस्त।

[यदि ऐहिक प्रेम है तो भी उससे मुँह न फेर; क्योंकि वह आत्मिक प्रेम की ओर ले जाने वाला है।] ईरान और हिन्दुस्तान का शृंगारी कविता में आत्मिक और लौकिक इच्छाओं का अद्भुत मिश्रण इन्हीं सूफ़ी सिद्धांतों के कारण है।

शृंगारी कविता

ग़ज़ल में शृंगारी रंग की नींव सूफ़ीमत, दरबारियों के प्रभाव और फ़ारसी शृंगारी कविता के अनुकरण के कारण पड़ी। ग़ज़ल उर्दू शायरी का प्राण है। अंग्रेज़ी में यदि इसके बराबर की कोई वस्तु है तो वह 'सानेट' है। ग़ज़ल का शब्दिक तात्पर्य स्त्रियों से बातें करना है। ग़ज़ल में कुछ शेर होते हैं और प्रत्येक शेर अर्थ की दृष्टि से अपने में पूर्ण होता है और एक-दूसरे से स्वतंत्र। और 'सानेट' में तथा ग़ज़ल में यह भेद है कि 'सानेट में एक ही वर्णन या चर्चा का विस्तार कई पंक्तियों में होता है। काव्य-भेदों में ग़ज़ल सबसे सरल और सबसे अधिक प्रयुक्त रूप है। ग़ज़ल में एक ही विचार की शृंखला कम मिलेगी। उसके विषय भी सीमित हैं और इसी कारण कवि को एक शेर पर अपनी पूर्ण रचना

शक्ति केंद्रित करने का अवसर है। अतएव इस बंधन के कारण लाभ भी हैं और कठिनाइयाँ भी। जिन विषयों पर ग़ज़लें साधारणतया कही जाती हैं वे निम्न-लिखित हैं:—प्रेमी के विफल प्रेम पर शोक-प्रकाश; मिलन की आकांक्षा; प्रियतमा के पक्ष से उपेक्षा; गुल और बुलबुल का प्रेम; प्रेमोन्माद के विविध रूप; प्रियतमा का सौंदर्य-वर्णन; बाग़ो-बहार के दृश्य; लाल रंग के शराब की प्रशंसा व मांग; प्रतिस्पर्द्धियों के उपालंभ। संसार के सभी साहित्यों में शृंगारी कवितायें मिलेंगी क्योंकि प्रेम एक स्वभाविक वस्तु है और इसका वर्णन सभी भाषाओं में हुआ है। सूफी मत ऐहिक प्रेम को आत्मिक प्रेम की पहली सीढ़ी समझता है जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है।

दरबारियों का प्रभाव—उर्दू कविता पर

उर्दू कविता दरबारों में सदा पसंद की गई और अमीरों और रईसों के दरबारों में उसका विकास तथा उन्नति हुई है। दिल्ली, हैदराबाद, लखनऊ और रामपुर उर्दू कविता के केंद्र रहे हैं और यहीं के शासकों ने उर्दू शायरी को प्रतिष्ठा दी। लेकिन दरबारी प्रभाव शायरी पर दो रूपों में—अर्थात लाभ और हानि के रूपों में प्रकट हुआ लाभ इस अर्थ में कि कवियों को उनकी रचनाओं के उपलक्ष में समुचित पुरस्कार दिए गए और उनका परिश्रम सार्थक हुआ। हानि इस प्रकार कि कविता के विषय सीमित होकर रह गए। क्योंकि कवियों को दरबारियों की रुचियों का अनुसरण करना पड़ा। दिल्ली और लखनऊ की सल्तनत का मिट जाना उर्दू शायरी के ह्रास का, या कम से कम उसकी निर्बलता का मुख्य कारण हुआ। शृंगारी रंग अवध के नवाबों के यहाँ विशेष रूप से स्वीकृत हुआ, इस कारण कि उन लोगों के हृदयों में स्वयं शृंगारी भावनाएँ उपस्थित थीं। इसलिए कोई आश्चर्य नहीं यदि उस समय के कवियों की रचनाओं का अधिकांश इस रंग में रँगा हुआ है। क़सीदे और ग़ज़लें दोनों

बहुतायत से कहे जाते थे। एक में किसी नवाब या वज़ीर की प्रशंसा तो दूसरे में किसी वास्तविक अथवा कल्पित प्रियतम की चर्चा होती थी।

लोगों को प्रसन्न कर के कवियों को अपना हित साधन करना होता था, इसलिये वे इन दोनों रंगों में संलग्न रहते थे। अंग्रेजी कवि स्काट की निम्नपंक्तियाँ इसी प्रकार की परिस्थिति का संकेत करती हैं:—

"एक अश्लील-प्रेमी राजा और उसके दरबारियों ने
अपने आमोद के लिए उनसे परिश्रम कराया,
अपने थोड़े से पारिश्रमिक के बदले।
लेकिन इस प्रकार उन्होंने अपनी आत्माएँ खो दीं।"

दरबार से संयुक्त रहने का बुरा परिणाम यह हुआ कि हमारी उर्दू कविता से वह विविधता, संपन्नता, विस्तार, मौलिकता लुप्त हो गई जो कि संसार के श्रेष्ठतम साहित्यों की जान है।

ग्रामीण और प्राकृतिक चित्रण की उर्दू कविता में कमी

उर्दू कविता का क्षेत्र सीमित है। प्राकृतिक दृश्य, जो कि पश्चिमी कवियों के हृदय में अद्भूत उमंगें उत्पन्न करते हैं हमारे उर्दू कवियों पर वह प्रभाव नहीं रखते। उर्दू में ब्रायंट, ह्विटियर और टामसन की तरह के कवियों का पता नहीं और न वर्ड्सवर्थ का ऐसा कोई प्रकृति-प्रेमी है। उर्दू कविता में, वास्तविक प्राकृतिक दृश्य, जैसे बहती हुई नदी लहलहाते खेत, गाती हुई चिड़ियाँ, इस तरह की वस्तुओं का वर्णन बहुत कम होता है। यद्यपि कृत्रिम और कल्पित दृश्यों, बाग़ों, चश्मों, बुलबुल व गुल, क़मरी व सर्व की चर्चा बहुतायत से है। उर्दू के कवियों के वाद्य में एक ही तार है, और वही बार-बार बजाया जाता है; यहां तक कि बेसुरा हो जाता है। समुद्र के गीत, स्वतंत्रता के राग, सौंदर्य का यथार्थ-चित्रण, उर्दू कविता में नहीं हैं। वही गिरे हुए विषय जिन्हें कि बादशाह और दरबारी पसंद करते थे, जैसे शराब व कबाब, प्रतिस्पर्द्धियों के उपालंभ, प्रेमियों का दुर्भाग्य,

भाग्य की विपरीतता, बहुतायत से हैं। यह अवश्य है कि थोड़े समय से जब से कि अंग्रेजी संस्कृति और शिक्षा की चर्चा फैली, प्राकृतिक विषयों पर भी रचनाएँ रची जाने लगी हैं; और जिस प्रकार उनका स्वागत हुआ है उससे आशा होती है कि इस दिशा में शीघ्र समुचित उन्नति होगी।

उर्दू कविता निराशावादी कविता है

समस्त पूर्वी कविता, जिसके अन्तर्गत उर्दू कविता भी है निराशावादी विषयों से भरी पड़ी है। एक यूरोपीय समालोचक का मत है कि "एक पूर्वीय, अपने मानसिक सङ्गठन के कारण, रहस्यवादी, चिन्ताशील और कल्पनाशील होता है-व्यवहारिक नहीं। वह भाग्यवादी भी होता है। उसकी प्रवृत्तियों में गहरा विषाद, और गहन कारुण्य मिलेंगे। मानों जीवन से थका और विरक्त हो, सांसारिक आकांक्षाओं और ऐहिक सम्पन्नता के स्वप्न मिट गए हों। जीवन के प्रति उसकी उदासीनता उसे धर्म और रहस्यवाद के प्रति प्रवृत्त करती हैं, एक पूर्वीय की प्रकृति का अंग बन गई हैं। इस प्रकार की बातें, जैसे ईश्वर से दैन्द-पूर्ण विनय करना, भाग्य का सामना करने को व्यर्थ समझना, मानवी इच्छा-शक्ति को व्यर्थ समझना और समय तथा भाग्य को कोसना। उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त जो प्रायः समस्त पूर्वी लेखकों के यहाँ साधारणतः पाई जाती हैं, हिन्दुस्तान में इस भाग्यवादिता और निराशा का कारण विशेष है और वह उनके प्राकृतिक उदासीनता को और भी गहरा कर देता है; वह यह है कि उन्नीसवीं सदी के आरम्भ मेंमुसलमानों का भाग्य नक्षत्र डूब गया और उनकी शान शौकत समाप्त होगई।" उर्दू में ब्राउनिंग जैसे आशावादी कवि बहुत कम हैं, लेकिन कहा जा सकता है कि इसी उदासी और विश्वास के कारण पूर्वी कवियों की रचनाओं में एक विशेष प्रकार का कारुण्य और प्रभाव उत्पन्न होगया है, और यह उनकी रचनाओं को लोकप्रिय बनाता है।

क़सीदे क़सीदों की रचना में फ़ारस के बड़े-बड़े कवियों जैसे अनवरी, ख़ाक़ानी, उरफ़ी, क़ानी, और ज़हीर फ़ारयाबी का अनुकरण किया गया है। उर्दू के प्रसिद्ध क़सीदा रचने वाले सौदा, ज़ौक और अमीर आदि हैं। क़सीदे की शब्दावली में भी फ़ारसी का अनुकरण किया जाता है। अतएव आडम्बरपूर्ण भाषा, अतिशयोक्ति, कठिन प्रयोग, बड़े, बड़े रूपक और अनोखी उपमाओं का व्यवहार हमें मिलता है। इस में संदेह नहीं कि कुछ क़सीदे भाषा तथा विषय प्रतिपादन की दृष्टि से अद्वितीय हैं। कठिन छंदों और तुकों का निर्वाह रचयिता के काव्य-कौशल को प्रदर्शित करते हैं। और रचनाओं में और अलंकरण भी मिलते हैं।

उर्दू कवियों में यह अंग विशेष प्रिय रहा है।

मसनवी इसमें छंद और पिंगल फ़ारसी के अनुकरण में होते हैं। कहा जाता है कि अंग्रेजी कविता में जो दो रूप अर्थात 'ड्रामा' (नाटक) और 'ऐपिक' (महाकाव्य) के हैं उनकी पूर्ति मसनवी द्वारा होती है। लेकिन हमारी सम्मति में मसनवी और साहित्य के उपर्युक्त दो रूपों में अंतर है। उर्दू के प्रसिद्ध मसनवी लेखक मीर, मीरहसन, मोमिन खां, नसीम, क़लक, नवाब मिर्ज़ा शौक, और शौक क़िदवाई हैं और सब से प्रसिद्ध मसनवियाँ "सहरुल्बयान". और "गुलज़ार नसीम" समझी जाती हैं। वही युरोपियन समालोचक मसनवियों के विषय में इस प्रकार लिखता है:— "मसनवी या वर्णनात्मक प्रबंध-काव्य में भी कथा का अंश गौण और भाषा पर ध्यान मुख्य होता है। प्रायः कथा भाग मसनवियों में एक जैसा होता है और पाठक उसके विस्तार से परिचित होता है। यद्यपि व्यक्तियों के नाम बदल दिए जाते हैं, मूल कथा पुरानी होती है। नूतनता वहीं होती है जहाँ कि कथा की समाप्ति के निकट भेद प्रकट होता है। घटनाएँ' जिनका वर्णन एक सीमित क्षेत्र में होता है नीरस

ढंग से दुहराई जाती हैं।" कुछ लोगों का विचार है कि उर्दू में ड्रामा (नाटक) की कमी को मसनवी पूरा करती है, परन्तु सच बात यह है कि जो लोग नाटक की कला से परिचित हैं वह समझ सकते हैं कि मसनवी और ड्रामा में धरती और आकाश का अंतर है। इस कारण कि मसनवी में न तो चरित्र-चित्रण है, न प्लाट (कथावस्तु) निर्धारित की जाती है। घटनाओं का संयोग जो ड्रामा में उपस्थित किया जाता है वह भी यहाँ नहीं होता, और मसनवी में वे रोचक कथोपकथन मिलते, जो कि नाटक के प्राण होते हैं। घटनाओं की प्रगति बड़ी धीमी और अंग-चालन का अभाव होता है। उर्दू मसनवियाँ पुरानी लकीर पीटती हैं। फिरदौसी के शाहनामा और निज़ामी के सिंकन्दरनामे को इनको हवा भी नहीं लगी है। जैसा कि पहले बताया गया है "मसनवी मीर हसन" और "गुलज़ार नसीम" अपने प्रवाह, वर्णन और भाषा-संबन्धी ओज के कारण निश्चय ही अद्वितीय हैं।

मर्सिये

मर्सियों में उर्दू-साहित्य का एक विशेष काव्य-रूप हमें देखने को मिलता है। इन में प्राकृतिक चित्रण बहुत अच्छा हुआ है यद्यपि प्रकृति पृष्ठभूमि में ही दिखाई देती है। युद्धों और लड़ाइयों के सजीव चित्रण हैं। इनमें हमें बड़ी प्रभावशाली वर्णनात्मक कविता मिलेगी जिसमें ओज और प्रवाह है। विस्तार के साथ इस काव्यांग का वर्णन पुस्तक के दूसरे अध्याय में किया गया है।

क़िता और रुबाई

इन काव्य-रूपों की ओर लोगों का ध्यान कम गया है। इनमें उपदेशात्मक विचार और अच्छे-अच्छे विषय काव्यबद्ध किए गए हैं। सभी बड़े बड़े कवियों ने रुबाइयाँ रची हैं, जिनमें अनीस, दबीर

और हाली की रुबाइयाँ बहुत प्रसिद्ध हैं।

गुरु-शिष्य-संबध

उस्ताद (गुरु) और शागिर्द (शिष्य) का संबंध उर्दू में एक विशेष स्थान रखता है। प्रारंभिक रचनाएँ उस्ताद को दिखा ली जाती हैं और कवियों को काव्य कला में नियमित शिक्षा दी जाती है अतएव उर्दू कवि एक बड़ी शृंखला के अंग हैं। शागिर्द, साधारणतया अपने उस्ताद का अनुकरण करते हैं और उस्ताद की परंपरा का त्याग करना बुरा समझा जाता है। इस बंधन के कारण मौलिकता का हनन होता है, और कविता परंपरा-बद्ध हो जाती है। कभी-कभी कोई विशेष व्यक्ति अवश्य इस परंपरा को त्याग कर स्वतंत्र रूप से ख्याति प्राप्त कर लेता है।

मुशायरे

मुशायरे (कवि सम्मेलन) में कवि और कविता प्रेमी सब एकत्र होते हैं और एक निश्चित 'तरह' (=शैली) पर रचनाएँ प्रस्तुत की जाती हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इसके द्वारा उर्दू-कविता बहुत उन्नत हुई है। इस प्रकार की कोई वस्तु यूरोप में नहीं है।

तख़ल्लुस

कवि अपनी रचना में अपने लिये अपने नाम के अतिरिक्त एक विशिष्ट नाम धारण कर लेता है। इसे तख़ल्लुस (उपनाम) कहते हैं। कभी-कभी उस्ताद शागिर्द के लिये तखल्लुस चुन देते हैं। कभी-कभी अपने छोटे नाम से तख़ल्लुस का काम लिया जाता है।

उर्दू कविता की विशेषताएँ

उन त्रुटियों के रहते हुए भी जिनका कि वर्णन ऊपर हो चुका है उर्दू कविता भाव-पूर्ण कविता है और हमारे विचारों को आकर्षित करती है। इसके अतिरिक्त उसमें एक माधुर्य है और सूक्ष्मता है, और है एक अनोखापन। वह प्रेम में डूबी हुई है। दुख के

गीत, प्रेम की विफलताएँ, आकांक्षाएँ, विरह-वेदना और इस प्रकार के बीसियों विषय जो उर्दू कविता के प्राण हैं हमारे हृदय पर एक विशेष प्रभाव डालते हैं। इसमें ऐसे अमूल्यरत्न मिलेंगे जो विचारों की उच्चता, भावों की सूक्ष्मता, रस और माधुर्य, सुन्दर कल्पना, और हृदय में बार-बार उठने वाले गुणों के कारण अंग्रेज़ी क्या संसार के किसी साहित्य की बराबरी में प्रस्तुत किये जा सकते हैं। इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि इसका बहुत सा अंश गिरा हुआ और नीरस है। लेकिन यही हाल सारे संसार की कविता का है। उर्दू के गद्य और पद्य को अस्तित्व में आए हुये अभी बहुत समय नहीं बीता। लेकिन वर्तमान काल की संस्कृति और शिक्षा का प्रभाव उस पर अच्छा पड़ रहा है। इस कारण कि अब इसमें जातीय गीत और ओजपूर्ण और प्राकृतिक कवितायें और अंग्रेज़ी कविताओं के अनुवाद बहुतायत से होने लगे हैं। इससे ज्ञात होता है कि लेखक अब पुरानी लकीर के फ़कीर बने रहने के लिये तैयार नहीं हैं, और नए मार्ग निकालना चाहते हैं। जो भी हो उर्दू का भविष्य बहुत आशापूर्ण जान पड़ता है, क्योंकि पश्चिमी तथा पूर्वी – दोनों संस्कृतियों से प्रभावित लोग उसकी उन्नति में क्रियात्मक भाग ले रहे हैं और रुचि प्रदर्शित कर रहे हैं।

अध्याय—४

दकन के पुराने कवि

यह बात आश्चर्यजनक है कि उर्दू-कविता का प्रारंभ दकन के मुसल्मान शासकों के दरबार में, दकनी बोली में हुआ। इस बात को अधिक विस्तार के साथ लिखने से पूर्व यह समझ लेना उचित होगा कि दकनी से क्या तात्पर्य है और इसमें तथा उर्दू में क्या भेद है।

दकनी क्या है ?

दकनी भाषा हिंदुस्तानी की एक शाखा है जिसे कि दकन के मुसल्मान बोलते हैं। उर्दू की भाँति वहभी फ़ारसी (नस्तालीक़) लिपि में लिखी जाती है। लेकिन उसमें फ़ारसी शब्दों की बहुतातत नहीं है। उसकी कुछ विशेषताएँ हैं। जब मुसल्मान सेनाएँ अपने साथ अपनी भाषा को दकन में ले गईं उस समय उसमें बहुत से ऐसे मुहावरे प्रविष्ट हो गए जो अब उर्दू-साहित्य से वहिष्कृत हो गए हैं। जब इस भाषा का मेल आस-पास को भाषाओं अर्थात् मरहठी, तामिल, तेलगू से हुआ तो उसके मुहावरे और प्रयोगों में कुछ अंतर आ गया। उदाहरण के लिए सकर्मक क्रिया से पूर्व (Agent) कारक के साथ 'ने' का प्रयोग इसमें नहीं होता जैसा कि पश्चिमी हिन्दी में होता है। इसी तरह "मुझ को" के स्थान पर "मेरे को" बोलते हैं और इसी प्रकार की कतिपय विशेषताएं उत्तरी हिंदुस्तान में भी पहुँचीं जहाँ भाषा-सुधार की क्रमिक गति में उन में से बहुत सी लुप्त हो गईं। अतएव दकनी को भ्रष्ट साहित्यिक उर्दू समझ लेना ठीक नहीं है वरन् उसको उर्दू की एक भाषा समझना चाहिए जिसने बीजापूर और गोलकंडा के

दरबारों में विकास पाया और वली तथा उस समय के कवियों के प्रयत्न से उसे एक साहित्यिक भाषा का पद प्राप्त हुआ।

दकनी भाषा का प्रादुर्भाव

दकन प्रदेश की विजय ख़िलजियों के समय में आरम्भ हुई। सबसे प्रथम मुसलमान बादशाह जिसने दकन-प्रदेश पर आक्रमण किया और उसे विजय करके दिल्ली साम्राज्य के अधीन बनाया, सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी था। इसके बाद सुल्तान मुहम्मद तुग़लक का दो बार दकन जाना भी महत्व से शून्य नहीं है। क्योंकि सुल्तानी आज्ञा के अनुसार बहुत से दिल्ली निवासियों को अपना जन्म-स्थान छोड़ना पड़ा। बड़े-बड़े विद्वान और सूफ़ी साधारण लोगों के साथ बादशाह के साथ थे। इसके बाद भी आने-जाने का क्रम चलता रहा लेकिन इस सबका परिणाम यह हुआ कि दिल्ली उजड़ गई।

तारीख़े-फ़िरिश्ता में लिखा है:—"चूं नुमर्दमे अतराफ़ के दर। दौलताबाद बतकलीफ़ साकिन शुदाबूंदद परा गंदा गश्तंद। बादशाह मुद्दते दो साल दरआँजा मांदा, हिम्मत बरतामीरे दौलताबाद बगुमाश्त व मादरे ख़ुद मख़दूमए जहांराबा सायरेहरम हाये उमरा व सिपाही खानए दौलताबाद गरदा नीदा व अहदे अज़ मर्दुमें देहली रा कि ब आबोहवाए आंजा ख़ू गिरिफ़्ता बूदद बहाले ख़ुदन गुज़ाश्ता। तुर्रन बदौलताबाद फ़िरिस्ताद। व देहली व नौअए वीरान गश्त कि आवाज़ हेच मुतन फिरसे बजुज़ शिग़ाम व रोबाह व जानवराने सेहराई बगोश नमी रसीद।"[1]

सारांश यह कि दिल्ली के निवासी अब दकन के निवासी होगए और दिल्ली की हानि से दौलताबाद का लाभ हुआ। समय पाकर जलवायु के अन्तर, भाषा-भेद, स्थानीय लोगों के साथ मेल-जोल के कारण जो भाषा दिल्ली वाले अपने साथ ले गए थे उसमें प्रकट अन्तर

---

१ ब्रिग्स का अनुवाद, जिल्द २, पृ० २६२

उत्पन्न होगया; और अन्ततोगत्वा इन दोनों बोलियों में बहुत भेद जान पड़ने लगा।

दकन में उर्दू कविता के प्रारंभ के कारण

इस बात की खोज कि दकन में उर्दू कविता के प्रादुर्भाव के क्या कारण हुए, अत्यन्त मनोरंजक है। स्वाभाविक यह था कि इसका आरम्भ दिल्ली में हुआ होता, जो कि उसका वास्तविक घर था लेकिन इसके विपरीत हम देखते हैं कि उर्दू कविता का प्रारम्भ दिल्ली केन्द्र से बहुत दूर दकन में हुआ। इसका क्या कारण है? इस आवश्यक प्रश्न का उत्तर देने का बहुत कम प्रयत्न हुआ है। इसके समुचित उत्तर के लिए एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना का हवाला देना यह सब जानते हैं कि प्रसिद्ध बहमनी वंश का संस्थापक गंगू नाम के एक ब्राह्मण का चेला था। जब कि कालचक्र के फलस्वरूप वह गद्दी पर बैठा तो उसने गुरु का आदर करने के लिए न केवल उसका नाम अपने वंश से सम्मिलित कर लिया वरन् उसे अपना राजस्व-सचिव भी नियुक्त किया। 'तारीख़े-फ़िरिश्ता' में लिखा है कि यह साधारणतया विश्वास किया जाता है कि गंगू ब्राह्मण है जिसने एक मुसलमान बादशाह की सेवा ग्रहण की। उससे पूर्व ब्राह्मण लोग देश के प्रबंध में भाग नहीं लेते थे वरन् उनका जीवन धार्मिक कृत्यों में व्यतीत हुआ करता था। गंगू समझ से यह प्रथा चल पड़ी कि दकन के यहाँ सभी शाशकों के राजस्व सचिव का पद ब्राह्मणों को दिया जाने लगा। 'राजस्व'' (माल) विभाग में हिन्दुओं का नियुक्ति का यह परिणाम हुआ कि हिंदी भाषा ने शीघ्र उन्नति करना अरंभ किया और दो बड़े समूहों, अर्थात् हिंदुओं और मुसलमानों के बीच मेल बढ़ गया। इब्राहीम आदिलशाह ने, दूसरे प्रदेशों के लोगों के स्थान पर दकनियों को अपने यहाँ पदों पर रक्खा और उसकी आज्ञा से देश के आय-व्यय का हिसाब जो अब

तक फ़ारसी में रखा जाता था ब्राह्मणों के निरीक्षण में हिंदवी अथवा हिन्दी में लिखा जाने लगा।"[1]

इससे देशी भाषा को बहुत बल मिला क्योंकि अब वह सरकारी तथा दरबारी भाषा हो गई और उसने बड़ी उन्नति करना आरम्भ किया। हिन्दुओं की संख्या दकन प्रदेश में थोड़ी न थी और मुसलमान बादशाह आपस के युद्ध में हिंदू राजाओं की सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न किया करते थे। कभी एक मुसलमान हाकिम उनसे मेल करना चाहता था और कभी उसका विरोधी। कभी-कभी कुछ मुसलमान शासक किसी हिन्दू राजा के विरुद्ध भी आपस में मेल कर लेते थे, लेकिन इसे संपर्क और मेल-जोल का परिणाम यह अवश्य हुआ कि आपस के विचार विनिमय से भाषा लाभ उठाती रही। "इसमें कोई संदेह नहीं कि इन ३०० बरस के समय में अर्थात् जबतक बीजापूर और गोलकुंडा स्वतन्त्र राज्य रहे इन दोनों जातियों, अर्थात् हिन्दुओं और मुसलमानों में इतना मेलजोल था कि हिन्तुस्तान में किसी दूसरी जगह नहीं पाया जाता था। हिन्दू और मुसलमानों के बीच केवल साधारण व्यवहार और मेलमिलाप न था, वरन् हिन्दू प्रजा अपने मुसलमान बादशाहों से हार्दिक प्रेम किया करती थी और यह दशा बराबर बनी रही, यहाँ तक कि बीजापूर के राज्य के पतन के बाद मरहठों के साथ मुसलमानी अत्याचार ने इस स्थिति का अन्त कर दिया।[2] आपस के मेल-मिलाप और प्रेम का यह हाल था कि मुसलमान बादशाह और अमीर हिन्दू स्त्रियों से विवाह-संबंध करते थे और इसी प्रकार हिन्दुओं को भी मुसलमान स्त्रियों से विवाह-संबंध कर लेने

१—वही, जिल्द ३, पृ० ८०

२—ग्रिबिल्स, "हिस्ट्री आव दि दकन", जिल्द १, पृ० २६४ (टिप्पणियाँ)

में आपत्ति न थी। देश के प्रबन्ध में हिन्दुओं का बहुत बड़ी संख्या में सम्मिलित कर लिया जाना सहिष्णुता की नीति का बहुत बड़ा प्रमाण था। यद्यपि आपस में इन दोनों में युद्ध भी कभी-कभी हुआ करते थे लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं कि गुजरात के सुलतानों और बहमनी बादशाहों को शान्तिपूर्वक शासन करने के साधन दिल्ली के बादशाहों की अपेक्षा अधिक प्राप्त थे, जहाँ कि उत्तर से बराबर आक्रमण हुआ करते थे। अतएव, संक्षेप में, हिंदू मुसलमानों का आपस का मेल-जोल, दकन के शासकों के यहाँ हिंदुओं की उन्नति, हिसाब-किताब का देश की भाषा में बदल दिया जाना—यह सब मिल कर दकनी देशी भाषा के उन्नति करके साहित्यिक भाषा बनने के कारण हुए। इसके अतिरिक्त दकन प्रदेश में, बहुधा मुसल्मान धार्मिक पुरुष और औलिया भी रहते थे, जो हिंदू और मुसल्मानों की भाषा में कोई भेद नहीं करते थे। यह लोग जन-साधारण के साथ मेल-जोल के विचार से देसी भाषा ही पसंद करते थे। अतएव पुराने उर्दू लेखक प्रायः सूफ़ी हुआ करते थे। इस संक्षिप्त वर्णन से उर्दू कविता के प्रादुर्भाव का कुछ हाल तो मालूम हो गया लेकिन उस काल के कवियों के पूरे-पूरे वृत्तांत एक स्थल पर किसी समकालीन इतिहास में नहीं देखे गए। 'तज़किरों' (वृत्तांतों) में केवल थोड़े से कवियों के वर्णन मिलते हैं और उनकी रचनाओं के भी कुछ उदाहरण प्राप्त हैं, लेकिन "तज़किरे" बहुत बाद की रचनाएँ हैं। यह संतोष की बात है कि इस समय इस प्रश्न पर विशेष ध्यान दिया जा रहा है और हमें आशा है कि विद्वानों की शोध के परिणाम-स्वरूप इस पर पर्याप्त प्रकाश पड़ेगा।

बहमनी शाहों का समय · ७४८-९३२ हि०

आठवीं सदी हिज्री से दकन में विद्या और साहित्य का आरंभ होता है। इस समय की रचनाओं के जो उदाहरण हमें मिलते हैं वह अधिकांश धार्मिक पुस्तकों के रूप में हैं और उनके रचयिता उस समय के सूफ़ी

मत के लोग थे जिनमें से विशेष प्रसिद्ध निम्न हैं : गंजुल इस्लाम, शेख अईनुद्दीन (मृत्यु ७९५ हि०), ख्वाजा सैयद गेसूदराज़; शाह मीरान जी, मौलाना वजही, और सैयद शाह मीर आदि। इनमें से अधिकांश गद्य-लेखक थे। इनका कुछ संक्षिप्त वर्णन हम इस पुस्तक के गद्य-भाग में करेंगे।

क़ुतुब शाहियों का समय ९१६-१०८ हि०

बहमनी सल्तनत के पतन के अनंतर, बीजापुर, गोलकुंडा और अहमद नगर की छोटी-छोटी सल्तनतें स्थापित हुईं। इस समय में दकनी भाषा की बड़ी उन्नति हुई। हिन्दू रानियों के कारण जो कि शाही महलों में थीं, देशी भाषा को और भी बल मिला। यूसुफ़ आदिल शाह की स्त्री जो बूबू जी के नाम से प्रसिद्ध थी; मुकुन्द-राव मरहठा की बहन थीं। भागमती सुल्तान मुहम्मद क़ुली शाह की प्रिय पत्नी थीं। अहमद नगर के शासक अहमद निज़ाम शाह की माता भी हिंदू थीं

गोल कुंडा और बीजापूर के शाह बड़े सुसंस्कृत और योग्य बाद-शाह थे। कवियों को आश्रय देने के अतिरिक्त स्वयं भी फ़ारसी और दकनी दोनों भाषाओं में कविता करते थे। उर्दू को दकन में दकनी कहते हैं। उनके दरबार में ऐसे लोग एकत्र होते थे जो फ़ारसी और अरबी के विद्वान् थे। इस नई भाषा के आस-पास तिलंगी, मरहठी और कन्नड़ी भाषाएँ बोली जाती थीं, लेकिन बे-मेल होने के कारण उनसे उर्दू को कोई लाभ न पहुँच सकता था। इसके अतिरिक्त नई भाषा के प्रचार का दायित्व ऐसे लोगों पर था जो फ़ारसी के अतिरिक्त अन्य भाषाओं से अपरिचित थे। इसी कारण इस नई भाषा, अर्थात् दकनी का गठन फ़ारसी के अनुसार हुआ। गोलकुण्डा का दरबार उस समय के कवियों और विद्वानों का केन्द्र था जिनमें निम्नलिखित कवियों के नाम तज़करों में मिलते हैं, लेकिन इनके वृत्तांत नहीं मिलते:—ग़वासी; मुल्ला

क़ुतुबी, इब्न निशाती, जुनैदी, तबई, नूरी, फ़ायज़, शाही, मिर्ज़ा, शअर, बेचारा, तालिब, मोमिन।

सुल्तान मुहम्मद कुली क़ुतुबशाह १५८०-१६११ ई०

यह सल्तनत १५१८ ई० में स्थापित हुई और उन्नति के शिखर पर पहुँच गई। सुल्तान कुली क़ुतुबशाह अपने पिता इब्राहीम क़ुतुबशाह की मृत्यु पर जो सन् १५८१ ई० में घटित हुई १२ वर्ष की अवस्था में गद्दी पर बैठा। १५८७ ई० में, इस सुल्तान ने बीजापूर के शासक इब्राहीम आदिलशाह के साथ संधि कर अपनी बहन का विवाह उनके साथ कर दिया। वह शहंशाह अकबर और शाह अब्बास सफ़वी का समकालीन था। गोल-कुंडा से कुछ दूरी पर अपनी प्रियतमा भागमती के नाम से उसने एक शहर भागनगर बसाया। लेकिन कुछ समय के बाद, इस नाम को बदल कर इसी नगर को हैदराबाद के नाम से विख्यात किया और यह आज के दकन के शासक की प्रसिद्ध राजधानी है। क़ुतुबशाह को कविता के अतिरिक्त अन्य ललित कलाओं से भी प्रेम था। अतएव निर्माण-कला से भी उसे प्रेम था। दो प्रसिद्ध इमारतें, ख़ुदादाद महल और बारगाह ख़ुसरवी निर्माण कराइ। उनके दरबार में बड़े-बड़े कवियों और विद्वानों ने अरब और फ़ारस से आकर आश्रय लिया और उनकी उदारता से लाभ उठाया। बादशाह ने एक विशेष समय निश्चित किया था जबकि विद्वानों में विवाद और मुशायरे (कवि-सम्मेलन) होते थे। सुलेखन के प्रति भी इनकी विशेष अभिरुचि थी। अतएव इराक़ और ईरान के प्रसिद्ध सुलेखक इनके दरबार में एकत्र हो गए थे। अन्य योग्य व्यक्तियों के अतिरिक्त दो प्रसिद्ध विद्वान् उनके दरबार में मीरमोहम्मद मोमिन इस्तराबादी, और मीर जुमला थे। क़ुतुबशाह का धर्म शिया था, और वह बहुधा बाद-विवाद अपने धर्म के पक्ष में दरबार में कराया करते थे। इसी धार्मिक रुचि के कारण इस

शासन काल में बहुत से मर्सिए रचे गए कला-प्रेमी होने के अतिरिक्त वह स्वयं एक अच्छे कवि थे। अतएव उनकी रचनाएँ, दकनी, तिलंगी व फ़ारसी भाषाओं में १८०० पृष्ठों के एक बृहत् संग्रह के रूप में सुरक्षित है। फ़ारसी कविता में क़ुतुबशाह और दकनी में मआनी तख़ल्लुस (उपनाम) करते थे। उनकी संग्रहीत रचनाओं में कविता के निम्नलिखित विविध रूप मिलते हैं:—मसनवियाँ, क़सीदे, तजीअबंद, मरसिये (फ़ारसी व दकनी में), और रुबाइयां। भूमिका से ज्ञात होता है कि उन्होंने ५०००० से अधिक शेर कहे थे। सरलता और माधुर्य इनकी भाषा की विशेषताएँ हैं। सूफ़ियाना और शृंगारी रङ्ग सौदा भी इनकी कविता में पाया जाता है। समाज-चित्रण और प्रकृति-चित्रण की नींव भी उर्दू कविता मे इन्हीं की रक्खी हुई है जो कि आगे चल कर सौदा और नज़ीर की रचनाओं में प्रस्फुटित हुई। बहुधा मसनवियाँ हिन्दुस्तानी फलों और एक हिन्दुस्तानी तरकारियों और एक शिकारी चिड़ियों के सम्बन्ध में है। कुछ कविताओं में शादी-ब्याह और जन्म के अवसर के रीति रिवाज, हिन्दू और मुसल्मानों के धार्मिक व्यवहार, जैसे होली दिवाली, ईद, बक़रीद, बसन्त आदि; कुछ में हिन्दुस्तान की वर्षा-ऋतु का वर्णन अत्यंत मनोरंजक ढङ्ग से किया गया है। इसी प्रकार एक मनोरंजक विवाद सुराही और सागर (प्याला) का छंदोबद्ध किया है। मुहम्मद शाही बाग की प्रशंसा में एक क़सीदा है। ख़ुदा, रसूल और उनके साथियों की प्रशंसा में कविताएँ है। करबला की दुखद घटना के सम्बन्ध में प्रभावशाली मर्सिये भी कहे हैं। क़ुली क़ुतुबशाह पहले व्यक्ति हैं जिनकी उर्दू रचनाएँ संग्रह के रूप में प्राप्त हैं। उनकी भाषा में पर्याप्त प्रौढ़ता पाई जाती है। संभव है उनसे भी पहले कुछ लोग हुए हैं जिन्हों ने कविता की हो, लेकिन उनकी रचनाओं का इस समय तक पता नहीं मिला कुछ धार्मिक मसनवियाँ क़ुतुब शाह से पूर्व की प्राप्त हैं लेकिन उन्हें किसी भी

अर्थ में साहित्यिक रचनाएँ नहीं कहा जा सकता। क़ुतुब शाह ही की रचनाएँ अब तक ऐसी रचनाएँ कही जा सकती है जिनमें साहित्यिक गौरव उपस्थित है। उन्होंने सब से पहले फ़ारसी के अनुकरण में रचनाएँ कीं, और एक 'दीवान' वर्णक्रमानुसार तैयार किया। इस प्रकार के संग्रह का श्रेय अज्ञानवश अभी तक वली को प्राप्त था। विभिन्न विषयों के अतिरिक्त उनकी रचनाओं की एक विशिष्टता यह है कि वह मौलिक हैं और उनमें एक नवीनता है और कुछ स्थानीय रुचि की बातों को भी उन्हों ने लेखनीबद्ध किया है। फ़ारसी के वह पूर्णरूप से अनुकरण करने वाले नहीं हैं, क्योंकि उनकी रचनाओं में हिंदी का भी बहुत बड़ा प्रभाव पाया जाता है। हिंदी शब्द और प्रयोग, हिंदी रूपक और उपमाएँ, फ़ारसी शब्दों को भी हिंदी रूप देना, ठेट भाषा में ईश्वर की प्रशंसा, हिंदू शूर-वीरों और हिंदुस्तान की कथाओं का वर्णन, स्त्री की ओर से पुरुष के प्रति प्रेम-प्रदर्शन जो कि हिंदी कविता की विशिष्टता हैं—यह सब बातें उनकी रचनाओं में मिलती हैं। प्रियतम से संबोधन का ढंग जो कि बाद में उलट गया उनके यहाँ ठीक प्रकार का पाया जाता है। उसी के साथ फ़ारसी के पद का भी ध्यान रखा गया। वहां से छंद रचनाओं के साहित्यिक रूप, शब्द, मुहावरे, प्रयोग, विषय, उपमाएँ और रूपक लिए गए हैं। पांडित्य-प्रदर्शन उनकी रचनाओं में नहीं और फ़ारसी तथा अरबी के शब्द उसी रूप में लिए गये हैं जिसमें कि साधारणतः बोले जाते हैं। कोष के अनुसार उनके शोधने का विचार नहीं किया गया है। अब चूंकि वह भाषा पुरानी पड़ गई है, और लोगों को उसमें रस नहीं आता इस लिए उनकी रचनाएँ चाव से पढ़ी नहीं जातीं, लेकिन शोध का क्षेत्र विस्तृत होगा तो निश्चय ही क़ुतुबशाह की रचनाएँ पुनः आदर पावेंगी।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि क़ुली क़ुतुब शाह उन लोगों

में हैं जिन्होंने सब से पहले अपनी रचनाओं का संग्रह किया और उर्दू भाषा को ऐसा विस्तार दिया कि यह एक साहित्यक भाषा बनने की क्षमता रखने लगी। उन्होंने एक ऐसी साहित्यिक परंपरा की नींव रक्खी जिसके अनुयायी मीर, सौदा, अनीस, दबीर, ज़ौक और ग़ालिब हुए। रचना का उदाहरण :—

दिल नाँग ख़ुदा किन कि ख़ुदा काम दवेगा।
तुमनन कि मुरादन के भरे जाम दवेगा॥
करते हैं दावा शेर का सब अपनी तबासों।
बख़्शा फ़ग्मीह शेर मआफ़ी के तई ख़ुदा॥

सुल्तान मुहम्मद क़ुतुबशाह
१५९१-१६२५ ई०

सुल्तान मुहम्मद क़ुतुबशाह सुल्तान क़ुली क़ुतुबशाह के भतीजे और उत्तराधिकारी थे। उनका जन्म गोलकुंडा में १५९१ ई० में हुआ और उनका विवाह अपनी चचेरी बहन अर्थात् सुल्तान क़ुली क़ुतुबशाह की बेटी से हुआ था। आचार-विचार से वे अत्यंत धार्मिक, दानी, और निर्माण-कला के प्रेमी थे। अन्य इमारतों के अतिरिक्त इलाही महल, जामामसजिद (जो मक्का मसजिद के नाम से विशेष प्रसिद्ध है) मुहम्मदी महल, दाल महल प्रसिद्ध हैं। फ़ारसी तथा उर्दू गद्य और पद्य के सुलेखक थे। उनके दो दीवान (संग्रह) हैं—एक फ़ारसी और एक दकनी जिनमें काव्य के विविध रूप उपस्थित हैं। फ़ारसी में ज़िल्लुल्ला और उर्दू में क़ुतुबशाह उपनाम करते हैं। इसी उपनाम की समानता के कारण दोनों बादशाहों की रचनाएँ मिश्रित हो गई हैं। लेकिन यह स्मरण रखना चाहिये कि इनका उपनाम उर्दू रचनाओं के लिए और सुल्तान क़ुली क़ुतुबशाह का फ़ारसी के लिए विशिष्ट था। इनके दोनों दीवान हैदराबाद में नवाब सर सालारजंग के पुस्तकालय में

५

उपस्थित हैं। इनकी रचना में भी माधुर्य, सरलता, सुरुचि पाई जाती है। उदाहरण—

सखी तू हर घड़ी मुझ पर न कर ग़ैज़।
मुहब्बत पर नज़र रख कर बसर ग़ैज़॥

× × ×

दो लब तेरे रंगीले याक़ूत के दे रंग।
ले भांक रंग अक़ी कां रंगीं हुए यमन में॥

सुल्तान अब्दुल्ला क़ुतुबशाह १६२५-७४ ई०

अब्दुल्ला क़ुतुबशाह सुल्तान, मुहम्मद क़ुतुबशाह के बेटे और क़ुतुबशाही सुल्तानों में छठे बादशाह थे। सन् १६१४ ई० में इनका जन्म हुआ और अपने पिता की मृत्यु के अनंतर १६२५ में गद्दी पर बैठे। उन्होंने शाहजहाँ के सामने सिर झुकाया और उनका करद होना स्वीकार किया। १६५६ ई० में जब शाहजहाँ उनसे अप्रसन्न हुए तो शाहज़ादा औरंगज़ेब ने, जो उस समय दकन के राजकीय प्रदेश के सूबेदार थे हैदराबाद पर चढ़ाई कर के उस नगर को विध्वंस कर दिया। अब्दुल्ला ने अपनी पराजय स्वीकार करके संधि की सभी शर्तें स्वीकार कर लीं, और इस समय से वह मुग़ल साम्राज्य का एक करद बन गया। यह भी अपने पिता की भाँति कविता के प्रेमी थे और उन्हीं की भाँति इन्हें भी निर्माण-कला से रुचि थी। इनका दरबार भी फ़ारस और अरब के विद्वानों से भरा रहता था, और वे सब इनकी दानशीलता से लाभान्वित होते थे। अनेक पुस्तकें इस राज्यकाल में उनके नाम से लिखी गईं; उदाहरण के लिए "बुरहानक़ाते" और "लुग़ात फ़ारसी" नाम का एक फ़ारसी शब्द-कोष। यह फ़ारसी और दकनी दोनों में कविता किया करते थे और उपनाम 'अब्दुल्ला' था। इनके दीवान फ़ारसी और उर्दू दोनों में प्राप्त हैं। इनकी कविता बहुत सुथरी और मधुर होती है। आसफ़ी मल्कापुरी ने अपने "तज़किरे

शुअराय दकन" में उनके उर्दू शेर उदाहरण-रूप में प्रस्तुत किए हैं। इनकी रचना का उदाहरण यह है :

तेरी पेशानी पर टीका झमकता।
तमाशा है उजाले में उजाला॥

× × ×

आबेहयात से है ज़ियादा यह लब तेरा।
करते हैं मुझ से खिज्र अले उस्सलाम बहस॥

× × ×

जो कुछ राज़ परदे में हैं ग़ैब के।
सो मग़्फ़ी नहीं उसपै हैं आशकारा॥

इब्ननिशाती

दकन के इस काल के कवियों में इब्न-निशाती बहुत प्रसिद्ध हुए हैं। यह गोलकुंडा के रहने वाले और सुल्तान अब्दुल्ला कुतुबशाह के दरबारी कवि थे। इनका जीवनवृत्त कुछ ज्ञात नहीं। केवल इतना ज्ञात है कि यह "फूलबन" नामक एक मसनवी के रचयिता हैं जो कि दकनी भाषा में है और एक प्रेम-कथा है। इसका नाम इसकी नायिका के नाम पर रखा गया है और यह ख़याल किया जाता है कि यह एक फ़ारसी पुस्तक "बसातीन" का अनुवाद है। इसमें सिकंदर और लुक़मान की कथाएँ भी हैं और कंचनपाटन नाम के एक कल्पित नगर का वृत्तांत है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति लगभग १३० पृष्ठों की ईस्टइंडिया हाउस के पुस्तकालय में सुरक्षित है। प्रथानुसार ईश्वर प्रार्थना और रसूल की प्रसंशा से आरभ होता है। इसके बाद सुल्तान अब्दुल्ला क़ुतुबशाह की प्रसंशा है; फिर मूल कथा आरंभ होती है। कथा में मनुष्यों के काया बदलने और पशुओं की काया में प्रविष्ट होने की चर्चा भी है। कोई आश्चर्य नहीं कि सफ़्दर ने

इसी को पढ़ने के बाद "क़िसाना अजायब" लिखी हो। इसकी रचना १०७६ हिज्री में हुई।[1]

ग़वासी की "सैफ़ुल्मुलूक" नामक कथा

ग़वासी ने दकनी भाषा में एक मसनवी लिखी है जिसमें मिस्र के शाहज़ादे सैफ़ुल्मुलूक और चीन की शाहज़ादी बदीउल्जमाल की प्रेमकथा है। इसका रचना काल सन् १०३६ हि० है। ग़वासी शिया मत का था और अब्दुल्ला क़ुतुबशाह के दरबार का कवि था। सैफ़ुल्मुलूक की कथा संभवतः "अलिफ़ लैला" के किसी फ़ारसी अनुवाद से ली गई है। आरंभ में ईश्वर की प्रार्थना, रसूल की प्रशंसा, ख़लीफ़ों और संतों की प्रशंसा तथा बादशाह की प्रशंसा है। यह अंतिम पुस्तक के १८ वें शेर में है। उन्होंने एक और मसनवी भी लिखी थी जिसका नाम "तूतीनामा" है, और यह १०४९ हि० में समाप्त हुई। इसे सर चार्ल्स लायल भ्रम से निशाती की रचना बताते हैं। वास्तव में यह कथा ज़ियाय बख्शवी के फ़ारसी "तूती-नामा" से सुल्तान अब्दुल्ला क़ुतुबशाह के राज्य-काल में उर्दू में अनूदित हुई थी, क्योंकि भूमिका में उन्हीं की बहुत अधिक प्रशंसा है। इसका वास्तविक आधार संस्कृत-पुस्तक "शुकसप्तति" बताया जाता है। ग़वासी की इस कथा से मौलवी हैदरबख्श ने, जो फ़ोर्ट विलियम कालेज कलकत्ता में अध्यापक थे अपना प्रसिद्ध "तूतीनामा" सन् १८०१ में तैयार किया। ग़वासी ने अपना तख़ल्लुस (उपनाम) एक छंद में दिया है और रचना-काल भूमिका में १६२९ ई० (१ रजब, १०४९ हि०) पाया जाता है। मुल्ला ग़वासी गोलकुंडा के निवासी और सुल्तान अब्दुल्ला क़ुतुबशाह के समकालीन हैं। नुसरती ने "गुलशने इश्क़" में इनका वृत्तांत दिया है:—

१—"दकन में उर्दू" पृ० १२

पड़ी कुछ ग़वासी तनी कर ख़याल ।
किया ताज़ा बाग़े बदी उल्जमाल ॥

मीर हसन अपने "तज़किरे" में लिखते हैं :—"ग़वासी तख़ल्लुस दरवक़्त जहाँगीर सन् १०१४ हि० सन् १०३७ हि० बूद, तूतीनामए नख़्शबी रानज़्म नमूदाअस्त, बज़बान क़दीम निस्फ़ फ़ारसी निस्फ़ हिंदी बतौर विकट कहानी । सरसरी दीदाबूदम शेर आं नज़्म यादनेस्त ।"

मौलाना वजही "सबरस" नामक एक प्रमुख ग्रंथ का वर्णन भी यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है जिसे कि दकनी गद्य रचित "सबरस" में मौलाना वजही ने रचा था । यह मौलाना सुल्तान अब्दुल्ला क़ुतुबशाह के दरबारी कवि और ग़वासी के समकालीन थे । यह पुस्तक सुल्तान अब्दुल्ला क़ुतुबशाह की आज्ञा से १०४० हि० या १०४५ हि० में रची गई । "सबरस" से पूर्व के भी पुरानी दकनी के गद्य के उदाहरण प्राप्त हैं, लेकिन वह सब धार्मिक रंग लिए हुए या सूफ़ियाना हैं । सबसे बड़ी विशेषता इस पुस्तक की, जैसा कि मौलवी अब्दुल हक़ साहब, मंत्री, अंजुमन तरक़्क़ी उर्दू ने बतलाया है, और जिनके प्रयत्न के फल-स्वरूप यह पुस्तक पाठकों के सम्मुख आई है, कि यह एक श्रृङ्खलाबद्ध कथा है । इसके अतिरिक्त इसकी भाषा साहित्यिक है । गद्य 'मुक़फ़्फ़ा' (तुकयुक्त) है, जैसा कि फ़ारसी में ज़हूरी का रंग है । भाषा बहुत स्पष्ट और सरल है । कथा में प्रगति है । कथा-वस्तु बहुत संक्षिप्त है और लेखक ने इसका प्रयोग जगह-जगह प्रेम, बुद्धि, वीरता, ईर्ष्या आदि विषयों पर छंदों के प्रस्तुत करने का इससे काम लिया है । इसकी भषा भी वैसी ही है जैसी कि क़ुतुबशाही "कुल्लियात" (संग्रह-ग्रंथों) की है ।

तहसानुद्दीन संभव है कि यह नाम हो अथवा कोई उपाधि । इन सज्जन ने एक मसनवी लिखी जसका नाम "कामरूप-कला" है । कला लंका के राजा की

बेटी नायिका है और अवध के शाह का बेटा कामरूप नायक है। कथा यह है कि यह दोनों स्वप्न में एक-दूसरे पर आसक्त हो गए, जैसा कि "अलिफ़ लैला" में चीन वाली शाहज़ादी के संबंध में लिखा है। कामरूप अपनी अनदेखी वरन् स्वप्न में देखी हुई प्रियतमा की खोज में देश-देश फिरता है, जहाँ उस पर आश्चर्यजनक घटनाएँ घटती हैं; अंततोगत्वा उसका विवाह कला के साथ हो जाता है। इसमें विचारणीय बात यह है कि लेखक मुसलमान है और कथा के पात्र सब हिंदू हैं। इसी मसनवी को गार्सां द तासी ने १८३६ ई० में "कामरूप कथा" के नाम से प्रकाशित किया था। यह बात भी मनोरंजन से शून्य नहीं है कि प्रसिद्ध जर्मन कवि गेटे ने इस काव्य का अनुवाद कराके सुना और उससे बहुत प्रभावित हुआ।

मुल्ला क़ुत्बी

इन्होंने १०४६ हि० में "तोहफ़तुलन सायद" का अनुवाद फ़ारसी भाषा से दकनी में किया। यह पुस्तक शेख़ यूसुफ़ देहलवी ने ७९५ हि० में अपने पुत्र की शिक्षा के लिए रची थी। यह ७८६ छंदों का एक उपदेशात्मक ग्रंथ है जिसका कि मुल्ला क़ुतबी ने उसी छंद, उसी रदीफ़ और काफ़िये (तुक) में अनुवाद किया है।

जुनैदी

इनके विषय में इसके अतिरिक्त कुछ ज्ञात नहीं कि वह "माह पैकर" नाम की एक मसनवी के रचयिता हैं। इसका रचना-काल १०६४ हि० है।

तबई

गोलकुंडा के निवासी और सुल्तान अब्दुल्ला क़ुतबशाह के समकालीन थे। इनकी एक मसनवी "बहरामगेव-गुलअंदाम" है जिसका विषय हफ़्त पैकर निज़ामी की रचना पर आश्रित है। रचना-काल १०८१ हि० है। भूमिका शाह राजू हुसैनी के नाम से है, जो गोलकुंडा के एक

बहुत सम्मान्य व्यक्ति और ओलिया (धार्मिक पुरुष) थे और अंत में अबुल सहन ताना शाह की प्रशंसा है। यह लगभग १३-१४ सौ शेर की मसनवी है।

अबुल्हसन क़ुतुबशाह १६७४-८७ ई० मृत्यु–१७०४ ई०

अबुल्हसन क़ुतुबशाह, जो तानाशाह के नाम से प्रसिद्ध है, गोलकुंडा का सबसे अंतिम मुकुट-धर था। यह विलासी अवश्य था परंतु बड़ा सुसंस्कृत व्यक्ति था और कवियों तथा विद्वानों का संरक्षक था। "तज़किरए गुलशने हिंद" में एक शेर उसका रचा हुआ कहा जाता है। यह अब्दुल्ला क़ुतुबशाह का दामाद था और उसकी मृत्यु पर गद्दी पर बैठा। जब गोलकुंडा सात महीने के घेरे के बाद १६८७ ई० में विजित हुआ और इस प्रकार मुग़ल साम्राज्य का एक सूबा बना तो अबुल्हसन बंदी कर लिया गया, और उसका शेष जीवन बंदीगृह में व्यतीत हुआ। प्रसिद्ध है कि उसे हुक्के से बड़ी रुचि थी। अतएव उसने हुक्का पीने की आज्ञा कैदख़ाने में भी प्राप्त की थी। निम्नलिखित व्यक्ति अबुल्हसन तानाशाह के समय में थे या उनके दरबार के कवि थे :—

नूरी

सैयद शुजा उद्दीन नूरी गुजरात के एक प्रसिद्ध वंश के व्यक्ति थे। वे सुल्तान अबुल्हसन तानाशाह के बेटे को पढ़ाते थे। मीर हसन ने अपने "तज़किरे" में उनकी चर्चा की है। इनको उन मुल्ला नूरी से न मिलाना चाहिये जो फ़ैज़ी के मित्र थे और जिनका एक शेर "क़ायम" ने अपने "तज़किरे" में उद्धृत किया है। गार्साँ द तासी और सर चार्ल्स लायल ने नाम के साम्य के कारण धोका खाया है और दोनों को एक समझा है।

फ़ायज़

यह गोलकुंडा के रहने वाले, तानाशाह के राज्य-काल के कवि थे। सन् १०६४ हि० में उन्होंने "क़िस्सए रिजवांशाह" व "रूह अफ़ज़ां" का

अनुवाद फ़ारसी गद्य से दकनी पद्य में किया। यह मसनवी "क़िस्सए रिजवांशाह" के नाम से प्रसिद्ध है। लेकिन कुतुबखाना आसफ़िया में "मसनवी रूह अफ़ज़ां" के नाम से है।

मिरज़ा

अबुलक़ासिम, उपनाम मिर्ज़ा, हैदराबाद के रहने वाले और शाह के मुसाहब (दरबारी) थे। तानाशाह की सल्तनत के समाप्त होने पर यह फ़कीर हो गये और हैदराबाद में शेष आयु व्यतीत कर के वहीं मरे। मीरहसन के 'तज़किरा' में इनकी चर्चा है।

आदिल शाहियों का काल ८७५-१०९७ हि०

आदिल शाही सल्तनत की नींव पड़ने से बहुत समय पहले उर्दू भाषा आम भाषा हो गई थी। अमीर-ग़रीब, साधारण और संभ्रांत सभी लोग इस भाषा में बात-चीत करते थे। बहमनी सुल्तानों ने यहाँ के शाही दफ़्तर को भी इसी भाषा में कर लेकिन दिया था यूसुफ़ आदिल शाह और उसके बेटे इस्माईल आदिल शाह ने अपने समय में शाही दफ़्तर को फ़ारसी में पलट दिया। न्यूनाधिक ५० वर्ष फ़ारसी उन्नति पर रही। इब्राहीम आदिल शाह प्रथम ने जब गद्दी प्राप्त की तो उसने पूर्वानुसार फ़ारसी के स्थान पर शाही दफ़्तरों में उर्दू को प्रचलन दिया, और यह भाषा सल्तनत की भाषा निश्चित हुई। इतिहासकार ख़ाफ़ी ख़ां ने भी इस घटना का वर्णन किया है। अली आदिल शाह प्रथम ने अपने समय में फ़ारसी भाषा को प्रचारित किया। लेकिन जब इब्राहीम आदिल शाह द्वितीय गद्दी पर बैठा तो शाही दफ़्तरों में फिर उर्दू भाषा प्रचलित हुई, और आदिलशाही सल्तनत के अंतिम दिनों तक बराबर चलती रही।

इब्राहीम आदिल शाह द्वितीय— सन १५८०-१६२६ ई०

गोलकुंडा के बादशाहों के सदृश बीजापूर के सुल्तान भी बड़े सुशिक्षित, उदार विचार के और विद्वानों के आश्रय-दाता थे। अतएव इब्राहीम आदिल शाह को भी कविता और निर्माण-कला में विशेष अभिरुचि थी। फ़ारसी का प्रमुख कवि ज़हूरी जो हिंदुस्तान में १५८० में आया और जिसने १६१६ ई० में मृत्यु पाई, इसी दरबार का बड़ा प्रसिद्ध कवि था। ज़हूरी की दो पुस्तकें "ख़वाने-ख़लील" और गुलज़ार-इब्राहीम" इसी इब्राहीम आदिलशाह के नाम पर हैं, और उसकी तीन प्रसिद्ध फ़ारसी गद्य-रचनाएँ जो "सेह नस्र ज़हूरी" के नाम से प्रसिद्ध हैं इब्राहीम आदिलशाह की रचना "नवरस" की भूमिका के रूप में हैं, जो हिंदी कविता में संगीत-विद्या की एक प्रतिष्ठित पुस्तक है। मीर संजर और मलिक कुम्मी भी इसी दरबार के बड़े कवि थे। सैयद शम्शुल्ला साहब क़ादरी लिखते हैं:—"इब्राहीम आदिलशाह को संगीत का गहरा ज्ञान था, विशेष कर हिंदी संगीत में ऐसे गुणी थे कि उस समय के सारे गवैये उसे 'जगत् गुरू' कहा करते थे। उसने संगीत-विद्या में 'ध्रुपद' एक पुस्तक लिखी है जिसमें हिंदी संगीत के नियम लेखनी-बद्ध हुए हैं। उसका नाम 'नवरस नामा' रखा था। यह पुस्तक दकनी पद्य में है। मुल्लाज़हूरी ने इस पर भूमिका लिखी थी, जो इस समय सेह नस्रज़हूरी के नाम से प्रसिद्ध है।" 'गुलेराना' के लेखक लिखते हैं: "कि संगीत का प्रेम ऐसा बढ़ा कि हिंदुस्तान भर से बुलाकर तीन चार हज़ार गवैये बीजापूर में एकत्र किये गए और १००८ हि० में बीजापूर के निकट नौरसपूर के नाम से एक बड़ा नगर बसाया, जिसमें गुरू और चेलों के लिए बड़ी-बड़ी इमारतें तैयार हो गईं। शाही महल का नाम 'नौरसमहल', शाही मुहर पर 'नौरसी सिक्का'

विद्याओं के नाम 'नौरसी', कुछ कवियों ने अपने उपनाम बदल कर 'नौरसी' कर लिए।"

अली आदिल शाह द्वितीय १६५६-१६७६ई०

इस सुल्तान के दरबार में भी प्रसिद्ध कवि-गण और विद्वद्गण उपस्थित थे। देश की शांति प्रसिद्ध मरहठा सरदार शिवाजी के निरंतर आक्रमणों के कारण ध्वस्त हो गई थी। शिवाजी ने बहुत से क़िले विजय कर लिये थे और अफ़ज़ल ख़ां का जो बीजापूर का सरदार था, वध कर दिया। इसी अली आदिलशाह के समय का प्रसिद्ध कवि नुसरती, जिसका नाम मुहम्मद नुसरत था और कर्नाटक के शासकों का संबंधी था, कर्नाटक से बीजापूर आया जहाँ अली आदिलशाह ने उसको मनसबदारी का पद प्रदान किया और अपना कृपापात्र बनाया। अली आदिल शाह द्वितीय को दकनी से बड़ी रुचि थी और वह दकनी कवियों का बड़ा आदर करता था। ख़ाफ़ी ख़ां के अनुसार:—"बादशाहे बूद बाहोश सिपाही दोस्त वदर सख़ावत व शुजा-अत व वसअत ख़ल्क़ मशहूर दर हक़. शायराने हिंदी जियादा मुराआत मी फ़रमूद। दर अहदेऊ तर्जुमए यूसुफ़ जुलैख़ा मुल्ला तालीफ़ जायी व तर्जुमए रौज़तुश्शोहदा व क़िस्सए मनोहर व मधुमालत कि आक़िल ख़ां ख़्वाफ़ीब नज़्म दर आ वुर्दा मुल्ला नुसरती व दीगर शायराने बीजा पूरी वज़बाने दकनी तालीफ़नमूदा। अज़ नक़्द वो जिन्स सिलए वाफ़िर दा ख़ुरे सलातीन याफ़्तंदा।"

इस काल के प्रसिद्ध कवि ये हैं:—रुस्मी, नुसरती, शाह मलिक, अमीन, सेवा, मौमिन, हाशिम, मिर्ज़ा।

रुस्मी

रुस्मी का नाम कमाल ख़ां था और पिता का नाम इस्माईल ख़ां। दरबार बीजापूर से इसका संबंध था। रुस्मी ने ख़रीजे सुल्ताना शाह बानू बेगम की

आज्ञा से १०५६ हि० म "खावर नामा" का फारसी स दकनी पद्य में अनुवाद किया। "खावर नामा" में अमीर अलैस्सलाम का वृत्तांत है और फिरदौसी के "शाह नामा" के ढंग पर लिखा है। शहर बानू बेगम का विवाह सुल्तान मुहम्मद बिन इब्राहीम आदिलशाह के साथ हुआ था।[1]

नुसरती इनका वृत्तांत निश्चित रूप से कुछ ज्ञात नहीं। सैयद शमशुल्ला कादरी के अनुसार "नसरती" का नाम शेख नुसरत और जन्मभूमि बीजापूर है। इनके पूर्वज बीजापूर में फ़ौजी नौकरी में थे और पिता शाही घोड़ों के सुलहदार थे। अतएव स्वयं नुसरती ने इसकी चर्चा की है। नुसरती के भाई शेख़ मंसूर एक भावुक और ईश्वर-प्रेमी व्यक्ति थे। बीजापूर के प्रसिद्ध फ़क़ीरों में उनकी गिनती होती है। "गुलशन इश्क़" की भूमिका से प्रकट होता है कि नुसरती ने मुहम्मद आदिल शाह के समय में दरबार में प्रवेश प्राप्त कर लिया था और अली आदिल शाह के समय में उन्नति की और 'मलिकुश्शोअरा' (महाकवि) की उपाधि प्राप्त की।"[2]

अब्दुज्जब्बार खाँ मलकापुरी ने अपने 'तज़किरा शोअराय दकन" में नुसरती की इस तरह चर्चा की है: "नुसरती उपनाम, मुहम्मद नुसरत नाम, दकनी जन्म है। कर्नाटक के हाकिम के निकट-संबंधियों में से था। आपका निर्वाह कृपा और संतोष पर निर्भर था। बहुत समय तक कर्नाटक में रहा। फिर सैर करता हुआ बीजापूर में आया। सन् १०७६ हि०में दकनी भाषा में "अली नामा" लिखा। इस पर "मलिकुशो

१—"माख़ूज अज उर्दूए क़दीम", पृ० १२

२—वही।

अरा" की उपाधि प्रदान की गई। सन् १०६५हि०में मृत्यु हुई। नुसरती सुन्नी मत का था। बंदा नेवाज़ गेसूदराज के वंश का चेला और विश्वासी था, जैसा कि शेर से स्पष्ट है।" यह नहीं मालूम कि "तज़किरा शोअराय दकन" के लेखक ने यह वृत्तांत किस आधार पर उपस्थित किया है। नुसरती की रचनाएँ निम्नलिखित हैं:—

मसनवियां

(१) **अलीनामा** सन् १०७६ हि० (१६६५ ई०) में नुसरती ने एक लम्बी मसनवी लिखा जिसका नाम 'अलीनामा" है, जिसमें अपने संरक्षक अली आदिलशाह के कुछ वृतांत छंदोबद्ध किए गए हैं। इसमें अली आदिल शाह की जीवनी, उनके विजयों और राग-रंग की सभाओं का चर्चा भी है। इसी सम्बन्ध के विविध अवसरों पर रचे गए प्रशंसात्मक क़सीदे भी सम्मिलित हैं। इस पुस्तक को दकनी भाषा की ऐसी प्रथम पुस्तक समझना चाहिए जो एक बादशाह की प्रशंसा में क़सीदे के रूप में लिखी गई।

(२) **गुलशने इश्क़ः** दूसरी मसनवी का नाम "गुलशने इश्क़ है। और यह १०६८ हि० (१६५७ ई०) में लिखी गई थी। इसमें सूरज जान के बेटे कुँवर मनोहर नाम के व्यक्ति की मधुमालती से प्रेम की कथा है। इस कथा का भिन्न-भिन्न लोगों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से वर्णन किया है। आक़िल खां राज़ी ने इसी कथा को फ़ारसी में काव्यबद्ध किया है और "शमाव परवाना" उसका नाम रक्खा है। यह मसनवी अपनी ललित उपमाओं और रूपकों के विचार से अनोखी है। "गुलशने इश्क़" के कुछ शेर तो बहुत सरल हैं और कुछ बहुत ऊँचे। कहीं अरबी और फ़ारसी का मिश्रण दिखाई देता है तो कहीं भाषा की बहुतायत है। इसकी भूमिका में अपनी प्रथा के अनुसार अपने संरक्षक मुहसिन अली आदिल शाह की प्रशंसा है।

(३) गुलदशतए इश्क: सैयद शमशुल्ला साहब क़ादरी के अनुसार यह तीसरी मसनवी है, लेकिन गार्सा द तासी के अनुसार यह शृंगारी ग़ज़लों और कविताओं का संग्रह है। नसरती का एक कसीदों का संग्रह और एक 'दीवान' है। "गुलेराना" के लेखक ने नसरती का "मेराज नामा" भी देखा है। यह मुहम्मद आदिल शाह के समय में लिखा गया था। इसमें १३१ शेर हैं। छंद ऐसा है जो कि फ़ारसी और हिंदी में समान रूप से मिलता है। इब्राहीम जुबेरी ने नुसरती की रचनाओं की बड़ी प्रशंसा की है और उनको विषय-प्रतिपादन, ओज और कल्पना शक्ति में खाक़नी का समान कक्ष बताया है। सर चार्ल्स लायल का खयाल है कि यह ब्राह्मण थे, लेकिन यह ठीक नहीं है।

हाशमी सैयद मीरां नाम और बीजापूर इनका निवास स्थान था। हाशमी उपनाम था। सैयद शाह हाशिम के चेले थे और इसी कारण हाशमी उपनाम लिखते थे। हाशमी जन्म के अंधे थे, लेकिन बड़े बुद्धिमान और प्रतिभा के आदमी थे। हिंदी में अच्छी कविता रच लेते थे। अपने गुरु की आज्ञा से इन्होंने दकनी में "यूसुफ़ जुलेखा" नाम की एक मसनवी रची और यह १०६६ हि० में संपूर्ण हुई। इसमें छः हजार से अधिक पंक्तियां हैं और दकनी साहित्य में इसे गौरव का स्थान प्राप्त है। शम्शुल्ला साहब लिखते हैं कि, "हाशमी ने अपना 'दीवान' भी तैयार किया था, जिसमें कसीदों और ग़जलों के अतिरिक्त मर्सिए, और क़िते और रुबाइयां भी थीं। यह संग्रह इस समय अप्राप्य है, लेकिन जिन लोगों ने इसे देखा है वे कहते हैं कि इस में जितनी ग़ज़लें है उनका अधिकांश रेख्ता में न होकर रेख़्ती में है।" पुरानी भाषा का रंग उनकी रचना में बहुत है। बहुधा द्वयर्थी कहते हैं, और फ़ारसी शैली के विपरीत पुरुष का प्रेम स्त्री के साथ प्रकट करते हैं। हाशमी ने कादरी के अनुसार ११६० हि० में मृत्यु पाई।

दौलत

यह भी एक दकनी कवि हैं। उन्होंने १६४० ई० में "शाह बहराम व बानूए हुस्न" नामक कथा लिखी जिसमें बहराम गोर और बानूए हुस्न नाम की परी के प्रेम का वर्णन है। और शहर देवसुपेद में बहराम गोर पर जो आश्चर्यजनक घटनाएं घटी हैं उनका भी वर्णन है।

शाह मलिक

इनकी चर्चा 'उर्दू-ए-क़दीम' में है। शाह मलिक बीजापूर के रहने वाले और आदिल शाह के समकालीन थे। उन्होंने एक 'रिसाला' "अहका मुल्सलूत" के नाम से दकनी पद्य में लिखा है, और उसमें नमाज़ के कर्त्तव्य और आज्ञाएँ वर्णित हैं। यह 'रिसाला' किसी फ़ारसी पुस्तक का अनुवाद है और १०७७ हि० में संपूर्ण हुआ

शा[illegible] [illegible]

शेख अमीनुद्दीन आला का उपनाम है। आप बीजापूर के प्रमुख औलियों में से हैं और अली आदिल शाह के काल में थे। सन् १०८५ हि० में आप की मृत्यु हुई। आप दिन-रात ध्यान में डूबे रहते थे और इसी दशा में आप कविताएँ रचते थे। चेलों ने उनकी सदुपदेशों को एकत्र किया और इस संग्रह का नाम "जवाहिरुल-इसरार" रक्खा। दो 'रिसाले' और इनके नाम से संबद्ध हैं—'रिसाला क़ुराबियाँ' और रिसाला वजू दिया।'

दकन में मर्सिया का आरंभ

मर्सिया कहने वालों में सबसे पहले शेख शुजा उद्दीन नूरी बीजापुरी थे। यह अकबर-काल के कवि थे। आगरा गए और बहुत दिनों तक अबुल्फ़जल और फ़ैज़ी के साथ रहे। इनके बाद और भी प्रसिद्ध मर्सिया कहने वाले निकले हैं जिनकी चर्चा एक दूसरे अध्याय में होगी। यहाँ पर केवल उनके नाम लिखे जाते हैं:- हाशिम बुरहान पुरी, क़ुतुबशाही काल के काज़िम अली, रामराव व सेवा। सेवा ने "रौजतुल-

शोहदा" व "क़ानून इस्लाम" लिखीं।

मुग़लों के शासन-काल में दकन के कवि

बीजापूर और गोलकुंडा को मुग़ल बादशाहों ने विजय कर लिया और इन राज्यों का अंत हो गया। लेकिन उर्दू कवियों की प्रतिष्ठा और आदर में कोई अंतर नहीं आया। उर्दू भाषा जन-साधारण की वस्तु होने के कारण सारे देश में उर्दू कविता फैल गई। इस समय के प्रसिद्ध उर्दू कवि निम्नलिखित हैं:—

आजिज

मुहम्मद अली उपनाम आजिज। औरंगज़ेब की दकन-विजय के काल में उपस्थित थे। इनकी रचनाओं में "क़िस्सा फ़ीरोज़ शाह" है जो उर्दू में "महबूबुलक़ुलूब" का अनुवाद है। दूसरी रचना "क़िस्सए लालोगौहर" है। इस में बंगाल के बाद शाह के बेटे लाल जमरुद और बंगाल के जवाहर शाह की बेटी गौहर के प्रेम की कथा है। आजिज़ ने "क़िस्सा मलका मिस्र" भी फ़ारसी से दकनी में पद्यबद्ध किया। आजिज़ का वर्णन विस्तार से "उर्दुए क़दीम" और "तारीख़ शोअराय दकन" में अंकित है।

बहरी

क़ाज़ी महमूद, उपनाम बहरी, बहरुद्दीन के बेटे, दकन के एक प्रसिद्ध सूफ़ी महापुरुष हो गये हैं। १०६५ हि० के लगभग अपनी जन्मभूमि से बीजापूर चले गए और वहाँ सिंकदर आदिलशाह के दरबार में दो वर्ष रहे और जब १०६७ हि० में सल्तनत विध्वंस हो गई तो हैदराबाद चले आए। फ़ारसी और दकनी भाषाओं में मसनवियाँ, ग़ज़लें, रुबाइयाँ और क़सीदे लिखे जिनके छंदों की संख्या पचास हज़ार के लगभग थी। लेकिन यह संपूर्ण संग्रह रास्ते में लुप्त हो गया। आपकी रचना "मनलगन" सूफ़ी रंग में एक मसनवी है और यह दकनी भाषा में १११२ हि० में संपूर्ण हुई। भाषा इसकी कठिन और शब्द दुरूह हैं।

अमीन

शेख़ मुहम्मद अमीन, उपनाम अमीन, औरंगजेब के शासन काल में हुए हैं। उन्होंने यूसुफ़-ज़ुलैख़ा की कथा को सन् ११०६ हि० में पद्य-बद्ध किया।

वली दकनी

सैयद मुहम्मद फ़ैयाज़ नाम। मुल्ला मुहम्मद बाक़र आगाह ने 'मिरातुल आबे हिनों' की भूमिका में लिखा है कि इनकी जन्म-भूमि वैलूरान थी। आलमगीर के समय में हुए हैं। दकन में सात गढ़ एक ऐतिहासिक स्थल है। वहाँ हिरामतख़ाँ नाम का एक अमीर रहता था। वली बहुत समय तक उसके आश्रय में रहे फिर वहाँ से निकल कर कुड़प्पा में चले आए। यह घटनाएँ वली ने "रतन पदम" की भूमिका में लिखी हैं। इस को वली ने सिधौट में लिखा था। यह मसनवी बड़े आकार की है। दूसरी रचना "रौज़तुल शोहदा" है। इसमें कर्बला की घटनायें छंदोबद्ध की गई हैं और यह सन् १११६ हि० में लिखी गई थी। इनके अतिरिक्त एक "पनाजात" (उपालंभ) भी लिखी है।[1]

वजदी

"उर्दू-ए-दकन" के लेखक नसीरुद्दीन हाशमी के अनुसार 'इस उपनाम के दकन में दो कवि हुए हैं—एक वजदी सुल्तान मुहम्मद कुली क़ुतुबशाह के शासन-काल में था जिसने १०१५ हि० में "तुहफ़ए-आशिक़ाँ" लिखी और दूसरे वजदी जिन्हों ने बारहवीं सदी में कई एक मसनवियाँ लिखीं। उसमें से एक "पंछीनामा" है जो शेख़ फ़रीदुद्दीन अत्तार के "मंतिक़ुत्तैर" का अनुवाद है। इसे वजदी ने ११५५ ई० में क्रम दिया।' "उर्दू ए क़दीम" के लेखक के अनुसार "तुहफ़ए आशिक़ाँ" नामक मसनवी शेख़ फ़रीदुद्दीन अत्तार की "गुल व हुर्मुज़" नामक मसनवी का अनुवाद है जो "ख़ुसरूनामा" या

१—उर्दू-ए-क़दीम, पृ० १२

"ख़ुसरू व गुल" भी कहलाती है। यह मसनवी सन् ११५३ हि० में समाप्त हुई और अंत में उसकी तिथि इस प्रकार अंकित है:—

"दसे उसकी तारीख़ मुझको अयां।
पिछानो उसे तुहफ़ए आशिकां [११५३]॥"

संभवतः "उर्दू-ए-क़दीम" का कथन ठीक है। इनके नाम से एक और बड़ी मसनवी प्रचलित है। उसका नाम "मसनवी बाग़ जां फ़िज़ा" है। सन् ११४५ हि० में रची गई। उसकी तिथि "बाग़ जां फ़िज़ा" से निकाली गई है।[1]

आज़ाद

फ़क़ीरुल्ला, उपनाम आज़ाद, हैदराबाद के निवासी और वली औरंगाबादी के समकालीन थे। इनका वर्णन अमीर हसन के "तज़किरए-शुअरा" में तथा "निकातु श्शुअरा" में आता है।

औरंगाबाद के कविगण

औरंगज़ेब जब दकन का सूबेदार नियुक्त हुआ तो उसने खिरकी को अपना सदर स्थान बनाया और उसका नाम औरंगाबाद रक्खा। इसके बाद औरंगज़ेब की आयु का अधिकांश इसी शहर में व्यतीत हुआ, और बहुत समय तक यह शहर मुग़ल-साम्राज्य का केंद्र रहा। इस निमित्त से हिंदुस्तान और दिल्ली के बड़े-बड़े अमीर और विद्वान व प्रमुख व्यक्ति, जिनका शाही दरबार से किसी प्रकार का भी संबंध न था, औरंगाबाद चले आए और हैदराबाद और बीजापूर के विध्वंस के बाद वहाँ के निवासी भी औरंगाबाद की ओर आकृष्ट हुए। इस काल में बहुत से कवि हुए हैं, जिनके वृत्तांत सैयद अब्दुल्वली इज़लत की बयाज़ (नोट बुक), लछमीनरायन शफ़ीक़ के "चमनिस्तान शुअरा" व 'तज़किरए यूसवी ख़ां' में लिखे हैं। मीर हसन ने भी इसके सम्बन्ध में अपने "तज़किरे" में लिखा है।

---

१ – उर्दु-ए-क़दीम

वली का उदू कविता से वही संबंध है जो चासर का अंग्रेज़ी कविता से और रुदकी का फ़ारसी कविता से । यही वह महापुरुष हैं

वली—
सन १६६८—
१७४४ ई०

जिनसे आधुनिक उदू कविता की नींव पड़ी। स्वर्गीय 'आज़ाद' के दावे के अनुसार अब तक सब का यही ख़याल था कि सब से पहले उदू में दीवान संग्रह करने वाले वली. हैं। लेकिन जब से कुतुबशाहियों के संग्रह प्राप्त होगए उस समय से इस धारणा का खंडन हो गया । लेकिन इस घटना से वली की प्रतिभा में कोई अंतर नहीं आता । उदू कविता को इनके कारण जो पुष्टि प्राप्त हुई वह कभी व्यर्थ नहीं हो सकती । इनको इनके समकालीन तथा निकट बाद के कवि, जैसे शाह हातिम आदि सब ने उस्ताद माना है, और इनकी रचनाओं का बड़ा आदर किया है।

नाम के विषय में मतभेद

वली के नाम के विषय में मतभेद है । कुछ लोगों के अनुसार उनका नाम शम्शुद्दीन और उपनाम 'वली' है और कुछ मुहम्मद वली नाम, शम्शुद्दीन उपाधि और 'वली' उपनाम बताते हैं। मीर हसन देहलवी, मिर्ज़ा अली लुत्फ़, व नस्साख़ और ब्लूमहार्ट के अनुसार शाह वलीउल्ला नाम है और नवाब अली इब्राहीम, और यूसुफ़ अली व आज़ाद शम्स वलीउल्ला कहते हैं। हमारी समझ में इस मतभेद का बड़ा कारण यह है कि इसी काल में शम्श वलीउल्ला नाम के सूफ़ी अहमदाबाद में रहते थे, जिनके नाम के साथ साम्य के कारण यह भ्रम उत्पन्न हो गया है।

गार्सां द तासी, ब्लूमहार्ट और। मीर हसन का यह ख़याल है कि वली अहमदाबाद में उत्पन्न हुए; लेकिन यह ठीक नहीं। उनका जन्म औरंगाबाद में १०७६ हि० (१६६८ ई०) में हुआ।

जन्म-स्थान और वंश के विषय मे मतभेद

इस की पुष्टि मीर तक़ी 'मीर' के तज़किरे "निकातुश्शोअरा" से भी होता है। वली का कौटुम्बिक संबंध शाह वजीहुद्दीन अलवी के साथ ठीक नहीं मालूम होता, वरन् वे औरंगाबाद के क़ादिरिया शेख़ों के वंश में से थे। यह ठीक है कि वे शाह वजीहुद्दीन के वंश में आस्था रखते थे, क्योंकि जो क़सीदे और बंद आदि उन्होंने इनकी प्रशंसा में लिखे हैं उन से उनके पीर के प्रति श्रद्धा और विश्वास का पता चलता है। उनकी रचनाओं से पता चलता है कि वे गुजराती न थे वरन् दकनी थे और दकनी शब्दों का अपनी रचनाओं में उन्होंने बाहुल्य से उपयोग किया है। जो लोग उनके गुजराती होने का दावा करते हैं वे अपने दावे के समर्थन में उनका एक क़सीदा प्रस्तुत करते हैं, जिसमें उन्होंने गुजरात छोड़ने पर खेद प्रकट किया है। लेकिन हमारी सम्मति में यह इस बात का पर्याप्त प्रमाण नहीं हो सकता कि गुजरात उनकी जन्मभूमि थी। इसी तरह उस मसनवी से भी, जो कि उन्होंने सूरत नगर की प्रशंसा में लिखी है, उनका मूलतः गुजरात निवासी होना नहीं सिद्ध है।

यह औरंगाबाद में उत्पन्न हुए, जहाँ २० वर्ष तक विद्योपार्जन करते रहे। इसके बाद अहमदाबाद गए जो उस समय विद्या और कला का केंद्र था, और शाह वजीहुद्दीन अलवी के मदरसे में, जहाँ लोग दूर-दूर से ज्ञानोपार्जन के लिए आते थे, प्रविष्ट हुए और कुछ समय के अनंतर इस वंश के चेले हो गए। कुछ दिनों बाद अपनी जन्मभूमि में वापस आकर उन्होंने कविता आरंभ की और इसमें उन्हें पूरा कौशल प्राप्त हुआ। इनकी रचनाओं में काव्य के प्रायः सभी रूप देखने में आते हैं, अर्थात् ग़ज़ल, क़सीदा, मसनवी, मुस्तज़ाद, रुबाइयाँ, तरजीअ बंद आदि। फिर अहमदाबाद गए जहाँ उन्होंने अपने मित्रों

जीवन-वृत्त

को अपनी रचनाएँ सुनाईं और उन्होंने इनको बहुत पसंद किया।

'तज़किरों' में है कि वली दो बार दिल्ली आए—एक बार बादशाह औरंगज़ेब के शासन-काल में अर्थात् १७०० ई० में। इस बार शाह सादुल्ला गुलशन से भेंट हुई, जिन्होंने आज्ञा दी "यह सब विषय जो बेकार फ़ारसी में भरे पड़े हैं, उन्हें रेख़्ता भाषा में उपयोग में लाओ। तुमसे कौन पूछेगा?" इस घटना से यह नहीं मालूम होता कि वली मियाँ गुलशन के चेले हुए थे। निश्चय ही उनमें आस्था रखते थे और सूफ़ी मत से प्रेम भी उन्हीं के सत्संग से प्राप्त किया था। दूसरी बार सैयद अबुल्माली के साथ यात्रा की जिसमें दिल्ली और सरहिंद के मज़ारों के दर्शन किए। सैयद अबुल्माली से इन्हें अत्यंत प्रेम था। वली की यह दूसरी यात्रा मुहम्मद शाह के शासन-काल में ११३४ हि० (१७२२ ई०) में हुई। इस यात्रा में वली अपने साथ अपना रेख़्ता दीवान लाये थे जिसका बड़ा आदर हुआ और जो बहुत लोकप्रिय हुआ। उसकी यहाँ तक प्रसिद्धि हुई कि अमीरों की महफ़िलों, सभाओं और कूचे तथा बाज़ारों में उनके शेर लोगों की ज़बान पर थे। उनके शेरों को सुन कर लोगों में शेर कहने का चाव उत्पन्न हुआ।

वली की दो यात्राएँ

११४१ हि० में दिल्ली से औरंगाबाद वापस आए जहाँ कि करबला के शहीदों की प्रशंसा में एक मसनवी "दहे मजलिस" नामक रची। इसके दो अंतिम शेरों से रचनातिथि और उसकी भाषा का परिचय प्राप्त हो जाता है :—

दहे मजलिस

हुआ है ख़त्म जब यू दर्द का हाल।
था ग्यारह सौ पै इकतालीसवां साल॥
कहा हातिफ़ ने यू तारीख़ माक़ूल।
वली का है सख़ुन हक़ पास मक़बूल॥

इस मसनवी को फ़ज़ली ने गद्य के ढाँचे में ढाला जो मूल पुस्तक से भी अधिक लोकप्रिय हुआ। "गुलशने हिंद" के लेखक लिखते हैं कि वली का एक हिंदी दीवान भी है। मौलाना आज़ाद और "गुले-राना" के लेखक का कथन है कि वली ने दीवान के अतिरिक्त सूफ़ी मत-विषयक एक रिसाला "नूरुलमारफ़त" लिखा है। लेकिन यह अप्राप्य है।

मृत्यु

वली को गुजरात से ऐसा प्रेम हो गया था कि वे औरंगाबाद में कुछ दिनों रह कर फिर अहमदाबाद चले गए जहाँ "तज़किरए शुअराय दकन" के अनुसार ११५५ हि० (१७४४ ई०) में इनकी मृत्यु हुई और वहीं दफ़न हुए।

वली के बहुत से मित्र थे जिनसे उन्हें विशेष प्रेम था, जैसे लाला खेमदास औरंगाबादी, अमृतलाल, गौहरलाल और मुहम्मद यार ख़ाँ देहलवी, इत्यादि। इन सब का वर्णन उचित स्थलों पर उनकी रचनाओं में मिलता है। यद्यपि वे हनफ़ी मत के थे, जैसा कि सहाबा की प्रशंसा से प्रकट है, जो उन के शेरों में उपस्थित है, किन्तु साथ ही किसी धर्म या मत से उन्हें विरोध न था और उनमें कट्टरपन न था। वे सूफ़ी विचारों के थे और फ़क़ीर आदमी थे। उन्होंने बहुत देशाटन किया था, और दूर-दूर के स्थलों को देखा था। बंगाल में उनका जाना प्रमाणित नहीं, लेकिन गार्साँ द तासी उनके किसी शेर से, जिसमें बंगाल के सौंदर्य की प्रशंसा है, यह परिणाम निकालते हैं कि वे बंगाल भी गए थे। सतारा, दिल्ली और सूरत की उनकी यात्रा निश्चित है—इस कारण कि इन सभी स्थलों की प्रशंसा उनके शेरों में उपस्थित है। उदाहरण के लिए सूरत क़ी प्रशंसा में एक मसनवी में लिखते हैं :—

अजब शहरों में है पुरनूर इक शह्र।
बिला शक है वह जग में मक़सदे दह्र॥

कि है मशहूर उसका नाम सूरत ।
कि जावे जिसके देखे सब कुदूरत ॥
भरी है सीरतो सूरत सों सूरत ।
हर इक सूरत है वाँ अनमोल सूरत ॥

वली ने किसी अमीर अथवा बादशाह की प्रशंसा में शेर नहीं कहे, लेकिन फ़ारसी की नक़ल में अपनी प्रशंसा में कई स्थल पर गर्वोक्ति-पूर्ण शेर कहे हैं, जिनमें स्थान-स्थान पर समकालीनों पर चोटें हैं।

उनकी रचनाएँ प्राचीनता की दृष्टि से और भाषा की दृष्टि से बड़ी मनोरंजक हैं। शैली सहज और सरल है। बाद के कवियों ने उनका अनुकरण किया है, और उन्हीं की शायरी से

रचनाओं पर सम्मति

उत्तरी हिंद में शायरी की जड़ दृढ़ हुई है। सरसता, सरलता, प्रसाद, संगीत—उनकी रचनाओं के विशेष गुण हैं। शेरों में गति, स्वभावोक्ति और धारावाहिता है और अलंकरण विशेष नहीं। कुछ शेर तो ऐसे साफ़ हैं कि बिलकुल इस समय के ज्ञात होते हैं। उदाहरण के लिए—

दिल छोड़, के यार क्योंकि जावे ।
ज़ख्मी है शिकार क्योंकि जावे ॥

× × ×

दुश्मने दीं का दीन दुश्मन है।
राहेज़न का चिराग़ रहज़न है ॥

× × ×

आग़ोश में आने की कहाँ ताब है उसको।
करती है निगह जिस क़दे नाज़ुक पै गरानी ॥

× × ×

अजब कुछ लुत्फ़ रखता है शबे ख़िलवत में दिलबर से।
सवाल आहिस्तः आहिस्तः जवाब आहिस्तः आहिस्तः ॥

× × ×

गुनाहों की सियहनामी से क्या ग़म उस परीशां को।
जिसे वह ज़ुल्फ़ दस्तावेज़ हो रोज़े क़यामत में।

× × ×

ख़ूबरू ख़ूब काम करते हैं।
इक निगाह में ग़ुलाम करते हैं॥

× × ×

दिल हुआ है मेरा ख़राबे सख़ुन।
देख कर हुस्न बेहिज़ाबे सख़ुन॥
बज़्म मानी में स ख़ुशी है उसें।
जिसको है नश्शये शराबे सख़ुन॥
राह मज़मूने ताज़ा बंद नहीं।
ता क़यामत खुला है बाबे सख़ुन॥
गौहर उसकी नज़र में जा न करे।
जिसने देखा है आबो ताबे सख़ुन॥
है सखुन जग मने अदीमुल्मिस्ल।
जुज़ सख़ुन नहीं दूजा जवाबे सख़ुन॥
शेर फ़हमों की देख कर गर्मी।
दिल हुआ है मेरा कबाबे सख़ुन॥
उर्फ़ी व अनवरी व ख़ाक़ानी।
मुझको देते हैं सब हिसाबे सख़ुन॥
ऐ वली दर्द सर कभू न रहे।
जब मिले संदलो गुलाबे सख़ुन॥

दाऊद मिर्ज़ा दाऊद नाम, 'दाऊद' उपनाम, जन्मस्थान औरंगाबाद, वली के समकालीन थे, और सन् ११६८ हि० में मृत्यु हुई। एक छोटा सा दीवान इनकी कृतियों की याद दिलाता है।

सैयद सिराजुद्दीन नाम। आप सादात हुसैन-वंश के शेख़ों में थे। औरंगाबाद के रहनेवाले थे और वहीं इनका पालन तथा शिक्षा हुई।

सिराज

संभवतः आप ११२७ हि० में उत्पन्न हुए। आपने अपना हाल 'मुन्तख़ब दवावीन' की भूमिका में लिखा है।[1] इस 'मुन्तख़ब' का ऐतिहासिक नाम 'मुन्तख़ब दीवानेहा" ११६९ हि० है। सिराज ने इसमें पुराने तथा समकालीन कवियों की फ़ारसी रचनाओं का संग्रह किया है। संग्रह बड़ा है, और उसमें कई हज़ार शेर हैं। यह संग्रह इस तरह किया गया है जिससे ज्ञात होता है कि आप साहित्य-समीक्षक थे। सिराज स्वयं लिखते हैं:—"यह फ़क़ीर १२ वर्ष की अवस्था में भावावेग और स्वेच्छा से सात वर्ष तक नंगे तन तथा नंगे सिर रहा। बहुधा भावोन्माद की अवस्था में हज़रत शाह बुरहानुद्दीन ग़रीब दौलतबादी के रौज़े के आस-पास घूमता रहता। इसी उल्लास की दशा में प्रायः फ़ारसी शेर मुँह से निकल पड़ते, लेकिन वे लेखनी-बद्ध नहीं हुए। यदि वह समस्त शेर प्राप्त होते तो एक भारी-भरकम संग्रह तैयार हो जाता। फिर इस काल के बाद हज़रत ख़्वाजा सैयद शाह अब्दुल रहमान चिश्ती (जिनकी मृत्यु ११६१ हि० में हुई) की सेवा में पहुँचा और उनका चेला बनने का सौभाग्य हुआ। इन दिनों में चिरंजीव अब्दुल रसूल ख़ाँ के कहने से, जो फ़क़ीर के गुरु भाई थे, कुछ शेर रेख़्ता भाषा में लिखे गए। ख़ां साहब ने विभिन्न रचनाओं को जिनकी संख्या ५००० शेरों तक पहुँचती थी अकारादि-क्रम से संग्रह किया और पूरा दीवान प्रेमियों के पास भेजा। फिर फ़क़ीरी ग्रहण की और गुरु की आज्ञा से शेर कहना बंद किया।" सिराज एक साधु प्रकृति के धार्मिक महापुरुष थे। अतिथि-सत्कार करने वाले, दीनों के मित्र, एकांत-प्रेमी और पवित्रात्मा थे। सप्ताह में एक दिन अपने यहाँ मजलिस या मंडली एकत्र करते जिसमें

१—उर्दु-ए-क़दीम

नगर के प्रायः विशिष्ट व्यक्ति उपस्थित होते थे। क़व्वाल व गवैये आप को ग़ज़लें सुनाते थे। मजलिस में आपका ऐसा रोबदाब था कि उपस्थित लोग शांतभाव बैठे रहते। उस समय दकन में आप के समकालीनों में मीर ग़ुलाम अली आज़ाद बिलगरामी, अब्दुल लोहाब इफ़्तिख़ार दौलताबादी, ज़फ़रबेग ज़फर औरंगाबादी, मुहम्मद फ़िक़िया दर्दमंद, मिर्ज़ा मुहम्मद बाक़र शहीद, जान मिर्ज़ा रसा, मूसवी खाँ जुरअत औरंगाबादी, अब्दुल क़ादिर सामी औरंगाबादी, आरिफ़ुद्दीन ख़ां आजिज़, मूसवी ख़ाँ फ़ितरत, खाफ़ी ख़ाँ, लछमी नरायन शफ़ीक़ औरंगाबादी और मीर औलाद मुहम्मद ज़का बिलगरामी, इत्यादि कवि और विद्वान् उपस्थित थे। ख़ूब मुशाअरे होते थे और सिराज एकांतवासी होने के प्रत्युत मुशाअरों में सम्मिलित होते और कभी-कभी आग्रह के कारण शेर भी कहत थे।

मीर ने 'निकातुश्शुअरा' में और हसन ने अपने 'तज़किरा' में लिखा है कि सिराज को सैयद हमज़ा दकनी का शिष्यत्व प्राप्त था। लेकिन दकन में किसी कवि का नाम सैयद हमज़ा या सैयद हमज़ा अली नहीं था। दृढ़ संभावना यह है कि सिराज किसी के शिष्य नहीं हुए। सिराज ने एक दीवान फ़ारसी और एक रेख़्ता का अपने स्मारक के रूप में छोड़ा है। संग्रहीत दीवान का वर्णन ऊपर हो चुका है। एक मसनवी 'बोस्तां ख़याल' भी लिखी, जिसमे १००७ आबयात हैं और गुल और बुलबुल के रूपक में आत्मिक भावनाओं को उतारा है। यह मसनवी ११७३ हि० में संपूर्ण हुई।

आपकी रचनाएँ भी वली की तरह क्लिष्ट और द्व्यर्थी शब्दों के प्रयोग से मुक्त हैं। वर्णन सीधा-सादा है। आडम्बर व बनावट का चिह्न नहीं। प्रायः ग़ज़लों में सौंदर्य और प्रेम के चमत्कार मिलेंगे। कुछ शेरों में एकेश्वरवाद और वेदांत का नक़्शा तथा ऊँचे विचार हैं। रचना में सुथरापन है। रेख़्तागोई में वली के उत्तराधिकारी थे, दकन में उस्ताद

के पद पर पहुँचे। वली ने इस भूमि में जो पौदे जमाए थे और जो कुछ वृक्ष रोपे थे, सिराज ने उनको अपने श्रम के पानी से सींचा और हरा किया। आपने चौथी शव्वाल, शुक्रवार ११७७ हि० को मृत्यु पाई। यह ग़ज़ल सिराज की बहुत प्रसिद्ध है:—

ख़बरे तहैयुरे इश्क़ सुन न जुनूं रहा न परी रही,
न तो तू रहा न तो मैं रहा जो रही सो बेख़बरी रही।
शहे बख़ुदी ने अता किया मुझे अब लिबासे बरहनगी,
न ख़िरद की बख़ियागरी रही न जुनूं की परदा दरी रही।
चली सिम्त ग़ैब से इक हवा कि चमन सुरूर का जल गया,
मगर एक शाख़े निहाले ग़म जिसे दिल कहें सो हरी रही।
नज़रे तग़ाफ़ुले यार का गिला किस ज़बां से बयां करूं,
कि शराब सद कदा आरज़ू ख़ुमें दिल में थी सो भरी रही।
वह अजब घड़ी थी कि जिस घड़ी लिया दर्स नुस्ख़ए इश्क़ का,
कि किताब अक़्ल की ताक़ पर ज्यों धरी थी यों ही धरी रही।
तेरे जोशे हैरते हुस्न का असर इस क़दर सें अयां हुआ,
कि न आईना में जिला रही न परी की जल्वागरी रही।
किया ख़ाक आतिशे इश्क़ ने दिले बे नवाए सिराज कूं।
न ख़तर रहा न हज़र रहा मगर एक बेख़तरी रही॥

इस काल में बहुत से कवि हुए हैं, जिनकी चर्चा विस्तार-भय से नहीं की जा रही है। इनके नाम और वृत्तांत 'तज़किरा लछमी नरायन' व 'तज़किरा मूसवी ख़ां' व मीर के 'निकातुश्शुअरा' व मीर हसन के 'तज़किरा शोअराए-उर्दू' व अब्दुल जब्बार ख़ां के 'तज़किरा शोअराय दकन', व नसीरुद्दीन हाशमी के "दकन में उर्दू" से ज्ञात हो सकते हैं। इस काल के कुछ प्रसिद्ध कवि निम्नलिखित

इस काल के अन्य कविगण

हैं :—आरिफ़ुद्दीन आजिज़, सैयद अब्दुल वली इज़लत, यार, महरम, ईमाग़, दारंगी, मेंहदी, अज़ीज़, ज़ारम, मेहर, पनाह, रज़ा, इराक़ी, मह्ताब, दर्द, हशमत, हाजी, क़ादिर, फ़ख़, फ़तूत, क़द्र। इनमें इज़लत, और आजिज़ अधिक प्रसिद्ध हैं और जो वृत्तांत "गुलेराना" के लेखक ने इन कवियों के अंकित किए हैं वे अधिकांश "तज़किरा शोअराये दकन" से लिए गए हैं।

मद्रास और आरकाट प्रदेश के कवि

मौलवी मुहम्मद बाक़र, उपनाम आगाह वैलूर में उत्पन्न हुए और उन्होंने उर्दू भाषा में विभिन्न पुस्तकें रचीं। सन् ११८५ हि० से उन्होंने रचना का कार्य आरंभ किया, १२२० हि० में इनकी मृत्यु हुई। इनके पूर्वज बीजापुरी थे। "शमा अंजुमन" के लेखक लिखते हैं कि "दर ख़याबाने करनाटक हमचोऊ निहाले सरबाला न करदा व अज़ गिलेज़मीने मदरास मिस्लेऊ गुले ख़ुशरंग न दमीदा।" अर्थात् करनाटक रूपी उद्यान में उसके सामने किसी अन्य वृक्ष ने सर ऊँचा नहीं किया और मदरास की भूमि से उस जैसा ख़ुशरंग फूल न उगा।

उर्दू रचनाओं की सूची निम्नलिखित है:— हश्त बिहिश्त, तुहफ़तुल अहबाब, तुहफ़तुन्निसा, फ़रायद दर अक़ायद, रियाजुल्जनां, महबूबुल्क़लूब रौज़तुलिस्लाम, गुलज़ार इश्क़, क़िस्सा रिज़वांशाह, रूह अफ़ज़ा ख़मसा मुब्तहरा, मसनवी रूप सिंगार। अरकाट के दरबार के मदारुलमहाम शर्फ़ुल्मुल्क मौलाना मुहम्मद ग़ौस और उनके पुत्र मौलाना क़ाजी बद्रुद्दौला ने भी कई पुस्तकें उर्दू में लिखीं। उस समय के कवियों के नाम यह हैं—महमूद, सबाई, अहमद, आज़म[1]।

१—उर्दू-ए क़दीम

अध्याय ५

' दिल्ली के प्रमुख कवि--(१)

हातिम और आबरू का समय

उर्दू भाषा दकन में नवीं सदी से पूर्व साहित्यिक रूप ग्रहण कर चुकी थी, और उसमें उस समय से रचनाएँ प्रस्तुत होने लगी थीं। इसके प्रत्युत, जहाँ तक ज्ञात हो सका है, हिन्दुस्तान में १२ वीं सदी के प्रारम्भ तक यह भाषा केवल बात-चीत और लेनदेन तक सीमित रही। मौलाना जमाली, जो शहंशाह बाबर के समकालीन थे, और जिनकी मृत्यु ९४२ हि० में हुई, मुल्लानूरी जो आज़मपूर के निवासी थे अकबर के समय में हुए मुल्लाफ़ज़ी से बड़ा मेल रखते थे, उनकी चर्चा मीरहसन ने अपने 'तज़करे' में की है। शेख़ सादीने यद्यपि ऐसे शेर कहे हैं जो आधे फ़ारसी और आधे उर्दू में हैं, लेकिन उन्हें नियमित और विद्वत् रचना नहीं कहा जा सकता। बाबर, अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ और औरङ्गज़ेब के और उनके समय के लेखों से यह भी पता चलता है कि हिन्दुओं की भाषा पर अरबी व फ़ारसी के शब्द चढ़ रहे थे और इसी प्रकार मुसलमानों की भाषाएँ भी देशी भाषाओं के प्रभाव के अंतर्गत थीं। इसके उदाहरण 'उर्दू-ए-क़दीम' और 'गुलेराना' में प्राप्त हैं। शाहजहाँ का उर्दू में रुक़्के लिखना और औरङ्गज़ेब का अपने पत्रों में उर्दू शब्दों का उपयोग करना इस बात का प्रत्यक्ष तर्क है कि उर्दू भाषा इस काल में देश की आम भाषा बन गई थी। बाज़ार

दिल्ली में उर्दू भाषा का प्रारम्भ और उन्नति

से शाही महलों तक, जनसाधारण तथा ऊँची कक्षा के लोग इसको बोलते तथा समझते थे।[1]

आलमगीर के समय से दिल्ली में उर्दू काव्य-रचना प्रचलित हुई और इस दिशा में सब से पहले फ़ारसी कवियों ने ध्यान दिया। मूसवी ख़ाँ फ़ितरत, मिर्ज़ा अब्दुलक़ादिर बेदिल, मिर्ज़ा अब्दुल ग़नी क़ुबूल आदि फ़ारसी के ख्यात-नामा कवि थे, लेकिन मनोविनोद के लिए उर्दू में भी दो-चार शेर कह लिया करते थे। मुहम्मदशाह के राज्यकाल से पूर्व लोग गृह-युद्धों में व्यस्त तथा मरहठों के आक्रमणों से त्रस्त थे। मुहम्मदशाह के समय में सैयदों की शक्ति टूट जाने पर कुछ अवकाश मिला। उस समय इधर-उधर से सिमिट कर दिल्ली में सब लोग एकत्र हो गए। मुहम्मदशाह की रंगीली प्रकृति ने रंग दिखाया। क़ज़लबाश' ख़ाँ 'उम्मेद', सुलैमान कुली ख़ाँ 'विदाद', अली कुली ख़ाँ 'नदीम', शेख़ सादुल्ला गुलशन', मुर्तज़ा कुली ख़ाँ 'फ़िराक़', मीर शम्शुद्दीन 'फ़क़ीर', मिर्ज़ा अब्दुल क़ादिर 'बेदिल', सिराजुद्दीन अली ख़ाँ 'आरज़ू' ऐसे बड़े बड़े योग्य लोग दिल्ली में उपस्थित थे। शम्शवलीउल्ला दकन से आ गए। फ़िराक़ी', 'फ़ख़री', 'आरज़ू' आदि भी दकन से आए। वली कुछ दिनों के लिए रह गए और उनका रंग दिल्ली में ख़ूब चमका। सब ओर आदर हुआ। जो कवि केवल फारसी में रचनाएँ किया करते थे उनको उर्दू में भी शेर कहने की रुचि हुई। 'उम्मेद', 'बेदिल', फ़िराक़', 'आरज़ू' ने उर्दू में रचनाएँ कीं और यह भाषा दिल्ली से 'उर्दू-ए-मुअल्ला' का पद पाकर हिन्दुस्तान के कोने-कोने में फैल गई।[2]

लगभग आलमगीर के समय में हिन्दुस्तान के निवासियों को उर्दू-कोष के संकलन और क्रम देने का विचार उत्पन्न हुआ। मुल्ला

१—उर्दू-ए-क़दीम

२—गुलेराना

उर्दू कोष का संकलन

अब्दुल्वासे हांसवी ने (जिनका फ़ारसी व्याकरण और गुलिस्तां, बोस्तां की टीकाएँ अत्यंत प्रसिद्ध हैं) आलमगीर के समय में उर्दू-हिन्दी शब्दों का एक कोष प्रस्तुत किया और उसका नाम "ग़रायबुल्लुग़ात" रक्खा। उर्दू शब्दों के अर्थ फ़ारसी में लिखे। कुछ समय के बाद सिराजुद्दीन अली ख़ाँ आरज़ू ने उसका संशोधन किया, बहुत से शब्द और अर्थ जोड़े, भूलें सुधारीं और उसे "नवादिरुल अल्फ़ाज़" के नाम से प्रसिद्ध किया।[1]

दिल्ली के पुराने कवि

जो प्रशस्त मार्ग वली ने दिखलाया था, उसके अनुयायी दिल्ली में बहुत उत्पन्न हो गए। 'आबरू', 'हातिम', 'नाजी', 'मज़मून', मिर्ज़ा मज़हर जानजानां को, जो वली के समकालीन थे और फ़ारसी में अच्छी रचना करते थे, रेख़्ता के मार्ग-प्रदर्शक समझना चाहिए। यही विशिष्ट व्यक्ति हैं जिनके निरीक्षण में उर्दू बालक का लालन-पोषण हुआ।

भाषा के प्रति उनकी सेवाएँ

इस काल में भाषा में बहुत कुछ पुष्टि हुई। कविता के लिए कोई विशेष शैली अब तक निश्चित नहीं हुई थी और न उसके उद्देश्यों की पूर्ति के लिए भाषा में पूरी क्षमता आई थी। बहुत से कठोर और भद्दे दकनी शब्द व मुहावरे जो वली के कारण भाषा में विष्ट हो गए थे, छाँटना और निकालना पड़े। इसी कारण इन सज्जनों की सेवाएँ भाषा के सुधार के विषय में बहुत प्रशंसनीय हैं। उन्होंने यह कठिन कार्य बहुत सुचारु रूप से और बड़े परिश्रम से पूर्ण किया। इसी लिए उनकी योग्यता और सुरुचि की प्रशंसा होनी चाहिए यह ठीक है कि भाषा के शब्दों का सौंदर्य उनकी दृष्टि में न जँचा, नहीं तो अपने देश

१—उर्दू-ए-क़दीम

के शब्दों के बदले विदेशी शब्द कम ग्रहण किए जाते। लेकिन इसमें संदेह नहीं कि इन लोगों ने इस काट-छाँट में बड़ी योग्यता दिखाई और सूक्ष्म-दृष्टि से काम लिया, तथा भद्दे मुहावरों और प्रयोगों के स्थान पर सुन्दर मुहावरों और आकर्षक प्रयोगों को भाषा में प्रविष्ट किया जो कि प्रायः फ़ारसी से लिए गये थे, क्योंकि उसी के वे ज्ञाता थे। भाषा में लचीलापन ग्रहण करने की शक्ति पहले से थी, इसलिए यह सब नवीनताएँ उसने सहज में स्वीकार कर लीं।

द्व्यर्थक प्रयोग

वली के समकालीन द्व्यर्थी प्रयोगों के प्रति विशेष रुचि रखते थे जिसका कि वर्णन इससे पूर्व हो चुका है। यह अलंकरण भाषा की कविता में बहुत स्वीकृत हुआ, और यही दोहरों की जान है। पुराने कवियों की रचनाओं में ऐसे द्व्यर्थी शेर बहुतायत से मिलते हैं। यह मुहम्मदशाही राज्यकाल की विशेषता है। शाह मुबारक 'आबरू', 'यकरंग', शाकिर नाजी और शाह हातिम आदि ने इस रंग को ख़ूब बरता और वह उनकी कला का एक अंग बन गया। लेकिन शाहआलम के काल में इसमें परिवर्तन तथा संशोधन हुआ, और 'मज़हर', 'सौदा', 'मीर, तथा 'क़ायम' ने इसका प्रचलन बहुत कम कर दिया, और 'मीर दर्द', 'फ़क़ीर' देहलवी, और मीर हसन के समय में यह रंग प्रायः छोड़ दिया गया। 'मीर' कहते हैं—

> क्या जाने दिल को खींचे हैं क्यों शेर मीर के।
> कुछ तर्ज़ ऐसी भी नहीं, ईहाम[1] भी नहीं॥

'सौदा' कहते हैं—

> यकरंग हूँ, आती नहीं ख़ुश मुझको दुरंगी।
> मुनकिर सख़ुनो शेर में ईहाम का हूँ मैं॥

१—द्व्यर्थी प्रयोग

'क़ायम' चाँदपुरीः—

हो रोम रोम मेरा क्यों न ख़ुश कि वह बुते चीं।
यह कह गया है कि आऊँगा आज मैं सरशाम।
बतौर हज़्ल है 'क़ायम' यह गुफ़्तगू वरना।
तलाश है यह मुझे हो न शेर में ईहाम॥

एक दूसरी विशेषता इस काल की यह थी कि कविता पर सूफ़ी-मत का रंग बहुत छाया हुआ था। यह रंग उस समय व्यापक था।

सूफ़ी मत

कारण यह था कि कवि बहुधा सूफ़ी विचारों के होते, अथवा अंतिम अवस्था में हो जाया करते थे। पीरी-मुरीदी (गुरु-चेला पन) का बाज़ार गर्म था। फ़ारसी कविता बाद के कवियों की रचनाओं को देखते हुए सूफ़ी विचारों में डूबी हुई थी और उर्दू कविता उसी का अनुकरण कर रही थी। दकन में शायरी का आरंभ धर्म से हुआ और सूफ़ी-मत धर्म का विशेष अंश था। इन्हीं कारणों से उर्दू कविता पर भी सूफ़ी मत का अच्छा ख़ासा प्रभाव पड़ा।

इस काल के कवि बहुधा सिपाही-पेशा होते थे, इस कारण कि समय क्रांतिपूर्ण था। बाहरी आक्रमणों की बहुतायत, देश में दुर्व्यवस्था

सिपाही-पेशा कवि

सल्तनत की कमज़ोरी इन सब कारणों से किसी का मन और जीवन सुरक्षित नहीं था। इसके अतिरिक्त सिपाही का पेशा बड़े गौरव और प्रतिष्ठा का पेशा समझा जाता था।

एक और विशेषता यह है कि इस काल के अधिकतर कवियों की रचनाओं में एक-रूपता न मिलेगी। उदाहरण के लिए किसी ग़ज़ल को लीजिए तो उसके कुछ शेर तो बहुत अच्छे होंगे, लेकिन कुछ शेर

साधारण और फूहड़ शब्दों के प्रयोग में कुछ भी संकोच न होता था, जिसका कारण कदाचित् यह हो कि रेख़्ता उस समय तक नवीनता और मनोरंजन के लिए लिखी जाती थी। उसमें उच्चकोटि की कविता प्रस्तुत करना उनका लक्ष्य न था। इसी दृष्टि से यदि देखा जाय तो आबरू, हातिम, नाजी, तथा मज़हर की कृतियों में उच्चकोटि की पंक्तियों के साथ-साथ बहुत से शेर ऐसे भी मिलेंगे जो सुरुचि से हटकर हैं। मीर और सौदा ने भी कभी कभी ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है—विशेषकर जहाँ शेख़ (धार्मिक पुरुष) और ज़ाहिद (व्रती) लोगों का ख़ाका उड़ाया गया है—जो अब किसी सभा में कदाचित् ही व्यवहृत हों।

इस काल के कवियों की वर्णन-शैली और उनकी रचनाओं की त्रुटियाँ

कविता अभी प्रौढ़ता तक नहीं पहुँची थी। छंद-शास्त्र का पालन भी कठिनाई से होता था। रदीफ़ और क़ाफ़िए (तुक) तक के नियमों का ठीक-ठीक पालन नहीं होता था। शेरों का गठन ढीला, ज़वायद की बहुतायत रहती थी, जिनसे आजकल हमारे कानों को कष्ट होता है। हाँ, भाषा में सरलता और मिठास हद दर्जे के हैं।

इस काल में संस्कृत व भाषा तथा पुरानी दकनी के शब्दों का बहिष्कार हुआ, जो कि मीर और सौदा के समय में चलता रहा और शेख़ नासिख़ के समय तक जिसकी पूर्ति हुई।

अरबी तथा फ़ारसी शब्दों और विचारों का प्रवेश और संस्कृत तथा भाषा, पुरानी दकनी के शब्दों का बहिष्कार

यह ठीक है कि बहुत से भोंड़े शब्द बहिष्कृत कर दिए गए लेकिन उसके साथ ही भाषा के बहुत मीठे, सुन्दर और सुमधुर शब्द भी निकाल दिए गए और अरबी व फ़ारसी के पर्याय स्वीकृत हुए। इसके साथ ही साथ अरबी और फ़ारसी शब्दो के शुद्ध रूप के विषय में ध्यान रक्खा जाने लगा। पुराने मुहावरे और शब्द जो

वली के समय में व्यवहृत होते थे, परिवर्तित होने लगे और नए मुहावरे बनाने का प्रयत्न हुआ। "तारीख़ शोअराय उर्दू" में लिखा है कि—"अप्रिय शब्दों का व्यवहार, और बारीक़ बारीक़ बातों की परवा न करना—सीन-स्वाद क़ाफ़िया का मान्य रखना—इन बातों का उसकी रचनाओं से पता चलता है। न केवल उसकी रचनाओं में वरन् उसके समकालीनों की रचनाओं में उस से अधिक है। शाह हातिम ने इस ओर ध्यान दिया और बहुत से शब्दों का सुधार किया, जैसा कि उनके 'दीवानज़ादा' की भूमिका से ज्ञात होता है।"

शाह नजमुद्दीन देहलवी, जिनका दूसरा नाम शाह मुबारक और और उपनाम 'आबरू' था, मुहम्मद शाह के समय में थे। जन्म का समय

शाह मुबारक 'आबरू'— मृत्यु १७५० ई०

ज्ञात नहीं। यह प्रसिद्ध सूफ़ी शेख़ मुहम्मद ग़ौस गवालियरी के वंशजों में थे। गवालियर में जन्म लिया और बचपन में ही दिल्ली आए, जहाँ शेर कहना सीखा। सिराजुद्दीन अली खां 'आरज़ू' के संबंधी थे और उन्हीं से रचनाओं के विषय में परामर्श किया करते थे। इन्होंने एक दीवान प्रस्तुत किया था, लेकिन खेद है कि वह विद्रोह के समय में नष्ट हो गया और अब दुष्प्राप्य है। इन्होंने एक मसनवी 'आराइशे माशूक़' भी लिखी थी। कुछ समय तक नारनोल में भी रहे। अत्यंत शिष्ट और मिलनसार व्यक्ति थे। एक आँख की ज्योति जाती रही थी जिसके कारण मिर्ज़ा जानजानां मज़हर से बहुधा व्यंग चलता रहता था। शाह आबरू शाह कमालुद्दीन बुख़ारी के पुत्र मीर मकवन नाम के एक व्यक्ति से बड़ा प्रेम रखते थे, जिसका हवाला बहुधा उनके शेरों में है। मीर हसन, मसहफ़ी, फ़तह अली और लुत्फ़ आदि प्रायः सभी वृत्तांतकारों ने उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट की है और उनकी रचनाओं की प्रशंसा की है। शाह आबरू पुराने कवियों में हैं और उपमाओं तथा द्व्यर्थियों में निपुण हैं। इसी कारण कभी कभी रचना

निम्नकोटि की हो गई है। वे बड़े विद्वान् तो नहीं थे लेकिन उनकी जानकारी पर्याप्त थी। ११६१ हि० (१७५० ई०) में ५० वर्ष से अधिक अवस्था में उनकी मृत्यु हुई।

सिराजुद्दीन अली खां, उपनाम 'आबरू' खान आरज़ू के नाम से विख्यात थे। यह शेख़ हिसामुद्दीन 'हिसाम' के पुत्र थे और हिंदुस्तान के प्रसिद्ध कवियों तथा काव्य-मर्मज्ञों में से थे।

खान आरज़ू— १६८९-१७५६ ई० मीर तक़ी 'मीर' का कथन है: "इनके समय मे इनसे बढ़कर कोई विवेचक और मृदुभाषी कवि न था।" मीर हसन इनको अमीर ख़ुसरू देहलवी के बाद हिंदुस्तान का सबसे बड़ा कवि मानते हैं। लुत्फ़ भी इनकी प्रशंसा करते हैं और फ़तेह अली इनको "चिराग़ महफ़िल फ़साहत" की उपाधि से स्मरण करते हैं। मौलाना आज़ाद इनके संबंध में लिखते हैं कि उनका उर्दू भाषा से वैसा ही संबंध है जैसा कि अरस्तू का दर्शन से। मीर तक़ी 'मीर' इनकी चर्चा बड़े आदर के साथ करते हैं और अपना तथा उस काल के कवियों का जगद्गुरु मानते हैं। खान आरज़ू उर्दू और फ़ारसी दोनों के उस्ताद थे। यद्यपि उर्दू कम कहते थे लेकिन उनके महाकवि होने में किसी को क्या संदेह हो सकता है, जब कि मीर, सौदा, मज़हर, और दर्द ऐसे महारथी उनको उस्ताद मानते थे? वे आगरे के रहने वाले शाह मुहम्मद ग़ौस गवालियरी के वंश में से थे। उन्होंने कविता रचना प्रारंभिक अवस्था में ही आरंभ किया और विभिन्न विद्याओं तथा कलाओं का ज्ञान प्राप्त किया। जवानी में गवालियर में मनसबदार नियुक्त हुए, लेकिन फ़रुख़सियर के राज्यकाल में सन् ११३० हि० में दिल्ली वापस आए। ११४७ हि० (१७३४ ई०) में शेख़ अली हज़ीं ईरान से हिंदुस्तान आए, जहाँ उनकी योग्यता की अत्यंत प्रशंसा हुई। प्रत्येक व्यक्ति ऐसे विद्वान् से भेंट करने का इच्छुक था। लेकिन आरज़ू को अपनी योग्यता का गर्व था और वह उन्हें स्वयं मिलने जाने से

रोकता था। संयोग से किसी अवसर पर दोनों विद्वानों का सामना हो गया। शेख़ की बढ़ी हुई बातें उनको बुरी मालूम हुईं, जिसका प्रभाव यह हुआ कि उन्होंने शेख़ की रचनाओं पर आपत्ति करना आरंभ किया और इन्हें एक पुस्तक के रूप में "तंबीउल्गाफ़लीन" के नाम से प्रकाशित किया। नादिरशाह के दिल्ली आक्रमण तथा विध्वंस के अनंतर नवाब सालारजङ्ग के परामर्श से जन्मभूमि छोड़कर लखनऊ आए, जहाँ ११६९ हि० (१७५६ ई०) में इनकी मृत्यु हुई। लेकिन शव को मृत की इच्छा के अनुसार नवाब दिल्ली ले गए और वहीं धरती मे गाड़ा। खान आरज़ू बड़े योग्य और मधुर रचना करने वाले कवि थे। उनकी नैसर्गिक योग्यता, बुद्धिमत्ता, शक्ति तथा धारावाहिता सब को मान्य है। रचनाएँ बहुतायत से हैं। उन में से निम्न पुस्तकें प्राप्त होती हैं—लगभग तीस हज़ार शेरों का एक फ़ारसी दीवान; सादी के गुलिस्ताँ, उरफ़ी के क़सीदों तथा सिकन्दरनामा की टीकाएँ; 'सिराजुल्लुगात' नाम का फ़ारसी कोष; 'ग़रायबुल्लुगात' नाम का उर्दू कोष, जो कि सूफ़ी मत के विशिष्ट शब्दों का एक प्रमाणिक कोष है और जिसमें नवीन शब्दों पर टीका भी है।

"मौहबत अज़मा" और "अतीया कबरी' वाग्मिता विषयक रिसाले हैं, "मजमाउलनफ़ायस" वृत्तांत है, जिसे "तज़किरए आरज़ू" भी कहते हैं, जिनमें उन हिन्दुस्तानी और दकनी कवियों का वृत्तांत है जिन्होंने फ़ारसी भाषा में रचनाएँ की हैं। इस में से 'मीर' तक़ी मीर ने अपने तज़किरे अर्थात् "निकातुश्शुअरा" में कुछ अंश उद्धृत किया है। लगभग १५ रचनाएँ खान आरज़ू की कही जाती हैं। यह प्रसिद्ध उस्ताद थे और कुछ अपने से भी योग्य शिष्य छोड़ गए। उर्दू भाषा मे सुयोग्य समीक्षक और विद्वान का सदा आभार रहेगा।

शाह हातिम पुराने कवियों में विशिष्ठ स्थान रखते हैं। इन्हें दिल्ली के रंग का प्रवर्तक समझना चाहिए। वली, मज़मून, नाजी तथा आबरू

की शैली में रेख़्ता लिखते थे। ज़हूरुद्दीन नाम,

शाह हातिम— हातिम उपनाम, शेख़ फ़तहुद्दीन के बेटे थे।
१६९९-१७९१ ई० दिल्ली में जन्म पाया। जन्म तिथि ११११ हि० 'ज़हूर' शब्द से निकलती है, जो १६९९-१७०० ई० के लगभग पड़ती है। सिपाही पेशा थे। कुछ समय तक इलाहाबाद के सूबादार अमीर खाँ के साथ रहे। १७२२ ई० में जब 'दीवान-वली' दिल्ली में आया और उसके शेरों को लोगों ने बहुत पसंद किया तो हातिम ने भी कुछ रचनाएँ कीं और रेख़्ता में शेर कहना आरम्भ किया। धीरे-धीरे विशिष्टता प्राप्त की। ख़्वाजा मीर दर्द, मीर तक़ी 'मीर', और बाद को मसहफ़ी के मुशाअरा में भी सम्मिलित होते थे। अपने समय में रेख़्ता के उस्ताद माने गए हैं। इनके दो दीवान हैं—एक पुराने रङ्ग में है जिसमें द्व्यर्थियाँ बहुत हैं और प्रायः रचना अश्लील है। दूसरा नये रङ्ग में है। पहले 'रम्ज़' उपनाम लिखते थे। आलमगीर द्वितीय के समय एक दीवान सम्पूर्ण रचनाओं में से संग्रह कर के प्रस्तुत किया और उसका नाम "दीवानज़ादा" रक्खा। संपूर्ण रचनाओं (कुल्लियात) के विषय में जो आबरू और नाज़ी की शैली में लिखा था, "तज़किरए-कुदरत" में लिखा है कि:—

"लेकिन वह शायरी का ख़्याल बहुत रखता है। उसका पुराना दीवान इस संपादक की दृष्टि से गुज़रा। आबरू और नाजी की शैली में शेर कहता है। उसकी अधिकांश रचनाओं से काव्य का कोई आनन्द नहीं मिलता।"

मुहम्मद शाह बादशाह की आज्ञा से एक मसनवी 'हुक़्क़े' पर लिखी जो विशेष मनोरञ्जक नहीं। उनके अतिरिक्त एक फ़ारसी दीवान भी है। बड़े शिष्ट और शालीन वयोवृद्ध सज्जन थे। अपने दीवान की भूमिका में ४५ शागिर्दों के नाम दिए हैं जिसमें सबसे पहले मिर्ज़ा रफ़ी सौदा का सुविख्यात नाम है। यह ऐसे शिष्य थे जिन पर गुरु को

भी गर्व था। अन्य प्रसिद्ध शिष्यों में रंगीं, निसार, ताबाँ, फ़ारिग भी हैं। शाह साहब की प्रकृति में हास्य और विनोद की मात्रा भी थी। भाषा-सुधार के प्रश्न पर भी ध्यान दिया और बहुत से अपरिचित तथा अटपटे शब्दों का त्याग किया। भाषा सुधार की दृष्टि से जान पड़ता है कि जो कार्य ज़ौक व आतिश व नासिख़ के समय में १०० वर्ष बाद पूरा हुआ उसका सूत्रपात हातिम ने किया था। खेद है कि उनके समकालीनों ने इस की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया, नहीं तो यह कार्य बहुत कुछ उसी समय पूर्ण हो गया होता।

इस प्रसंग में स्वयं उन्होंने जो लिखा है उसके पढ़ने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि भाषा के सुधार का प्रश्न सब से पहले शाह हातिम के हृदय में उत्पन्न हुआ था। उनकी रचनाएँ स्पष्ट रूप से शृंगारी हैं और कहीं-कहीं अपनी व्यक्तिगत बातों की चर्चा है; भाषा साफ़ सुथरी है। इतना अवश्य है कि भाषा की प्रारम्भिक अवस्था होने के कारण बहुधा अतिरिक्त शब्दों का उपयोग करते हैं। दिल्ली में १७९१ ई० या १७९२ई० में मृत्यु हुई।[1] मीर तक़ी, शाह हातिम से प्रभावित नहीं है। अपने तज़्किरे में इनके विषय उन्होंने में "मर्द जाहिल व मुतमकिन" (मूर्ख और घमंडी पुरुष) लिखा है। लेकिन मीर हसन इनका स्मरण गुणी, उत्तम प्रकृति और साहसी के रूप में करते हैं और कहते हैं कि उनकी गज़लों को प्रसिद्ध गवैये महफ़िलों में गाते थे। इसमें संदेह नहीं कि शाह हातिम का पद उर्दू साहित्य में अद्वितीय और प्रतिष्ठित है। वह सौदा और दूसरे बड़े-बड़े कवियों के गुरु थे। शेरों पर परामर्श देते और भाषा सुधार में उन्होंने बहुत प्रकट भाग लिया।

शेख़ शरफ़ुद्दीन, उपनाम 'मज़मून', शेख़ फ़रीदुद्दीन शकरगंज के

---

१ 'खुमख़ानएजावेद' के लेखक के अनुसार ९६ वर्ष की अवस्था में १२०७ हि० में मृत्यु हुई।

वंश में थे, जैसा कि वे स्वयं कहते हैं :—

मियां मज़मून— मृत्यु १७४५ ई०

करें क्यों न शक्कर लबों को मुरीद।
कि दादा हमारा है बाबा फ़रीद॥

अकबराबाद सूबे के जाजमऊ के रहने वाले, सिपाहीपेशा व्यक्ति थे। फिर तलवार को लेखनी से बदल लिया। बचपन में दिल्ली गए और "ज़ीन-तुलमसाजिद" नामक मसजिद में ठहरे। पर्यटकों (दरवेशों) का जीवन व्यतीत करते थे; परन्तु बड़े विनोदी और हास्यप्रेमी व्यक्ति थे। मीर उनको "सभाओं में जीवन उत्पन्न करने वाला" कहते हैं। अपने समय के काव्य-कला के उस्ताद और उसी समय की शैली में ख़ूब कहते थे। एक दीवान २०० पद्यों का छोड़ा। रचनाएँ सुन्दर और परिष्कृत हैं; लेकिन कहीं कहीं अश्लील और रूपकों, द्व्यर्थियों आदि से पूर्ण हैं, जो कि उस समय का विशेष रंग था। यद्यपि अवस्था में आरज़ू से बड़े थे लेकिन कविता में उनसे परामर्श कर लिया करते थे। मीर उन्हें नये विचारों तथा नए शब्दों की खोज में निपुण समझते हैं। सौदा और मीर हसन भी इनके बड़े प्रशंसक हैं। ख़ान आरज़ू उनको "शायर बेदाना" कहते हैं, कारण कि मजले से उनके सब दाँत गिर गए थे। सन् ११५८ हि० (१७४५ ई०) में इनकी मृत्यु हुई।

मिर्जा मज़हर जानजानां १६९८-१७८१ ई०

शम्शुद्दीन नाम, जानजानां पुकारने का नाम और मज़हर उपनाम था। पिता का नाम मिर्जाजान था जो आलमगीर के दरबार में मनसबदार थे। इनकी वंशपरम्परा पिता के पक्ष से मुहम्मद बिन हनफ़िया से मिलती है। माता बीजापुर के एक कुलीन वंश की थीं। दादा भी शाही दरबार में मनसबदार थे। परदादा से अकबर शाह की बेटी विवाहित थी। इन सम्बन्धों के कारण तैमूरिया वंश के नेवासे थे। प्रमुख सूफ़ी और अद्वितीय कवि थे। रचनाओं में

जितनी गंभीरता और प्रभाव है उतना ही आत्मिक प्रकाश तथा एकेश्वर-वाद भी है। मिस्टर ब्रील और फ्रांसीसी समीक्षक गार्सां द तासी के लेखानुसार आगरे में १११० हि० (१६६८ ई०) में, लेकिन मौलाना आज़ाद के शोध के अनुसार १११२ हि० में मालवा सूबे में कालाबाग़ नामक स्थल पर इनका जन्म हुआ। आपके पिता आलमगीरी काल में मनसबदार और वंशतः अलवी थे और शाही वंश से भी दूर का सम्बन्ध था। जब आपकी अवस्था १६ वर्ष की हुई, तो पिता का साया सिर से उठ गया। मिर्ज़ा साहब को बड़े बड़े सूफ़ियों और महापुरुषों के सत्संग का बचपन से ही आकर्षण था। शेख़ मुहम्मद अफ़ज़ल सियालकोटी से नियमानुसार हदीस पढ़ी, और तीन वर्ष तक नक्शबंदियां शेख़ों से ज्ञान प्राप्त किया। वे स्वयं साधु स्वभाव के और सूफ़ी विचारों के थे। सैकड़ों हिन्दू मुसलमान आपके शिष्य थे और आप में आस्था रखते थे। मीर तक़ी 'मीर' अपने तजकिरे में आपकी चर्चा आदर और सम्मान के साथ करते हैं।

मिर्ज़ा साहब बड़े सौंदर्य प्रेमी थे—चाहे यह सौंदर्य ऐहिक हो अथवा आत्मिक। मीर अब्दुल हई ताबां से, जो उस समय के प्रसिद्ध सुन्दर आकृति के कवि थे बड़ा प्रेम रखते थे। वे गंभीर विद्वान थे और न्यायशास्त्र का उनका अच्छा अध्ययन था। वे नक़्शबंदिया शैली के हनफ़ी थे। क़ुरान की आज्ञा का पूरा-पूरा पालन करते थे और अपना बहुत सा समय ध्यान में बिताते थे। उनके वार्तालाप का ढंग बड़ा मोहक था। शिष्टता पालन के विषय में बड़े दृढ़ थे। उनकी प्रतिष्ठा न केवल उनके मस्तिष्क के कारण वरन् उनके चरित्रबल के कारण भी थी। सुन्दर व्यक्ति के साथ उनमें दया भाव विशेष था। कहा जाता है कि वे चमत्कारिक बातें भी किया करते थे।

आपकी रचनाएँ उर्दू भाषा के विकास में एक विशिष्ट महत्व रखती हैं। इस कारण कि आपने न केवल भाषा का परिमार्जन किया वरन् उसमें फारसी के नए-नए प्रयोग और विचार उत्पन्न किए और द्वयर्थी

रचना की पुरानी शैली का त्याग किया। भाषा में यह नया रंग आपही का उत्पन्न किया हुआ है। लेकिन खेद है कि बहुत कम लोगों ने इसे उचित रूप से स्वीकार किया है। मसहफ़ी और शौक़ अपने अपने 'तज़किरों' में इस सेवा को अवश्य स्वीकार करते हैं। आप की रचनाएँ गद्य और पद्य दोनों में अत्यन्त सरल, धारावाही, और सुसंस्कृत होती हैं और जैसा हम ऊपर लिख आए हैं प्रभावशाली होने के अतिरिक्त सूफ़ी विचारों से ओत-प्रोत हैं। बहुधा शेरों को पढ़कर मालूम होता है कि विषय कल्पितमात्र नहीं है, बल्कि ऐसा है जिसका गहन अनुभव रचयिता को हुआ है। आपकी रचनाओं में से निम्न आपकी स्मारक हैं:—एक हज़ार शेरों का एक फ़ारसी दीवान, जिसे कि उन्होंने अपने एक पहले दीवान से जो कि २०,००० शेरों का था चुनकर तैयार किया; एक अपूर्ण दीवान उर्दू का, एक बयाज़ "ख़रीतए जवाहिर" जिसमें फ़ारसी कवियों के चुने हुए पद्य संगृहीत हैं। इनका निधन अत्यन्त खेदजनक रूप में हुआ। मुहर्रम के दिन थे। ताज़िए निकल रहे थे। मिर्ज़ा साहब अपने कोठे पर बैठे उनकी सैर कर रहे थे। प्रसिद्ध है कि उनके मुँह से निकला कि १२०० वर्ष बाद इतना शोर-गुल और मातम करना और काग़ज़ और बांस के ढाँचों का इतना आदर-सत्कार करना बुद्धि के विरुद्ध है। यह वाक्य ताज़िया ले जाने वालों ने सुन लिया, और झगड़े पर तत्पर हो गए। नवीं तिथि की रात को दो आदमी मिर्ज़ा साहब के मकान पर आए और पुकारा। मिर्ज़ा साहब को कुछ ख़याल न रहा और बाहर निकल आए। एक आदमी ने देखते ही तुरंत आक्रमण किया। मिर्ज़ा साहब घायल हुए और यही उनकी मृत्यु का कारण हुआ। आपके शिष्यों में इनामुल्ला ख़ाँ 'यक़ीन', मीर मुहम्मद बाक़र 'हज़ीं', ख़्वाजा इहसानुल्ला ख़ां 'बयान', मुस्तफ़ा ख़ां 'इकरंग', बसावनलाल 'बेदार', और मुहम्मद फ़क़ीह 'दर्दमंद' प्रसिद्ध कवि हुए हैं, जिन्होंने अपने अपने दीवान प्रस्तुत किए हैं।

सैयद मुहम्मद शाकिर नाम, नाजी उपनाम। साहसी, सिपाही पेशा. नवाब अमीर खां के न्यामतख़ाने के दारोग़ा थे। यह शाह आबरू, हातिम और दली के समकालीन थे और मुहम्मद शाह के राजत्वकाल के कवियों में से हैं। जब नादिर शाह ने दिल्ली पर आक्रमण किया था तो यह उपस्थित थे। शहर का नष्टभ्रष्ट होना अपनी आँखों देखा और इसकी करुण कथा अपने एक मुख़म्मस में वर्णित किया है। युवावस्था में ही मृत्यु पाई। मारज़ू और उनकी योग्यता में आस्था रखते और उन्हें अपने बराबर वरन् अपने से अच्छा कवि समझते थे। तीव्र विनोदी और प्रत्येक कवि की रचना में दोष निकाला करते थे। मीर साहब का कथन है कि "प्रकृति में विनोद की मात्रा अधिक थी। अपनी हास्यपूर्ण रचनाओं से लोगों को हँसाते और स्वयं मुँह बनाए रहते थे।" इनकी रचनाएँ दीवान के रूप में प्राप्त हैं और भाषा के प्रवाहयुक्त होने के कारण तथा सूक्ष्म कल्पनाओं के कारण दिल्ली के लोगों में प्रिय हैं। शेरों में उपमाओं तथा द्व्यर्थियों की बहुतायत है। कुछ शेर अश्लील भी हैं, जो उस काल का रंग है।

नाज़ी

मीर अब्दुल हई 'ताबां' बड़ी सुन्दर आकृति के युवक थे। उनके असाधारण सौंदर्य की प्रसिद्धि थी और वह यूसुफ़ द्वितीय कहलाते थे। इनके सौंदर्य की प्रशंसा में कवितायें रची जाती थीं। उसी सौंदर्य को द्विगुणित करने के लिए वह प्रायः काले वस्त्र धारण किया करते थे। उनके सौंदर्य की ख्याति इतनी फैली कि एक बार शाह आलम उन्हें देखने के लिए स्वयं आए। स्त्रियों के प्रति यह विशेष ध्यान न देते लेकिन एक व्यक्ति पर, जिसका नाम शाह सुलैमान था, आसक्त थे। मिर्ज़ा मज़हर जानजानां को इनके प्रति विशेष प्रेम तथा आकर्षण था। जैसा कि उनके हाल में लिखा गया है। बहुधा चरित्रलेखकों का कथन है कि जवानी

ताबाँ

में मरे और मृत्यु का यह कारण बताया जाता है कि शराब का नशा बहुत करते थे जिससे कि जलोधर हो गया था। लेकिन "गुलशने हिंद" तज़किरा के लेखक का कथन है कि उन्होंने उनको १२०१ हि० (१७८६-८७ ई०) में लखनऊ में देखा था और इस समय भी वे शारीरिक आकर्षण रखते थे। फ़ैलन साहब लिखते हैं कि १७९७ ई० अर्थात् १२११ हि० तक वे जीवित थे। मीर साहब ने अपने 'तज़किरे' में इनकी चर्चा असाधारण प्रशसा के शब्दों में की है।

उन्होंने इनके मदिरापान की भी चर्चा की है।

इनकी मदिरा-पान की अधिकता के कारण मित्रो ने इन से मिलना-जुलना छोड़ दिया था। उन्हों ने भी विवश हो कर अंत में शराब की ओर से अपने को खींचा। लेकिन कुछ ही दिनों के बाद अंतिम प्रयाण कर दिया। इनकी रचनाएँ शृंगारी, मीठी तथा नमकीन हैं। कल्पनाएँ बड़ी सूक्ष्म, भाषा बड़ी प्रवाहयुक्त है। किसके शिष्य थे, इस विषय में मतभेद है। कुछ के अनुसार 'हातिम' और दूसरों के अनुसार मुहम्मद अली 'हशमत' से परामर्श करते थे। 'लुत्फ़' का कहना है कि सौदा को अपनी रचनाएँ दिखाया करते थे। लेकिन मीर साहब ने अपने 'तज़किरे' में 'हशमत' ही को उनका गुरू माना है और यही ठीक है।

यकरंग

मुस्तफ़ा कुलीख़ां 'यकरंग' ख़ां जहाँ लोदी के वंश में थे। मुहम्मद शाही राजत्व-काल के अमीरों में थे और बड़ी प्रतिष्ठा तथा सम्मान के साथ जीवन व्यतीत करते थे। दिल्ली के गुणी कवियों में गिने जाते हैं। रचनाएं उच्च कोटि की रूपकों से भरी हुई हैं। शाह मुबारक आरज़ू और मियाँ मज़मून की शैली की है। कुछ लोग इन्हें शाह आबरू का और कुछ ख़ान आरज़ू का शिष्य बताते हैं। लेकिन स्वयं उनकी रचनाओं से ज्ञात होता है कि वे मिर्ज़ा मज़हर के शिष्य थे। उनका 'दीवान'

आदर की दृष्टि से देखा जाता है। उसमें शृंगारी तथा आध्यात्मिक दोनों ही प्रकार की रचनाएँ हैं। बहुधा उनके एक ही शेर को कोई ऐहिक प्रेम और कोई आध्यात्मिक प्रेम का संकेतक समझते हैं। जन्म और मृत्यु की तिथियों का पता नहीं चलता। इमाम-हुसैन की प्रशंसा में एक 'मरसिया' भी लिखा है, जिसके कुछ शेर मीर साहब ने अपने 'तज़किरे' में उद्धृत किए हैं।

अशरफ़अली खां, उपनाम फ़ुग़ां, मिर्जा अली खां 'निकस्ता' के बेटे, दिल्ली के अहमद शाह बादशाह के कोका (पोष्य-भाई) थे।

फ़ुग़ां—
मृत्यु १७७२ ई०

अत्यंत हास्य-प्रेमी और विनोदी थे। इसी कारण "ज़रीफ़ुलमुल्क कोका खां बहादुर" की उपाधि दिल्ली के दरबार से प्राप्त हुई थी। बातों में हँसी करने की बड़ी बान थी, फ़बती कहने में अभ्यस्त थे।[१] जब अहमद शाह अब्दाली ने दिल्ली का विध्वंस किया तो फ़ुग़ां मुर्शिदाबाद चले गए जहाँ उनके चचा ईरज खां शक्तिशाली थे। मुर्शिदाबाद से नवाब शुजाउद्दौला बहादुर के पास फ़ैज़ाबाद आए और नवाब ने उनका बड़ा आदर आतिथ्य किया। किन्तु किसी बात पर अप्रसन्न होकर[२] पटना चले गए, जहाँ महाराज शिताबराय ने उनका बड़ा आदर-सम्मान किया। यहाँ भी जी भर गया और अंत में वे किन्तु एकांतवासी हो गए। ११८६ हि० (१७७२ ई०) में पटने में इनकी मृत्यु हुई और वहीं दफ़न किए गए।

रेख़्ता का एक उत्तम दीवान अपना स्मारक छोड़ा है जिसमें लगभग

---

१ —मीर अपने 'तज़किरे' में कहते हैं कि अमीर नागर मल नाम के एक दरबारी को "घी की मंडी का सांड़" और हकीमा सूम नाम के एक व्यक्ति को "गाव गुजराती" कहा करते थे।

२ मसहफ़ी के अनुसार नवाब ने जोश में गरम पैसे से उनका हाथ दाग़ दिया था।

२,००० शेर होंगे। मीर तक़ी और मीर हसन की खोजों के अनुसार एक दीवान फ़ारसी का भी है। सौदा और मीर दोनों उनके प्रशंसक हैं। मीर साहब इनको क़ज़लबाश खां 'उम्मेद' का शिष्य बताते हैं। लेकिन मसहफ़ी अली क़ुली 'नदीम' से इनका संबंध बताते हैं। .फ़ुग़ां फारसी और हिंदी के मुहावरे, सुंदर रीति से एक साथ पद्यबद्ध करते हैं। रचनाएँ बड़ी सुन्दर, विचार सूक्ष्म, और ऊँचे; द्व्यर्थी कथन त्याग दिया था। अश्लील शब्दों और विचारों से बचते थे। रचनाओं में धारावाहिता और सफ़ाई बहुत है। क़िते निरंतर और अच्छे लिखते हैं। मीर साहब उनको 'जवान कामिल हंगामा व आरा" (पूर्ण युवा और क्रांतिकारी) कहते हैं। दीवान में ग़ज़लें, क़सीदे, क़िते, रूबाइयाँ, मुख़म्मस सभी कुछ हैं।

इस काल में शायरी का प्रचलन बहुत था। इस कारण कवि भी बहुतायत से उत्पन्न हुए। पुराने तज़किरो में जैसे मीर तक़ी और मीरहसन के तज़करों में छोटे-बड़े प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध सभी तरह के कवियों के नाम तथा उनकी रचनाओं के नमूने बहुतायत से मिलते हैं। हम इस छोटे से ग्रंथ में उन सब की चर्चा करने में असमर्थ हैं। दिल्ली के रहने वाले मीर मुहम्मद हुसैन कलीम का नाम अवश्य लिया जाना चाहिए। मीर हसन का कहना है कि फ़ुसूस का उन्होंने अरबी से उर्दू में अनुवाद किया था और एक पुस्तक 'छंदशास्त्र' पर लिखी थी। यह मीर हसन के संबंधी थे और योग्य पुरुष थे।

शेष कविगण

अध्याय-६

दिल्ली के प्रमुख कवि--२

मीर और सौदा का समय

यह काल उर्दू शायरी की सब से बड़ी उन्नति का काल है। इसी में उर्दू कविता उन्नति के चरम पद पर पहुँची। इसी में मीर हसन, दर्द, सौदा और मीर ऐसे योग्य व्यक्ति उत्पन्न हुए जिनके नाम इस समय तक प्रकाशित हैं। वरन् जब तक उर्दू भाषा संसार में जीवित रहेगी वह कभी नहीं मिट सकते। कविता के सभी अंग इस काल में पुष्ट हुए। मसनवी में मीर हसन की मसनवी "सहरुलबयान", क़सीदे में सौदा के क़सीदे, ग़ज़ल में मीर और दर्द की ग़ज़लें अपना जवाब नहीं रखतीं। ये सुयोग्य उस्ताद अपनी अपनी कला में अद्वितीय हो गए हैं और अपनी रचनाएँ आने वाले लोगों के लिए कसौटी के रूप में छोड़ गए हैं। यही वे आदरणीय व्यक्ति हैं, जिनकी प्रतिष्ठा समय की गति के साथ कम नहीं होती। बाद के सभी प्रमुख कवियों ने जैसे ज़ौक़, ग़ालिब, नासिख़, आतश, सब ने इनका लोहा माना है और उनकी योग्यता और कवित्व को हृदय से स्वीकार किया है :

उर्दू कविता का स्वर्णयुग

न हुआ पर न हुआ 'मीर' का अंदाज़ नसीब।
'ज़ौक' यारों में बहुत ज़ोर ग़ज़ल में मारा॥

× × ×

ग़ालिब अपना यह अक़ीदा है बक़ौले 'नासिख़'।
आप बे बहा है जो मोतक़ीदे मीर नहीं॥

रेख़्ता के तुम्ही उस्ताद नहीं हो 'ग़ालिब'।
कहते हैं अगले ज़माने में कोई 'मीर' भी था ॥

× × ×

कब हमारो फ़िक्र से होता है 'सौदा' का जवाब।
हां ततब्बो करते हैं 'नासिख़' हम उस मग़फ़ूर का ॥

इस काल में फ़ारसीपन का बड़ा प्रधान्य था। मीर, सौदा और अन्य कलाकार अपने पूवजों की नक़ल करते रहे। शाह हातिम के साथ ख़्वाजा मीर दर्द व मीर ख़पां मकीन ने अपनी रचनाओं से हिन्दी के शब्द निकाल डाले। इन परिवर्तनों की सूची सफीर बिलगरामी ने तज़किरए जल्वए ख़िज्र' की पहली जिल्द में अंकित की है, जिसको "शेरुलहिन्द" में उद्धृत किया है। मौलवी अब्दुस्सलाम साहब लिखते हैं कि "इन सुधारों के बाद उर्दू शायरी बिल्कुल फ़ारसी के ढाँचे में ढल गई और हमारे कवियों ने बिल्कुल ईरानी कवियों की शैली में कहना आरम्भ किया। अतएव मीर साहब कहते हैं :—

भाषा में फ़ारसीपन का प्राधान्य

तबीयत से जो फ़ारसी के मैंने हिन्दी शेर कहे।
सारे तुर्क बच्चे ज़ालिम अब पढ़ते हैं ईरान के बीच ॥

सौदा और मीर ने सादी और हाफ़िज़ से लाभ उठाया और उनके शेरों का अनुवाद भी किया। इस काल में कुछ लोगों ने फ़ारसी के आख़िरी कवियों, नासिर अली, जलाल, असीर, कलीम और बेदिल के रंग में कहना आरम्भ किया। लेकिन सुसंस्कृत कवियों ने तालिब आमली और शफ़ाई आदि का ढंग ग्रहण किया। इन व्याख्याओं के अतिरिक्त स्वयं उन कवियों की रचनाओं के अंतर्साक्ष्य से सिद्ध होता है कि उन्होंने अंतिम फ़ारसी कवियों की रचनाओं को सामने रखकर कविता लिखना आरम्भ किया है। अतएव सौदा, मीर, दर्द आदि ने इस युग के कई फ़ारसी कवियों, जैसे सायब, बेदिल, नज़ीरी

उर्फ़ी की ग़जलों पर ग़जलें लिखीं और उनके अच्छे शेरों का अनुवाद किया। और इस काल के कवियों की रचनाओं में फ़ारसी प्रयोगों और फ़ारसी मुहावरों के अनुवाद की जो बहुतायत है वह इसी अनुकरण का प्रभाव है।" सौदा ने विशिष्ट रूप से ऐसे नए नए प्रयोग और मुहावरे भाषा में समाविष्ट किए जो स्थायी ढंग से उसी के हो रहे। मीर ने भी फ़ारसी के कोष से भाषा को बहुत कुछ संपन्न किया। मीर हसन ने अवश्य जो उस समय के शब्दकोष से ही संतोष किया।

शब्दों में लिंगभेद, नए छंद आदि

शब्दों में लिंग-भेद निश्चित नहीं था। लेखक इच्छानुसार किसी शब्द को स्त्रीलिंग अथवा पुल्लिंग मान लेता था। नए छंद, जिनका इस समय से पूर्व प्रयोग नहीं हुआ था, अब कविता में ग्रहण किए गए। नए काव्य-भेदों का भी प्रवेश साहित्य में हुआ। जैसे मीर साहब ने 'वासोख़्त', 'मुसद्दस', 'मुरब्बा' का आविष्कार किया। फ़ारसी में अवश्य 'वासोख़्त' का प्रारम्भ फ़ुगानी और वहशी ने किया था। 'क़सीदा' और 'हज्व' को सौदा ने चमकाया और 'क़सीदों' की रचना तो निश्चयपूर्वक इसी काल में अपने चरम अवस्था को प्राप्त हुई। कठिन कठिन छंद और तुक, और दोहरे तुकों का प्रचलन हुआ, जिससे कि भाषा पर अधिकार सिद्ध हो। भरती के शब्द, जो पिछले काल में छंदपूर्ति की दृष्टि से समाविष्ट कर लिए जाते थे, अब कम हो गए।

अफ़ग़ानों के निरन्तर आक्रमणों और मरहटों की लूट मार के भय से बहुधा प्रसिद्ध कवियों ने दिल्ली को छोड़कर लखनऊ में निवास ग्रहण किया।

कवि दिल्ली छोड़कर लखनऊ आते हैं

अतएव मीर, सौदा, मीर हसन, सोज़ आदि इस क्रांतिपूर्ण समय में अपनी जन्मभूमि छोड़कर नवाबों के संपन्न दरबार में लखनऊ चले आए। मीर दर्द ही एक ऐसे संतोषी और जन्म-भूमि प्रेमी कवि थे जो वहीं जमे रहे।

इस काल के कवियों की एक विशेषता यह है कि उनकी रचनाओं में गिरे हुए विचारों के साथ ऊँचे विचार और खोटे शब्दों के साथ ओजपूर्ण और शिष्ट शब्द मिले-जुले हैं। गजलों में समान रूप से एक उच्चस्तर का निर्वाह नहीं हो सका है। मीर तक़ी 'मीर' के संबंध में एक पुराने वृत्तांतकार का कथन है कि उनके साधारण शेर अत्यंत साधारण और उच्चकोटि के शेर अत्यंत उच्चकोटि के होते हैं। अंग्रेज़ी में यही बात कवि वर्ड्सवर्थ के विषय में सत्य ठहरती है। नवाब मुस्तफ़ा खां 'शेफ़्ता' अपने "गुलशन बेखार" नामक तज़किरे में यही आपत्ति मि०रज़ा सौदा पर भी करते हैं। वास्तव में यह विषमता उन लोगों के लिए एक उचित दंड है, जिनकी रचनाएँ बहुत होती हैं और जो समय-असमय देखे बिना लिखते ही रहते हैं। सौदा और मीर से अधिक वृहत्काय ग्रन्थों का रचयिता कौन होगा? उनके सब शेर समान कक्ष के कैसे हो सकते हैं? ख्वाजा मीर 'दर्द' कम लिखते थे, अर्थात् उसी समय लिखते थे जब कि अंतर्प्रेरणा होती थी, इसी कारण उनकी अधिकांश रचनाएँ इस दोष से मुक्त हैं।

इस काल की रचनाओं की विशेषता

अनेक 'तज़किरे' अर्थात् कवियों के संक्षिप्त वृत्तांत और उनकी रचनाओं से चयन भी, इसी काल में लेखनी-बद्ध हुए। यह कार्य बड़ा लाभदायक सिद्ध हुआ, क्योंकि इससे उस काल की दशा पर बहुत पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। मीर तक़ी 'मीर' का तज़किरा' "निकातुश्शोअरा" और मीर-हसन का 'तज़किरा' "शोअराये-उर्दू" अब छप गए हैं, और सर्वत्र प्राप्त होते हैं। इनमें यद्यपि वृत्तांत बहुत संक्षिप्त अंकित हैं फिर भी उर्दू कविता के इतिहासकार के लिए बहुत उपयोगी वस्तु हैं और इनके द्वारा अत्यंत मनोरंजक बातें ज्ञात होती हैं।

'तज़किरे'

सैयद ख्वाजा मीर नाम, 'दर्द' उपनाम, ख्वाजा मुहम्मद नाजिर

अंदलीब के पुत्र थे। उनके पिता का भी एक बृहत्काय दीवान "नालए अंदलीब" के नाम से प्रसिद्ध है। वंशपरम्परा

ख़्वाजा मीर 'दर्द' ११३३-११९९ हि०

ख़्वाजा बहाउद्दीन नक़्शबंद से मिलती है और माँ की तरफ़ से स्वर्गीय हज़रत ग़ौसुल आज़म तक पहुँचती है। उनके नाना मीर सैयद मुहम्मद हसनी नवाब मीर अहमद अली ख़ाँ के पुत्र थे, जिनकी प्रशंसा में 'सौदा' ने 'क़सीदा' लिखा है, और जो पानीपत के युद्ध में शहीद हुए थे। ख़्वाजा साहब के पूर्वज बुख़ारा से हिन्दुस्तान आए थे लेकिन उनके पिता ख़्वाजा नासिर का जन्म हिन्दुस्तान में ही हुआ। जवान होने पर ख़्वाजा नासिर शाही मनबदार नियुक्त हुए। लेकिन थोड़े समय में सांसारिक संबंधों का त्याग करके एकांतवासी बने और हज़रत शाह ख़्वाजा मुहम्मद ज़ुबैर के शिष्य हो गए। इसी बीच प्रसिद्ध सूफ़ी शाह गुलशन के संपर्क में आए। ख़्वाजा साहब ने अपने पूज्य पिता के ज्ञान और योग्यता के बाहरी तथा भीतरी वृत्तांत का बड़े प्रभावशाली ढंग से वर्णन किया है। ख़्वाजा साहब की जन्मतिथि ११३३ हि० है। उन्होंने अपने पिता के ही निरीक्षण में विद्या प्राप्त की। क़ुरान, हदीस, तफ़सीर, क़स्सा और सूफ़ीमत का अच्छा ज्ञान था। युवावस्था में सांसारिक बातों में भाग लेते और अपनी जागीर के कार्यों को भी देखते थे। मसहफ़ी अपने 'तज़किरे' में लिखते हैं कि यह सिपाहीपेशा थे। लेकिन पिता की आज्ञा से नौकरी छोड़कर फ़क़ीर बने। २८ वर्ष की अवस्था में सांसारिक बातों से अलग होकर एकांतवासी बने; और जब पिता ने अंतिम प्रयाण किया तो ३९ वर्ष की अवस्था में उनके सज्जादानशीन और स्थानापन्न बने। ख़्वाजा साहब के वंश का प्रभाव, जहाँगीरी राजकाल के रईस नवाब ज़फ़र ख़ाँ से उनका संबंध, और नक़्शबंदिया परम्परा में उनका शेख़ होना—इन सब बातों ने उन्हें जनसाधारण में तथा विशिष्ट लोगों में आदर का स्थान दे रक्खा था। इसके अतिरिक्त उनके निजी

धार्मिक जीवन तथा सूफ़ियाना विचारों के कारण भी लोगों की उनमें आस्था थी। ग़रीब से लेकर अमीर और बादशाह से लेकर फ़क़ीर तक उनका अत्यंत आदर करते और उनमें हृदय से विश्वास रखते थे। समकालीन वृत्तांतकार उनके इस विशेष गौरव तथा प्रतिष्ठा और-ईश्वरीय वृत्ति के दृढ़तापूर्वक साक्षी हैं, और लिखते हैं कि वे शिष्टता और शालीनता की मूर्ति थे। जैसा कि साधु-संतों के लिए उचित है, उनमें संतोष था और ईश्वर के प्रति सदैव निर्भरता का भाव था। जब दिल्ली पर अहमदशाह अब्दाली का आक्रमण हुआ और उसके अनंतर मरहठों की लूटमार आरंभ हुई तो प्रत्येक व्यक्ति, जो अपनी रक्षा और कुशल चाहता था, शहर छोड़कर निकल खड़ा हुआ। बड़े-बड़े लब्धख्यात कवि दिल्ली से निकल कर लखनऊ पहुँचे, लेकिन यह दृढ़ ईश्वरनिष्ठ व्यक्ति अपनी जगह से न डिगा। वह ईश्वर पर भरोसा किए हुए अपने पूर्वजों की चौकी पर बैठा रहा और समय की अस्थिरता ने उसे तनिक भी न डिगाया। स्वतंत्रता और आत्म-सम्मान की मात्रा 'दर्द' में इतनी अधिक थी कि कभी भी राज-प्रसंशा में कविता न रची और न दरबार में घुटना झुकाया। दो बार उन्होंने समकालीन सम्राट् शाह आलम से मिलना अस्वीकार किया। एक बार शाह आलम स्वयं उनकी सभा में आए, जिस में सम्मिलित होना वे अपने गौरव की बात समझते थे। संयोग से उन्होंने पाँव फैला दिये। ख़्वाजा साहब को यह बात अत्यंत अप्रिय लगी। बादशाह उनकी दृष्टि से समझ गए और पाँव में कष्ट होने का बहाना करते हुए अपनी विवशता प्रकट की। ख़्वाजा साहब ने कहा कि यदि तकलीफ़ थी तो आने का कष्ट क्यों किया? हज़रत को संगीत से भी बड़ा प्रेम था। स्वयं इस कला में प्रवीण थे। बड़े बड़े कलावंत और गवैए सेवा में प्रस्तुत होते और अपना गुण दिखाते। आपके निवास-स्थान पर प्रत्येक महीने की दूसरी और चौबीसवीं तिथि को संगीत-समाज जुटता, जिसमें बड़े बड़े क़व्वाल तथा कलावंत एकत्र

होते। मियाँ फ़ीरोज़, जो उस समय का सबसे प्रसिद्ध क़व्वाल था, प्रायः सेवा में उपस्थित होता, और अपने गुणों से हज़रत को प्रसन्न करता। मुहर्रम के अवसर पर भी मजलिसें होतीं, जिनमें मर्सिये कहे जाते। इसी प्रकार सूफ़ियों के जलसे भी इनके निवास पर प्रायः होते रहते, जिनमें सम्मिलित होना बड़े बड़े अमीर अपने गौरव की बात समझते थे।

ख़्वाजा साहब को कविता करने के प्रति बचपन से ही रुचि थी।

रचनाएँ निम्नलिखित पुस्तकें जो प्रकाशित हो चुकी हैं उनकी रचनाएँ हैं :- (१) इसरारुल् सलवात। (२) वारदाते-दर्द। (३) इल्मुल्किताब। (४) नालए दर्द। (५) आहेसर्द। (६) शमामहफ़िल। (७) दर्दे-दिल। (८) वाक़याते दर्द। (९) हुरमते। ग़िना (१०) दीवान-फ़ारसी।(११) दीवान-उर्दू।

'इसरारुस्सलवात' नामक रिसाले की रचना इन्होंने १५ वर्ष की अवस्था में की थी। इसमें नमाज़ का रहस्य बताया गया है और उसकी प्रशंसा की गई है। रिसाला-वारदात २९ वर्ष की अवस्था में ११७२ हि० में रचा गया। इसमें सूफ़ीमत संबंधी प्रश्न गद्य और पद्य में वर्णित हैं। इल्मुल्किताब इसी पुस्तक की टीका है जिसे अपने प्रिय भाई और शिष्य ख़्वाजा मीर असर के आग्रह से रचा। इसमें सूफ़ी-मत के सिद्धांतों को बड़े पुष्ट तर्कों के आधार पर, क़ुरान की आयतों हदीसों और नबी तथा विशिष्ट पुरुषों के वचनों द्वारा सिद्ध किया गया है। अपने जीवन की भी घटनाओं का प्रायः वर्णन है। 'नालए-दर्द' सन् ११९० हि० में और 'आहेसर्द' ११७० हि० में रची गई। यह पुस्तकें भी धार्मिक तथा सूफ़ीमत विषयक हैं। 'शमए-महफ़िल' और 'सहीफ़ए-वारदात'—यह दोनों रचनाएँ उस

और 'वाक़याते दर्द' में भी सूफ़ीमत की जटिल समस्याओं का विवेचन है। 'दीवान फ़ारसी' फ़ारसी रचनाओं का एक छोटा सा संग्रह है, जिसमें गज़लों के अतिरिक्त रुबाइयाँ, मुख़म्मस आदि भी हैं। अंतिम रचना 'दीवान-उर्दू' है, जिसको उर्दू शायरी के ताज का सबसे बड़ा हीरा समझना चाहिए। उर्दू-दीवान के अतिरिक्त सभी उपर्युक्त रचनाएँ फ़ारसी में हैं। दीवान का एक शुद्ध और अच्छा संस्करण निज़ामी प्रेस से प्रकाशित हुआ है जिस पर नवाब हबीबुर्रहमान ख़ां शेरवानी की एक अत्यंत योग्यतापूर्ण भूमिका है। ख़्वाजा साहब की भाषा, शैली की दृष्टि से वही है जो मीर की है। स्पष्ट, सरल, प्रवाहयुक्त और सर्वसाधारण की समझ में आने वाली है और करुणरस कूट कूट कर भरा हुआ है। सूफ़ीमत का विवेचन इनसे बढ़ कर किसी की कविता में नहीं हुआ है। सूफ़ीमत के जटिल और कठिन सिद्धांतों का ऐसी सुन्दर और सुस्पष्ट शैली में वर्णन किया है, कि पढ़कर हृदय गद्गद् हो जाता है। गज़लें भाषा की सरलता और प्रसाद गुण में मीर की रचनाओं का स्वाद देती हैं और साथ ही सूफ़ीमत के पुट और करुण रस के कारण उनसे बढ़ी हुई हैं। मीर की भाँति ख़्वाजा साहब की भी दो गज़लें, जो कि छोटे छंदों में हैं, अपना जवाब नहीं रखतीं। "आबेहयात" के रचयिता के अनुसार "तलवारों की काट नश्तरों में भर दी है" अथवा स्वर्गीय अमीर मीनाई के अनुसार "पिसी हुई बिजलियाँ मालूम पड़ती हैं"। भद्दे हास्य और उपहास से उन्होंने कभी भाषा को कलुषित नहीं किया। कहीं कहीं पुराने शब्द और मुहावरों का उपयोग भी कर जाते हैं, लेकिन इस सुन्दरता से कि शेर की विशेषता बढ़ जाती है। शृङ्गारी रंग बहुत ऊँचे दर्जे का है। इस ज़माने का सांसारिक प्रेम, जिसे वह कामुकता का नाम देते हैं, उनकी रचनाओं में न मिलेगा। इस कामुक प्रेम द्वारा आत्मिक प्रेम प्राप्त हो सकता है, इसमें उनका विश्वास नहीं। सांसारिक प्रेम को वह इस प्रकार का प्रेम मानते हैं जैसे कि 'पीर' (गुरु) अथवा मित्रों के

साथ हो। साधारण बाज़ारू प्रेम में उनका विश्वास नहीं। ऐसे महानुभावों की दृष्टि में कविता का स्थान बहुत ऊँचा होता है। आर्थिक लाभ अथवा सांसारिक उन्नति के उद्देश्य से कविता करने को यह पाप समझते हैं। इसी कारण उनकी रचना इतनी प्रभावशाली तथा भावुकतापूर्ण होती है।

भाषा और उर्दू साहित्य की दृष्टि से ख़्वाजा साहब को एक बहुत उच्च और प्रतिष्ठित आसन प्राप्त है। 'आबेहयात' के रचयिता के अनुसार "चार विशिष्ट व्यक्तियों में से एक यह हैं।" शेष तीन हैं—मीर सौदा, और मज़हर जिनके द्वारा उर्दू भाषा का परिशोध हुआ, और पुरानी द्व्यर्थियों और हिन्दी दोहरों का अनुकरण छूटा। भाषा मँजी और अन्ततः उन्नति के शिखर पर पहुँची। ख़्वाजा साहब की रचनाओं ने यह और वृद्धि की कि सूफ़ीमत के तथा आत्मिक विचारों के मिश्रण से उसे और भी सुन्दर बना दिया। ख़्वाजा साहब का यह प्रभाव उनके समकालीनों तथा उनसे बाद में आने वालों पर भी बहुत था। उनके समसामयिक कवि उनका बड़ा आदर करते थे। मीर तक़ी 'मीर' अपने 'तज़किरे' में बड़े उत्साह के साथ उनकी चर्चा करते हैं। मीर साहब ख़्वाजा साहब की चर्चा ऐसे शब्दों में करते हैं कि लोगों को धोखा होता है कि उनके शिष्य थे। इसी कारण, फ्रांसीसी आलोचक गार्सां द तासी को ऐसा धोखा हुआ और उसने मीर को दर्द का शिष्य बताया है। वास्तविक बात यह है कि मीरसाहब उनकी पवित्रता और योग्यता तथा आत्मिक ज्ञान में हृदय से विश्वास रखते थे और यही हाल मीर हसन का भी है। वह भी उनके बड़प्पन में विश्वास रखते थे और उनकी रचनाओं के प्रशंसक तथा प्रेमी थे। उनकी रचनाओं के विषय में आप लिखते हैं कि "उनका कलाम यद्यपि संक्षिप्त है, लेकिन हाफ़िज शीराज़ी की रचनाओं जैसा चुना हुआ है।" हमारी सम्मति में

मीर अनीस की रचनाओं में जो सरलता और प्रभाव पाया जाता है, वह मीर हसन के माध्यम से उन्हें ख़्वाजा साहब की रचनाओं से प्राप्त हुआ है।

ख़्वाजा साहब के बहुत से शिष्य थे, जिनमें क़ायम, हिदायत, फ़िराक़ और असर प्रसिद्ध हैं। विशेष कर क़ायम और असर उच्चकोटि के कवि और दीवानों के रचयिता हैं। ख़्वाजा साहब के पुत्र का नाम साहब मीर और उपनाम 'अलम' था। मृत्यु-तिथि और आयु के सम्बन्ध में मतभेद है। बील साहब लिखते हैं कि उन की मृत्यु ११९९ हि० (१७८५ ई०) में मृत्यु हुई। मिर्ज़ा अली लुत्फ़ १२०२ हि० और मसहफ़ी १२०९ हि० लिखते हैं, जो १७९३-९४ ई० होती है। यही वह सन् है जिसमें मसहफ़ी ने अपना 'तज़किरा' लिखा था। गार्साँ द तासी और लायल साहब मसहफ़ी का अनुकरण करते हैं। "आबेहयात" के लेखक लिखते हैं कि उनकी मृत्यु ११९९ हि० में, दिल्ली में, बासठ वर्ष की अवस्था में हुई। अल्लामा शेरवानी ने अपनी भूमिका में एक समकालीन कवि बेदार की तिथि लिखी है :—

शिष्यगण

हैफ़ दुनिया से सिधारा वह ख़ुदा का महबूब।

जिससे-मृत्यु तिथि ११९९ हि० और अवस्था अड़सठ की निकलती है। स्वयं ख़्वाजा साहब 'शमा महफ़िल' में कहते हैं कि अंतर्प्रेरणा से मुझे ज्ञात हुआ कि मेरी अवस्था ६६ वर्ष की होगी। सारांश यह है—और यही ठीक भी ज्ञात होता है—कि उनकी अवस्था ६६ वर्ष और मृत्यु तिथि ११९१ हि० है।

दर्द का व्यक्तित्व उर्दू शायरी में एक विशेष महत्व रखता है। अपने समकालीनों पर तथा अपने बाद आने वाले कवियों पर उन्होंने गहरा प्रभाव डाला। सूफ़ीमत के रंग में वे अद्वितीय हैं।

सैयद मुहम्मद मीर नाम, ज़ियाउद्दीन के बेटे, शाह क़ुतुब आलम गुजराती के वंश में थे। पूर्वज बुख़ारा के रहने वाले थे। लेकिन स्वयं मीर सोज़ का जन्म दिल्ली में हुआ। तीर से निशाना

मीर सोज़
११३३-१२१३ हि०

लगाते और घोड़े की सवारी में निपुण, हृष्ट-पुष्ट और व्यायाम के बड़े प्रेमी थे। सैनिक की कला के अतिरिक्त सुन्दर लेखन का अभ्यास था, नस्ख़, नस्तालीक़, शफ़ीआ आदि समस्त तत्कालीन लिपिशैलियों का ज्ञान था। युवावस्था में रसिक और प्रेमी हृदय पाया था। शाह आलम के समय में जब दिल्ली पर तबाही आई और लोग बेहाल थे तब यह साधुवृत्ति से संपन्न, योग्य सूफ़ी थे। जन्मभूमि के नष्टभ्रष्ट होने के कारण हतोत्साह होकर निकल पड़े। पहले फ़र्रुख़ाबाद गए जहाँ नवाब मेहरबान ख़ाँ रिन्द, दीवान नवाब अहमद ख़ाँ ग़ालिब जंग के यहाँ कुछ दिनों तक सेवा की और आश्रय ग्रहण किया। उसके बाद लखनऊ आए। यह नवाब आसफ़ुद्दौला का समय था। नवाब ने बड़ी कृपापूर्वक स्वागत किया, लेकिन इनका जी न लगा। कुछ दिन ठहर कर मुर्शिदाबाद की ओर प्रस्थान किया, जहाँ बंगाल के नवाबों का बोलबाला था। वहाँ से भी जी घबराया तो अंत में उसी वर्ष फिर लखनऊ वापस आए और अबकी बार आसफ़ुद्दौला उनके शिष्य हुए; लेकिन कुछ ही समय बाद गुरु का निधन हो गया। बील साहब लिखते हैं कि यह १२१२ हि० में ८० वर्ष की अवस्था में मरे। लेकिन लुत्फ़ इनकी मृत्यु-तिथि १२१३ हि० बताते हैं और मसहफ़ी मृत्यु के समय ७० वर्ष की अवस्था लिखते हैं। नस्साख़ अपने तज़किरा 'सख़ुन शुअरा' में अवस्था ८० वर्ष और मृत्यु का स्थान तिलहर बताते हैं। फ़ीरोज़ 'तज़किरतुलशुअरा' में १२१३ हि० मृत्यु-तिथि और अवस्था ७० वर्ष लिखते हैं। हमारे विचार में अवस्था ८० वर्ष और मृत्यु तिथि १२१३ हि० ठीक जान पड़ती है। मीर सोज़ अत्यन्त हँसमुख, वाले विनोदी, मिष्टभाषी, मिलनसार और शिष्टाचार के पालन करने सज्जन थे।

रचना-शैली उनका एक दीवान स्मारक-स्वरूप प्राप्त है, जिसमें ग़ज़लों के अतिरिक्त मसनवी, रुबाइयाँ और मुख़म्मस भी हैं शैली साफ़, सरल और प्रसादगुणयुक्त है। भाषा में मिठास है जो कि ग़ज़ल के लिए बहुत उपयुक्त हैं। भाषा में रस की दृष्टि से, मुहावरे की दृष्टि से तथा स्वाभाविकता की दृष्टि से इनकी रचना स्वयं अपना उदाहरण है। आडंबर, अतिशयोक्ति अलंकारों आदि से मुक्त है और चतुर शाब्दिक प्रयोगों को भी हम उनकी भाषा में बहुत कम पाते हैं। इनकी रचना अपने आंतरिक गुणों से संपन्न है और ऊपरी तथा बनावटी अलंकरणों की अपेक्षा नहीं करती। सरलता और सफ़ाई में मीर तक़ी 'मीर' अवश्य उनके समकक्ष हैं, लेकिन सौदा बहुत पीछे हैं। लेकिन मीर साहब के यहाँ सरस भाषा के साथ विषय और भावनाओं का जो रस है वह सोज़ के यहाँ बहुत कम है। उनकी रचनाओं में मीर और सौदा की भाँति फ़ारसी शब्द और फ़ारसी प्रयोगों की भी बहुतायत नहीं। सीधे-सादे हिन्दी के सहज शब्दों में का प्रयोग करते हैं, जैसे बातें कर रहे हों। शेर को इतना हलका-फुलका कर देते हैं कि प्रायः उस पर रदीफ़ का भी बोझ नहीं डालते। इसी सरलता के कारण वे एक युग पहले के कवि जान पड़ते हैं। भाषा के सुधार अथवा विस्तार की कोई सेवा उनके द्वारा न हो सकी वरन् सच पूछो तो ग़ज़ल के अतिरिक्त उन्होंने कुछ नहीं कहा। उनके शेरों की सादगी और प्रसाद-गुण से जान पड़ता है कि जो शैली रेख़्ती के नाम से बाद को सआदतयार ख़ाँ 'रंगीं' ने प्रचलित की उसका आरंभ सोज़ के समय में हो हो गया था। शेर पढ़ने का ढंग भी उनका सब से अलग था। वे बड़ी प्रभावपूर्ण शैली में स्वर-लय के साथ शेर पढ़ते और आशय स्पष्ट करने के उद्देश्य से आँख, नाक, हाथ, गर्दन, इत्यादि सभी अंगों से काम लेते और स्वयं विषय की

साकार मूर्ति बन जाते थे। 'आबेहयात' में लिखा है कि जब यह 'क़िता' पढ़ा :—

गए घर से जो हम अपने सवेरे,
सलाम अल्लाह खां साहब के डेरे।
वहां देखे कई तिफ़्ले परीरू,
अरे रे रे अरे रे रे अरे रे॥

तो चौथा 'मिसरा' पढ़ते पढ़ते ज़मीन पर गिर पड़े, मानों परीज़ादों को देखकर हृदय वश में न रहा।

मिर्ज़ा अली लुत्फ़ लिखते हैं कि शृंगारी रंग के बादशाह मीर सोज़ की रचनाएँ करुण रस तथा ज्वाला में डूबी हुई हैं।

सोज़ ने अपना उपनाम पहले 'मीर' रक्खा था। फिर बदलकर 'सोज' कर लिया। अतएव निम्न शेर में दोनों उपनामों की ओर संकेत है :

कहते थे पहले मीर मीर, तब न मुए हज़ार हैफ़।
अब जो कहे हैं सोज़ सोज़, यानी सदा जला करो॥

मीर तक़ी 'मीर' इसी समानता के कारण उनसे कुछ अप्रसन्न थे।

सोज़ का स्थान कविता में

सोज़ का स्थान उर्दू कविता में बहुत ऊँचा है। यद्यपि वह मीर और सौदा के समकक्ष नहीं समझे जा सकते लेकिन फिर भी ग़ज़ल कहने में उस्ताद हैं, और रचना की सफ़ाई, मुहावरों की बन्दिश तथा करुणरस के चित्रण के बादशाह थे। रचना अत्यन्त सरल-सहज प्रभावयुक्त तथा आडम्बर-हीन है।

सौदा
११२५-११९५ हि० १७१३-८१ ई०

मिर्ज़ा मुहम्मद रफ़ी, उपनाम सौदा, उर्दू के सर्वश्रेष्ठ कवियों में थे। उनके पूर्वज प्रतिष्ठित वंश के लोग और क़ाबुल के रहने वाले थे। मिर्ज़ा साहब के पिता मिर्ज़ा मुहम्मद शफ़ी एक

व्यापारी सज्जन थे, जो क़ाबुल से हिन्दुस्तान आए और दिल्ली में बसे। दिल्ली की धूल को ही यह प्रतिष्ठा प्राप्त है कि वहाँ सौदा का जन्म हुआ। आज़ाद अपने तज़किरे 'आबेहयात' में जन्मतिथि ११२५ हि० लिखते हैं लेकिन निश्चयपूर्वक यह तिथि स्वीकार नहीं की जा सकती, क्योंकि न तो समकालीनों की रचनाओं और न उनके बाद के तज़किरों में मिर्ज़ा साहब की अवस्था अथवा जन्मतिथि का वर्णन है। उपनाम के चुनने का कारण भी 'आबेहयात' में मनोरंजक दिया गया है। कहते हैं कि "सौदा उपनाम इस लिए रक्खा गया कि 'सौदा' या उन्माद प्रेम की चरम अवस्था है, और इससे बाप की सौदागरी का भी संकेत मिल जाता है।"

मिर्ज़ा साहब का लालन पालन तथा शिक्षा दिल्ली में हुई। पहले सुलैमान क़ुली खां 'विदाद' के फिर शाह हातिम के शिष्य हुए। शाह साहब ने जो सूची अपने शिष्यों की अपने दीवान की भूमिका में लिखी है उससे मिर्ज़ा के गुरू होने पर उन्हें गर्व जान पड़ता है; उसमें सौदा का नाम सर्वप्रथम है। योग्य शिष्यों का नाम बड़े प्रेम और आदर से लेते हैं। ख़ान आरज़ू से मिर्ज़ा ने कोई शिक्षा नहीं ग्रहण की, लेकिन उनके साथ रह कर कविता करते रहे और इसमें विशेष दक्षता प्राप्त की। आरज़ू ही के कहने से उन्होंने फ़ारसी छोड़ कर रेख़्ता में कविता करना आरम्भ किया, यद्यपि वह अपने को फ़ारसी से बिल्कुल अलग न कर सके और बीच बीच में बराबर फ़ारसी में भी कविता करते थे, अतएव उनका पूरा फ़ारसी दीवान रेख़्ता दीवान के आरंभ में दिया गया है। मिर्ज़ा की रचनाएँ इतनी लोकप्रिय हुईं कि घर घर, कूचे-बाज़ार तक में फैल गई। उनकी उस्तादी की चर्चा इतनी फैली कि शाहआलम, जो उस समय बादशाह थे और 'आफ़्ताब' उपनाम से स्वयं कविता करते थे, उनके शिष्य हो गए और अपनी रचनाओं पर

परामर्श प्राप्त करने के लिये सौदा को दिखलाने लगे कुछ समय बाद मिर्ज़ा उनसे किसी विशेष कारण से अप्रसन्न हो गये और दरबार में जाना छोड़ दिया। लेकिन दिल्ली में बहुत से ऐसे रईस और अमीर उनके आदर करने वाले उपस्थित थे, जिन्होंने अपने समय के उस्ताद की सेवा में अपना गौरव समझा और उनके साथ बड़ी कृपा और उदारता का व्यवहार करते रहे। ऐसे प्रेमियों की उदारता ने मिर्ज़ा को ऐसा बेपरवाह और स्वतन्त्र बना दिया था कि जब नवाब शुजा-उद्दौला ने मिर्ज़ा की ख्याति सुन कर उनको बड़े प्रेम व आदर से बुलावे का पत्र भेजा और मार्ग-व्यय भी भेजा तो मिर्ज़ा ने टाल दिया और यह रुबाई उत्तर में लिख भेजी :—

सौदा पए दुनिया तू बहर सू कब तक।
आवारा अज़ीं कूचा बआँ कू कब तक।
हासिल यही इससे न कि दुनिया होवे।
बिल फ़र्ज हुआ यों भी तो फिर तू कब तक ?

थोड़े दिनों के बाद समय ने पलटा खाया। दिल्ली की हालत बदल गई। वहाँ पुरानी स्थिति न रही। पुराने प्रेमी एक एक करके मरते गए। पुराने कुलीन वंश आए, दिन के बाहरी आक्रमणों और मरहठों के हत्याकांड से त्रस्त और छिन्न-भिन्न हो गए। लोगों का जीवन गए। संकटमय था और पुराने कलाप्रेमी भी शेष न रह इसलिए प्रमुख कवियों ने दिल्ली से बिदा ली। मिर्ज़ा भी उसी समय वहाँ से निकले। उस समय उनकी अवस्था लगभग ६० वर्ष की थी। वे फ़र्रुख़ाबाद पहुँचे। नवाब अहमद ख़ाँ बंगश ग़ालिब जंग वहाँ के शासक थे। मेबान ख़ाँ रिंद उनके दीवान थे, जो कवियों और विद्वानों के संरक्षक तथा स्वयं कवि थे और मीरहसन के कथनानुसार मीर सोज़ तथा मिर्ज़ा के शिष्य थे। कुछ वर्ष तक मिर्ज़ा फ़र्रुख़ाबाद रहे। उन्होंने

मेहरबान ख़ाँ की प्रशंसा में 'क़सीदे' लिखे हैं। सन् ११८५ हि० में नवाब अहमद ख़ाँ मर गए, तो सौदा भी फ़ैज़ाबाद चले गए और नवाब शुजाउद्दौला के अनुयायियों में सम्मिलत हो गए। जब सल्तनत का केन्द्र लखनऊ बना तब सौदा भी लखनऊ आए। थोड़े दिनों के बाद नवाब शुजाउद्दौला की मृत्यु हो गई और नवाब आँसफ़ुद्दौला सल्तनत के अधिकारी बने। उस समय मिर्ज़ा से और एक फ़ारसी कवि फ़ाख़िर मकीं से शेर-शायरी के संबन्ध में कुछ झगड़ा हो गया, जो बहुत बढ़ गाया। उसका निर्णय नवाब सआदत अली ख़ाँ ने, जो उस समय राज्य के उत्तराधिकारी थे, नवाब के समक्ष मिरज़ा के पक्ष में करा दिया। पहले का मनोमालिन्य जाता रहा। मलिकुश्शुअरा की उपाधि और ६ हज़ार वार्षिक वज़ीफ़ा प्रदान हुआ। फिर तो नवाब आसफ़ुद्दौला मिर्ज़ा पर बड़ी कृपादृष्टि रखने लगे और बहुधा सौदा की संगत के आगे महल के ऐश आराम भूल जाते। सौदा की मृत्यु लखनऊ में ११९५ हि० (१७८१ ई०) में हुई। बहुत से समकालीन और बाद के कवियों ने मृत्यु की तिथियाँ वर्णित की हैं। मसहफ़ी, मिन्नत, फ़ख़रुद्दीन, नासिख़, नस्साख़ की तारीख़ें प्रसिद्ध हैं।

रचनाएँ — मिर्ज़ा की रचनाएँ, जो कि कविता के सभी प्रमुख भेदों में हैं, निम्न हैं:—

(१ एक संक्षिप्त दीवान फ़ारसी। यह अपूर्ण है, परंतु इसकी बड़ी प्रशंसा है।

(२) फ़ारसी में कुछ क़सीदे।

(३) दीवान उर्दू, संपूर्ण, जिसमें ग़ज़लों के अतिरिक्त रुबाइयाँ, क़िते, तारीख़ें, मुख़म्मस, तरजीअबंद, वासोख़्त, आदि भिन्न प्रकार की कविताएँ हैं।

(४) चौबीस मसनवियाँ अथवा पद्यबद्ध प्रेमगाथाएँ जिसमें उनकी मनोरंजक पहेलियाँ, हजो आदि भी हैं।

(५) मीर की रचनाओं पर पद्य और मीर के नाम के दो पत्र एक गद्य में और दूसरा पद्य में (जो सौदा के कुल्लियात संग्रह में नहीं है)।

(६) दिल्ली और लखनऊ के उमराव आदि और नवाब आसफ़ुद्दौला की प्रशंसा में कहे गए क़सीदे।

(७) सलाम और मर्सिए, हज़रत इमाम हुसेन की प्रशंसा में।

(८) धार्मिक महापुरुषों की प्रशंसा में क़सीदे।

(६) 'इबरतुल ग़ाफ़लीन' नामक पुस्तिका, गद्य में। यह मिर्ज़ा फ़ाख़िर मकीं के आक्षेपों का उत्तर है, जो कि उन्होंने फ़ारसी के प्रसिद्ध कवियों पर किए थे।

(१०) मीर तक़ी 'मीर' की प्रसिद्ध मसनवी 'शोलए-इश्क़'' का अनुवाद गद्य में। 'कुल्लियात' (संग्रह) में नहीं है।

(११) उर्दू कवियों का एक वृत्तांत (तज़्किरा), जो अब नहीं मिलता।

कविता के क्षेत्र में सौदा का पद

सौदा अपने समय के बहुत बड़े उस्ताद, महाकवि, माने गए हैं। इसमें संदेह नहीं कि मीर और सौदा दोनों उर्दू भाषा के महाकवि हुए हैं। अपने समय में भी अद्वितीय थे और बाद में भी उनका ऐसा कोई नहीं हुआ। भाषा और कविता दोनों ही के प्रति उनकी सेवाएँ बहुमूल्य हैं। भाषा के सुधार की दिशा में उनका प्रभाव गहरा और स्थायी रहा है।

भाषा के प्रति उनकी सेवाएँ

मिर्ज़ा ने बहुधा हिंदी शब्दों की कठोरता को दूर करके फ़ारसी के मिश्रण द्वारा भाषा में मिटास उत्पन्न किया। मीर और सौदा ही ने भाषा को साहित्यिक भाषा बनाया और उसे 'रेख़्ता' का पद दिया। स्वयं वे कहते हैं:—

कहे था रेख़्ता कहने को ऐब नादां भी।
सो यूं कहा मैं कि दाना हुनर लगा कहने॥
बसाने मेह यह रोशन है सारे आलम पर।
जहाँ में जैसे के मैं शेरतर लगा कहने॥

और भी :—

सख़ुन को रेख़्ते के पूछे था कोई सौदा।
पसंद ख़ातिरे दिलहा हुआ यह फ़न मुझसे॥
कब उसको गोश करे था जहां में अह्ले कमाल।
यह संग रेज़ा हुआ है दुरे अदन मुझसे॥

कविता की युक्तियों से उसमें तरह तरह की सूक्ष्मताएँ और मृदुताएँ उत्पन्न कीं। फ़ारसी से बहुत से शब्द, मुहावरे, रूपक और उपमाएँ, कल्पनाएँ और संकेत उर्दू भाषामे प्रविष्ट किए और इस कुशलता से ग्रहण किए कि उसके अंग बन कर रह गए और उर्दू भाषा का विस्तार और लचीलापन इतना बढ़ा और वह इस योग्य हो गई कि प्रत्येक साहित्यिक-कार्य उससे लिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त नई नई युक्तिय प्रयोग आदि फ़ारसी ढंग के अनुकरण में चलाये जिनमें से कुछ तो लोक प्रिय हुए और कुछ आने वाली पीढ़ियों ने पसंद न किए और भाषा से, वहिष्कृत हुए"। क्या अच्छा होता, और हमारी भाषा का कितना सौ-भाग्य होता, यदि इन महाकवियों का वही प्रेम जो फ़ारसी के साथ था,

भाषा के साथ भी होता, जिसका आवश्यक परिणाम यह होता कि देशी भाषा के शब्द अपरिचित शब्दों के स्थान पर बहुतायत से उर्दू में समाविष्ट हुए होते। इसमें कोई संदेह नहीं कि मिर्ज़ा की आविष्कार और चुनाव की शक्ति और योग्यता ऐसी उच्च कोटि की थी कि जो शब्द अथवा प्रयोग ग्रहण किए उन पर लोक-स्वीकृति की छाप लगी और अब वह हमारी भाषा के ऐसे अंग बन गए हैं जो अलग नहीं हो सकते। यह बात भी प्रशंसनीय है कि फ़ारसी प्रयोगों और प्रसंगों के साथ हिन्दुस्तान के पुराने प्रसंग तथा शब्द भी नहीं भुलाए गए, उदाहरण के लिए भुजबल, परबत, राई आदि शब्द और हिन्दी प्रसंगों में अर्जुन की वीरता, कन्हैया का प्रेम आदि, जो उनकी रचनाओं में बड़ा आनद देते हैं।[1] यह सब इस बात के सूचक हैं कि कम से कम उस समय जन्मभूमि के साथ संबंध दृढ़ करने का ध्यान हमारे उर्दू कवियों के दिल में बहुत कुछ था जिसे खेद है कि बाद के कवियों ने तिरस्कार-पूर्वक हृदय से भुला दिया। मिर्ज़ा को उचित हिन्दी शब्द भी हिन्दी विचारों को प्रकट करने के लिए ढूंढ़ने पड़े और इस प्रयत्न में उनको अपने समकालीनों से घोर विरोध और कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। मिर्ज़ा के समय में पुरानी द्वयर्थियों और दोहरों का प्रचलन, जो शेष रह गया था, वह भी हट गया। अतएव सौदा स्वयं कहते हैं: –

१—मुहब्बत चे करूं भुजबल की मैं तारीफ़ क्या यारो।
सितम परबत हो तो उसको उठा लेता है जूँ राई॥
नहीं है घर कोई ऐसा जहाँ उसको न देखा हो।
कन्हैया से नहीं कुछ कम सनम मेरा है हरजाई॥

तरकश उलंड सीना आलम का छान मारा।
मिज़गां ने तेरे प्यारे अर्जुन का बान मारा॥

यक रंग हूँ, आती नहीं ख़ुश मुझको दोरंगी।
मुन किर सख़ुनों शेर में ईहाम का हूँ मैं॥

और उनके समकालीन मीर कहते हैं :—

क्या जानूं दिल को खींचे हैं क्यों शेर मीर के।
कुछ तर्ज़ ऐसी भी नहीं, ईहाम भी नहीं॥

लेकिन फ़ारसी और हिन्दी शब्दों को मिलाने की कठिनाई दूर नहीं हुई थी और उर्दू कविता की उन्नति के अन्तिम पड़ाव अभी शेष थे। मिर्ज़ा की रचनाओं को इस दृष्टिकोण से जाँचना बहुत आवश्यक है। जो सेवाएँ उन्होंने भाषा के प्रति कीं और जो अधिकार उन्हें भाषा पर प्राप्त था उसे उनके समकालीनों ने जैसे मीर व मीरहसन और मस्हफ़ी आदि ने यथार्थ रूप से स्वीकार किया है और उनकी योग्यता को हृदय से प्रशंसा की है।

कविता के प्रति उनकी सेवाएँ

जो नींव वली और शाह हातिम ने डाली थी, उसी पर सौदा ने अपना लोकप्रिय और शानदार काव्य संग्रह तैयार किया। काव्यकला के अतिरिक्त वे दो वस्तुओं के प्रवर्तक भी थे। अर्थात् क़सीदा और हजो (व्यंग-परिहास)। यद्यपि यह दोनों अंग फ़ारसी में सम्पूर्णतया विकसित रूप में प्राप्त होते हैं, और उर्दू में भी एक प्रारम्भिक और अपूर्ण दशा में प्राप्त थे, लेकिन उन्होंने यह महत्कार्य किया कि उनको उर्दू में चरमकक्ष तक पहुँचा दिया और ऐसा कर दिया कि उनकी बराबरी का दावा बाद के कवियों के लिए कठिन हो गया। यद्यपि अनेक कवियों ने उनका अनुकरण किया और उनके पग में पग मिला कर चलना चाहा लेकिन सफल न हो सके, और मिर्ज़ा दोनों ही अंगों में अद्वितीय ही रहे।

उनके उर्दू के क़सीदे बड़े-बड़े फ़ारसी उस्तादों के क़सीदों के

क़सीदा और मर्सिया

टक्कर के हैं, और कुछ तो उर्फ़ी और ख़ाक़ानी के प्रसिद्ध क़सीदों को भुला देते हैं। विचारों की सूक्ष्मता और विषयप्रतिपादन में वह अनेक बार फ़ारसी कवियों से आगे बढ़ गये हैं। यही बात उनके मर्सियों के सम्बन्ध में भी यथार्थ ठहरती है। मिर्ज़ा से पहिले यद्यपि उर्दू में बहुत से मर्सिया कहने वाले हो गये हैं, लेकिन उनकी रचनाओं में धार्मिकता के अतिरिक्त कोई कवित्व गुण न था, कोई कहने के ढंग में विशेषता न थी, कोई नई बात न थी जो वर्तमान युग की उन्नतिशील रुचि को प्रभावित करे। मिर्ज़ा ही ऐसे विशेष व्यक्ति हैं जिन्होंने इस अङ्गविशेष में अपने समय के विचार से बड़ी सफलता प्राप्त की। सच पूछो तो वे अपने बाद आने वालों के लिए उन्नति का मार्ग प्रशस्त कर गये।

व्यंग-उपहास

मिर्ज़ा साहब ने हजो (व्यंग-उपहास) के पोथे के पोथे लिखकर रख दिये हैं। उन लोगों पर तो अवश्य खेद होता है जिनके हृदयों पर यह आरे चले होंगे। लेकिन हमारे लिए वह एक ऐसा सुरभित उद्यान छोड़ गए हैं जो सदैव के लिए हरा-भरा रहेगा। उनके व्यंगों में वह तेज़ी और चोट है जिससे वे व्यंग उपहास का एक स्थायी भंडार बन गए हैं। जान पड़ता है, इस विशेष अंग के प्रति उनकी स्वाभाविक योग्यता प्राप्त थी जैसा कि स्वयं उनके एक शिष्य ने संकेत किया है : –

की हजो हर इक शख़्श की हर चन्द कि उसने।
पर उससे तरफ़ उसके न आयद हुई तक़सीर॥
है एक सबब यह कि वह ख़ुद आप मुग़ल था।
और जितने बुज़ुर्ग उसके थे मुग़लों के थे वह पीर॥

बुढ़ापे में भी उनकी विनोदी प्रकृति ऐसी थी कि जो बात मन में

आ जाती थी उसके प्रकट करने में कभी न चूकते थे। किसी पुरस्कार का लोभ या दंड का भय उनको अपने मन की भड़ास निकालने से रोक न सकता था। जहाँ किसी से अनबन हुई, तुरंत उनका नौकर गुंचा क़लमदान और काग़ज़ लिए उपस्थित होता और फिर ऐसे फूल और बूटे तराशे जाते जिन्हें देख कर लोग अपनी आंखें और सुन कर अपने कान बंद कर लेते थे। उन्होंने अपनी रचनाओं से इस गिरे हुए साहित्य के अंग को भी एक कला का पद प्रदान किया। वे अपने समय की बुराइयां और कुवृत्तियों पर परदा उठाने में कोई कसर उठा नहीं रखते थे। एक अंग्रेज़ समालोचक का कथन है कि "जिस तरह हम रोम सम्राज्य के ह्रास के चित्रों के लिए जुवेनाल जैसे व्यंग्यकार को पढ़ते हैं, उसी प्रकार यदि हमें मुग़ल साम्राज्य के ह्रास का सच्चा चित्र देखना है तो हमको चाहिए कि सौदा की उन ओजस्वी रचनाओं का अध्ययन करें जिसमें उन्होंने मराठा सवारों की ठीक दिल्ली के क़िले की दीवारों के नीचे हत्याओं का सच्चा फ़ोटो उतारा है। या जिसमें समय की क्रांति-पूर्ण दशा और दिल्ली के उमराव की तबाही और बरबादी और दैन्य का वर्णन अत्यंत मार्मिक ढंग से किया है। अथवा उदाहरण के लिए वह कविता देखिए जो शाहजहानाबाद के क़ोतवाल शैदी फ़ौलाद ख़ां के नाम से प्रसिद्ध है, जिसमें चोरी की बहुतायत नगर की अव्यवस्था, और कोतवाल की दुर्बलताओं का परिहासपूर्ण और प्रभावशाली वर्णन है।"

यह सच है कि मिर्ज़ा से पूर्व भी कुछ लोगों ने हजो कही हैं लेकिन बहुत कम और अनियमत रूप में। मिर्ज़ा के यहाँ वह एक साहित्य का अंग-विशेष तथा सामना करने का बलशाली हथियार बन गई। मीरहसन के पिता मीर ज़ाहक फ़िदवी पंजाबी, मिर्ज़ा फ़ाख़िर मकीं बक़ा, और उनके अतिरिक्त और लोग भी क्रमशः मिर्ज़ा के कटाक्ष के शिकार हुए; और इन लोगों ने भी प्रत्युत्तर में अपनी शक्ति के अनुसार मिर्ज़ा पर कटाक्ष किये, लेकिन उनका कहा किसी ने न सुना। मिर्ज़ा का कहा बच्चे-

बच्चे की ज़बान पर है। व्यंग्यों की बहुतायत से पता चलता है कि मिर्ज़ा को यह मार्ग विशेष रूप से रुचिकर हुआ; और इस में उन्हें बड़ा रस मिलता था। इनके व्यंग्य कुछ साधारण रचनाएँ नहीं हैं, वरन उनकी ज़ोरदार वर्णनशैली, भाषा पर अधिकार और सांसारिक विषयों में उनकी विशेष जानकारी का परिचय देते हैं। वह जब किसी की हजो लिखते हैं तो छोटी से छोटी बात पर ध्यान रखते हैं, और आश्चर्य होता है कि किस प्रकार वह परिहास के साथ साथ विभिन्न छोटी छोटी बातों को एकत्र करके सुनने वाले पर महान प्रभाव डालते हैं। जिस वस्तु का खाका उड़ाते हैं उसमें फ़ारसी आदि की नक़ल नहीं होती। विषय नए और फड़का देने वाले होते हैं। मिर्ज़ा में जुवेनाल, वल्टेयर और स्विफ़्ट तीनों का आनंद आता है। एडिसन की गंभीरता उनमें बिल्कुल नहीं। उनकी हजो में फक्कड़पन के साथ व्यंग भरा है। उनके शब्दों में दिल्लगी और परिहास की तह में ऐसी काट होती है, जो हृदय के भीतर उतर जाती है। आज़ाद ने सच कहा है कि "जिसके पीछे पड़ते थे उसको पीछा छुड़ाना कठिन होता था।"

रचनाओं पर सम्मति

मिर्ज़ा को भाषा पर पूरा अधिकार प्राप्त था और कवित्व पर पूरा वश था। कठिन से कठिन छंद उनके सामने पानी और ऊँचे से ऊँचे विषय उनके सामने हाथ बांधे खड़े रहते थे। शेर सब कोल-कांटे से दुरुस्त, प्रयोग चुस्त, भरती का नाम नहीं। रचनाएँ साँचे में ढली जान पड़ती हैं। शब्दों को यथास्थान ऐसा रखते थे कि जैसे अँगूठी में नगीने जड़े जाते हैं। यदि कोई शब्द भूल जाओ तो दूसरा शब्द उसके स्थान पर नहीं रख सकते। यदि शब्द इधर से उधर रख दो तो शेर का आनंद जाता रहेगा। रचनाएँ ठोस हैं और धारावाहिता उनका विशेष गुण है। नए नए छंद, नए रदीफ़ व क़ाफ़िए ऐसे कह गए हैं

कि अब तक हृदय रस लेता है। कठिन भूमि पर ऐसे ऐसे शेर निकाले हैं जैसे पत्थर से स्रोत निकलता है।

सौदा का प्रभाव बाद के कवियों पर

सौदा का प्रभाव अपने समय के व आनेवाले कवियों पर बहुत कुछ पड़ा। उनकी कविता पढ़कर बहुत से मन-चले लोगों में कविता का प्रेम स्फुटित हुआ और रचना के लिए स्फूर्ति प्राप्त हुई। इस विशेषता के कारण उनको उर्दू शायरी में वही पद प्राप्त है जो कि अंग्रेज़ी में स्पेंसर को है, जो कवियों का कवि कहलाता था। समकालीनों को छोड़ दें, ग़ालिब और ज़ौक आदि भी सब उनको मानते थे और उनकी रचनाओं से लाभ उठाते थे। नासिख़ का कथन ऊपर उद्धृत किया जा चुका है। ग़ालिब ऐसा चमत्कारी कवि सौदा की योग्यता स्वीकार करता है और उस्ताद ज़ौक़ की तो सम्पूर्ण रचना ही मिर्ज़ा के रंग में डूबी हुई है। विशेषकर उनके क़सीदों में ज्ञात होता है कि मिर्ज़ा के क़सीदे सामने रखकर कहे गये थे। मिर्ज़ा की रचनाओं में विविधता के कारण इतनी लोकप्रियता और मनोरंजकता है कि प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह कवि हो या नहीं, उनको पढ़ता है और उन पर आश्चर्य प्रकट करता है। कुछ शेरों में तो वास्तविक कवित्व के ऐसे सच्चे भाव प्रदर्शित किये हैं कि जो दूसरे उर्दू कवियों के लिए दुर्लभ हैं। अवश्य अंग्रेजी में शैली और कीट्स के यहाँ बहुत कुछ है। सारांश यह कि मीर और मिर्ज़ा दोनों ऐसे गुणी थे जिनकी रचनाएँ (कुछ तत्कालीन शब्दों और मुहावरों को छोड़कर) भाषा की सुघरता और मिठास तथा भावों के उत्कर्ष और पवित्रता की दृष्टि से उर्दू कविता का श्रेष्ठतम उदाहरण कही जा सकती हैं। और इस युग में भी किसी शेर की सबसे बड़ी प्रशंसा यही है कि इन महारथियों की रचनाओं के किसी शेर के निकट पहुँच जाय। सौदा के उस्ताद होने के विषय में किसे आपत्ति हो सकती है ? वे प्रकृत कवि थे और कवित्व

गुण के अंश थे। मीर ऐसा सूक्ष्म विचारों वाला और संसार को असार मानने वाला व्यक्ति उन्हें पूरा कवि मानता है और उनको "मलकुश्शुअरा" (कवि सम्राट्) के पद का अधिकारी निर्धारित करता है। मिर्ज़ा की रचनाओं से प्रकट है कि उनका हृदय भावों से कितना प्रभावित होता है। उनके शेरों में तराशे हुए नगीनों की सी आभा है और उनका मस्तिष्क उच्च कल्पनाओं से आलोकित है। मिर्ज़ा में कुछ विशेषताएँ है जो उनकी रचनाओं को सभी पुराने और नये कवियों से उन्हें ऊँचा कर देती हैं :–

(१) भाषा पर पूर्ण अधिकार—जिसके कारण रचनाओ का बल, विषय की सूक्ष्मता और रसात्मकता से मिलकर विशेष प्रभाव व आनन्द उत्पन्न करता है।

(२) प्रयोगों की चुस्ती और शब्दों का विन्यास तथा क्रम, जिससे शेर में ढीलापन और सुस्ती बिल्कुल नहीं रहती, वरन् उसमें ओजस्विता उत्पन्न हो जाती है। शब्दों को वाक्य में बैठाने में ऐसा कौशल है कि कोई शब्द इधर उधर हो जाय तो शेर का रस जाता रहेगा, बल्कि अर्थ-हीन हो जायगा।

(३) विचारों का उत्कर्ष तथा सूक्ष्मता—कुछ उपमाओं और रूपकों का अवश्य उपयोग करते हैं लेकिन केवल इतना कि शेर का सौंदर्य बढ़ जाय और पढ़ने वाले को अर्थ न टटोलना पड़े। उनका अलंकारों का प्रयोग मूल शेर के सौंदर्य को कभी नहीं छिपाता। उनकी रुचि एक रङ्ग तक सीमित न थी। जो बात और लोग कठिनाई और परिश्रम से उत्पन्न कर पाते थे वह उन्हें लेखनी परिचालन मात्र से प्राप्त थी। यह उनकी कल्पना और भाषा के अधिकार का परिणाम था।

(४) चौथी वस्तु उनमें भाषा का सुधार है। इसमें कोई संदेह नहीं कि जिन लोगों ने भाषा को परिमार्जित किया और विस्तार दिया उन सब में मिर्ज़ा का नम्बर प्रथम है। 'आबेहयात" के लेखक के

अनुसार जिस तरह रसायनिक दो तत्वों के मेल से एक तीसरा तत्व तैयार करते हैं वैसे ही उन्होंने फ़ारसी और हिन्दी के मेल से एक तीसरी भाषा उत्पन्न की जिसे लोकप्रियता प्राप्त हुई।

मिर्ज़ा का रचनाओं पर कवियों की सम्मतियाँ

अब अप्रासंगिक न होगा कि मिर्ज़ा साहब के सम्बन्ध में उनके समकालीन और बाद के कवियों और चरित्रलेखकों की भी मूल्यवान् सम्मतियाँ यहाँ पर उद्धृत की जायँ। मीर तक़ी 'मीर' अपने 'निकातुश्शुअरा' नामक तज़किरे में लेखते हैं :—

इसी प्रकार मिर्ज़ा क़तील "चार शरबत" में मिर्ज़ा के क़सीदों के विषय में लिखते हैं कि : "सौदा का पद क़सीदों की दृष्टि से जहूरी के बराबर है, सिवाय इसके कि दोनों कि शैलियाँ भिन्न हैं, और कोई भेद नहीं है।" इस आलोचना पर "आबेहयात' के लेखक की सम्मति है कि "मिर्ज़ा क़तील जो चाहें कहें, मुझ तुच्छ बुद्धि ने जहूरी की ग़ज़ले और क़सीदे थोड़े बहुत पढ़े हैं। दोनों उपमाओं और रूपकों के फंदों से उलझे हुए रेशम ज्ञात होते हैं। मिर्ज़ा का साम्य है तो अनवरी से है जो क़सीदा और हज़ो (हास्य) और मुहावरे तथा भाषा दोनों का सम्राट् है।' इसी प्रकार "तबक़ातुश्शुअरा" के लेखक मिर्ज़ा के क़सीदों को उर्फ़ी और ख़ाक़ानी के क़सीदों से और उनकी ग़ज़लों को सलीम व कलीम की ग़ज़लों से बढ़ कर समझते हैं, और कहते हैं कि वह गूढ़ भी हैं और सुरुचिपूर्ण भी हैं। मीर हसन अपने तज़किरे में लिखते हैं कि 'मिर्ज़ा सौदा की बराबरी में अब तक कोई व्यक्ति हिंदुस्तान से नहीं उठा, और फ़क़ीर उनकी सेवा में प्रायः उपस्थित होता है और वह मेरे ऊपर कृपा रखते हैं।" हकीम क़ुदरतुल्ला ख़ां बक़ा अपने तज़किरे में लिखते हैं : "मिर्ज़ा मुहम्मद रफ़ी धारावाही कवियों में प्रमुख हैं। कुछ लोगों के विचार में वह ग़ज़ल कहने में मीरतक़ी 'मीर' की बराबरी को

नहीं पहुँचते। सच बात यह है कि प्रत्येक पुरुष का रंग और उसकी सुगंधि अलग होती है। मिर्ज़ा एक पारावार समुद्र और मीर एक ज़ोरदार नद के समान हैं। व्याकरण-ज्ञान में मीर साहब मिर्ज़ा साहब की अपेक्षा श्रेष्ठतर हैं और कवित्वशक्ति की दृष्टि से मिर्ज़ा साहब का स्थान मीर साहब के स्थान से ऊपर है। 'गुल्शन बेख़ार' नामक तज़किरे में है कि: 'फ़क़ीर के विचार में उनकी ग़ज़लें उनके क़सीदों से और उनके क़सीदे उनकी ग़ज़लों से श्रेष्ठतर हैं। अगर कोई यह कहे कि ग़ज़लों में भरती के शेर हैं और क़सीदों में यह बात नहीं है तो मैं कहूँगा कि उनके दीवान को समझ कर पढ़ने वालों पर इस सम्मति का अनौचित्य प्रकट हो जायगा। प्रोफ़ेसर शहबाज़ शम्सुलुलेमा नवाब इमदाद इमाम साहब 'असर' का कथन है कि 'सौदा उर्दू के शेक्सपियर थे'। इसी तरह सर अल्फ्रेड लायल सौदा को उर्दू भाषा का सब से बड़ा कवि स्वीकार करते हैं।

रचनाओं में त्रुटियाँ

मिर्ज़ा में दो तीन त्रुटियाँ भी हैं। (१) उनकी रचनाएँ न्यूनाधिक सूफ़ी रंग से रहित हैं जिसका प्रायः उनके समकालीनों में बहुत ज़ोर था। जान पड़ता है कि उनका अध्ययन और रुचि सांसारिक विषयों तक सीमत है (२) ग़ज़ल का विशेष रस उन में कम है अर्थात् उनकी ग़ज़लों में वह ज्वाला और सरलता तथा गति नहीं है जो ग़ज़ल की प्राण है। इसका विस्तृत वर्णन तथा स्थान मीर तक़ी 'मीर' के वर्णन में आएगा, जहाँ इन दोनों कवियों की तुलना की गई है।

मीर हसन
मृत्यु १२०१ हि० (१७८६ ई०)

मीर ग़ुलाम हसन, उपनाम हसन, जो मीर के नाम से प्रसिद्ध हुए मीर ग़ुलाम हुसैन ज़ाहक के वह सुपुत्र थे जिनके बेटे ख़लीक़ और पोते मीर अनीस हुए, जो कविता रूपी आकाश में सूर्य की भांति प्रकाशमान हुए इनके पूर्वज हेरात नगर के प्रसिद्ध सैयद थे। इनके प्रपितामह मीर इमामी हिंदुस्तान में आए और यहीं बस गए।

मीर हसन अपने समय के प्रसिद्ध कवि, प्रकांड पंडित और माने हुए सु-लेखक थे, और इन गुणों के कारण अपने समकालीनों में आदर की दृष्टि से देखे जाते थे। उनके पिता मीर ज़ाहक बड़े प्रसन्नचित्त तथा विनोदी स्वभाव के व्यक्ति थे, जैसा कि उनके उपनाम से स्पष्ट है। मीर हसन का जन्म पुरानी दिल्ली के सैयदबाड़ा मुहल्ले में ११४० हि० में हुआ और बचपन में अपने पिता के निरीक्षण में ही शिक्षा प्राप्त की और रचनाएँ भी उन्हीं को दिखाईं। उसके बाद ख्वाजा मीर दर्द के शिष्य हुए। दिल्ली के विध्वंस के अनन्तर अपने पिता के साथ फ़ैज़ाबाद आये। रास्ते में कुछ समय तक डीग में रहे। एक बार शाह मदार की छड़ियों के साथ यात्रा की, जिसका विस्तृत हाल उन्होंने अपनी मसनवी 'गुलज़ार अरम'[1] में लिखा है। फ़ैज़ाबाद में पहुँच कर बहू बेगम साहबा के भाई नवाब सालार जङ्ग के यहाँ नौकरी की और उनके पुत्र मिर्ज़ा निवाजिशअली ख़ां के कुछ समय तक मुसाहब भी रहे। जब नवाब आसफ़ुद्दौला १७७५ ई० में राज्य की गद्दी पर बैठे, और फ़ैज़ाबाद बदलकर लखनऊ राजधानी हुआ तो मीरहसन भी लखनऊ चले गये और कुछ दिन यहाँ रहकर मुहर्रम के महीने में १२०१ हि० में परलोक सिधारे[2]। मृत्यु के समय अवस्था ५० वर्ष से ऊपर थी। मसहफ़ी ने तिथि को "शायर-शीरीं बयान" शब्दों में अक्षरबद्ध किया जिससे १२०१ तिथि निकलती है। मिर्ज़ा अलीलुत्फ़ १२०५ हि० लिखते हैं जो कि विशेष विश्वासनीय नहीं है।

---

१ -'गुलज़ार अरम' में लखनऊ की निन्दा और फ़ैज़ाबाद की बड़ी प्रशंसा है। इस मसनवी की बड़ी शुद्ध हस्तलिखित प्रति नदवे के पुस्तकालय में प्राप्त है। ('गुलेराना')।

२ —नवाब क़ासिम अली ख़ां के बाग़ में मुहल्ला मुफ़्तीगञ्ज लखनऊ में दफ़न किये गए (खुमख़ानये जावेद)।

शिक्षा और शिष्यत्व

मीर हसन अरबी कम जानते थे, लेकिन फ़ारसी में पूर्ण योग्यता प्राप्त थी। और इस भाषा में बड़ी सरलता से लिखते थे। अतएव उनका "तज़किरा शोअराए-उर्दू" जो अत्यन्त उच्च कोट की फ़ारसी में है, इसका प्रमाण है। शिष्य के विषय में 'तज़किरा' लिखने वालों में मतभेद है। "आबेहयात" के लेखक ने लिखा है कि वे सौदा के शिष्य थे।

मीर हसन ने स्वयं जो अपने विषय में लिखा है उससे प्रकट है कि यों तो वे ज़याउद्दीन ज़या के शिष्य थे लेकिन दर्द, सौदा और मीर इन तीनों का अनुकरण किया करते थे, और सम्भव है रचनाओं पर परामर्श भी लेते रहे हों। प्रसन्नचित्त और विनोदी प्रकृति के व्यक्ति थे लेकिन कभी फूहड़ रचनाएँ नहीं कीं। बोल-चाल के बड़े मीठे, मिलनसार और योग्य व्यक्ति थे। किसी व्यक्ति को कभी उलाहने का अवसर न दिया, और न किसी चरित्रलेखक ने इनके विरुद्ध कुछ लिखा है।

रचना शैली

रचनाएँ प्रसाद गुणपूर्ण और सरल होती हैं। जान पड़ता है कि फूल झड़ते हैं। ग़ज़ल, रुबाई, मर्सिया, सब ख़ूब कहते थे। यह अवश्य है कि क़सीदा उनका ज़ोरदार न होता था। मसनवी में विशेष योग्यता थी। अतएव उनकी प्रसिद्ध मसनवी "सहरुल्बयान" जो "मसनवी मीर हसन" के नाम से ज्ञात है उर्दू में अपना जोड़ नहीं रखती। उनकी ग़ज़लों में मीर सोज़ और मीर तक़ी की ग़जलों का रस है। वही शृंगारी रंग, वही सरलता, वही हृदय को आकर्षित करने का गुण।

मीर हसन के चार बेटे थे, जिनमें से तीन कवि थे। मीर मुस्तहसिन 'ख़लीक़' जो मसहफ़ी के शिष्य थे, मीर मुहसन 'मुहसन' यह दोनों

मीर हसन के बेटे नवाब आसफ़ुद्दौला की माता बहू बेगम साहबा के दामाद मिर्ज़ा मुहम्मद तक़ी की सरकार से सम्बद्ध थे। तीसरे बेटे मीर अहसन ख़ुल्क़ नवाब नाज़िर दाराब अली ख़ां की सेवा में रहते थे। यह सब अच्छे कवि थे और अपने पूज्य पिता के रंग में कहते थे। ख़लीक़ और ख़ल्क़ के दीवान भी हैं।

रचनाएँ मीर हसन की रचनाएँ निम्न हैं :—

(१) एक दीवान ग़ज़लों का जिसके साथ तरक़ीब बन्द मुख़म्मस, वासोख़्त, मुसल्लस आदि हैं जिसमें फ़ारसी शेर पर तीसरा मिसरा फ़ारसी या उर्दू में लगाया है।

(२) ग्यारह मसनवियाँ, जिनमें से यह अत्यन्त प्रसिद्ध है।

१. "मसनवी सहरुल बयान" या "किस्सा बेनज़ीर व बद्र मुनीर"। यह अद्वितीय मसनवी है। यह ११६६ हि० (१७८५ ई०) में लिखी गई, जैसा कि क़तील और मसहफ़ी के इतिहासों से सिद्ध है। यह नवाब आसफ़ुद्दौला के नाम समर्पित हुई है। इसमें शाहज़ाद बेनज़ीर और शाह-ज़ादी बद्र-मुनीर के प्रेम का वृत्तांत है, जिसमें प्रसंगवश अन्य रोचक वर्णन भी आ गये हैं, जैसे प्राचीन समय की वेष-भूषा, आभूषण, विवाह के रस्म, बरात का सामान आदि आदि बड़े अच्छे ढंग से वर्णित हैं। भाषा ऐसी साफ़ और मुहावरेदार है कि सैकड़ों शेर मुहावरे के उदाहरण के रूप में लोगों की ज़बान पर चढ़ गये हैं। उसका प्रत्येक मिस्रा सुंदर और प्रत्येक शेर चुना हुआ है। वर्णनशैली, भाषा, विषय-प्रतिपादन कथोपकथन सभी प्रशंसनीय हैं। विशेषता यह कि पुस्तक को लिखे डेढ़ सौ वर्ष हो गये लेकिन भाषा वही है जो हम आप बोलते हैं। मौलाना आज़ाद आश्चर्य से पूछते हैं :—"क्या उसे १०० वर्ष वालों

की बातें सुनाई देती थीं कि जो कुछ कहा वही मुहावरा और वही बात-चीत जो आज हम तुम बोल रहे हैं।" कथा पुराने रङ्ग की है। इसका अनुवाद गद्य में मीर बहादुर अली नामक एक व्यक्ति ने १२१७ हि० में किया था। उसका नाम "नस्रबेनज़ीर" रक्खा।

२. दूसरी मसनवी "गुलज़ार अरम" है, जिसको गार्साँ द तासी और ब्लूमहार्ड ने भ्रमवश "मसनवी सहरुलबयान" से मिला दिया है। यह बिलकुल दूसरी वस्तु है, और सन् ११९२ हि० (१७७८ ई०) में रची गई। इस में जैसा कि ऊपर लिखा गया शाह मदार के मेले की की छड़िया का विस्तृत वर्णन है और "मसनवी सहरुल बयान" की भाँति इसमें भी उस समय के भिन्न रीति-रिवाजों, वेश भूषा, शादी-व्याह नाच-रंग आदि के रोचक वर्णन हैं। इसमें लखनऊ की निन्दा और फ़ैज़ाबाद की बहुत प्रशंसा की गई है। उदाहरण अन्त में दिया गया है।

३. "रमूज़ुल आरफ़ीन" इसकी चर्चा किसी वृत्तांतकार ने नहीं की है, लेकिन मीर हसन ने स्वयं अपने "तज़्किरःशोअरा" में की है।

इनके अतिरिक्त और भी कुछ मसनवियाँ बताई जाती हैं जो अब अप्राप्य हैं। उन्होंने कई उपहासात्मक रचनाएँ भी लिखी हैं जैसे "हजो अज़ीम कश्मीरी", "हजो क़स्साब", "नक़लकलावंत" "हजो मकान" आदि। यह सब उपहास बड़ी शिष्ट भाषा में और मनोरञ्जक ढंग से लिखे गये हैं।

मीर हसन ने भिन्न भिन्न व्यक्तियों की प्रशंसा में क़सीदे भी लिखे, जिसमें से सात क़सीदे प्राप्त हैं।

मर्सिये कुछ मर्सिये और "सलाम" भी उन्होंने रचे जैसा कि उनके "तज़किरे" से ज्ञात होता है। काव्य के इस अंग की उन्नति और पूर्ति उनके पोते के समय में भली-भाँति हुई।

यह "तज़किरा" फ़ारसी में है; और इसमें लगभग ३०० कवियों का वर्णन है। इसका रचना-काल कहीं नहीं मिलता, लेकिन उन तिथियों के आधार पर जो स्वयं इस पुस्तक में प्राप्त हैं ११६४ हि० का अनुमान होता है [1] और यह वह वर्ष था जब कि मिर्ज़ा रफ़ी सौदा की आयु ७० वर्ष की थी। लेखक ने इसे तीन कालों में विभाजित किया है। पहला काल उन कवियों का है जो फ़रुख़सियर से पूर्व हुए। दूसरा उनका जो फ़रुख़सियर के बाद मुहम्मदशाह के समय तक हुए, और तीसरा स्वयं अपने समकालीनों का। बड़ी विशेषता इस 'तज़किरे" की यही है कि प्रायः समकालीन कवियों का इस में वर्णन प्राप्त होता है जो यद्यपि बहुत विस्तृत नहीं है फिर भी अत्यंत मनोरंजक तथा उपयोगी है। सारांश यह की मीर हसन की रचनाएँ बड़ी मधुर, सरल, धारावाहिक और शृंगारी हैं; और उनकी मसनवी "सहरुल बयान" तो एक अद्वितीय तथा स्मरणीय रचना है, जिसके कारण उनका नाम सदा जीवित रहेगा।

तज़किरतुश्शोअरा

मीर तक़ी 'मीर'

मीर मुहम्मद तक़ी नाम, 'मीर' उपनाम। हिन्दुस्तान के रेख़्ता लिखने वालों के प्रधान गुरु और उर्दू कवियों के मार्गप्रदर्शक तथा साहित्य और भाषा के पंडित थे। उनकी रचनाओं तथा वार्तालाप में विशेष माधुर्य था। 'तज़किरों' में पिता का नाम मीर अब्दुल्ला लिखा है; लेकिन 'ज़िक्र मीर' में मीर साहब ने कोई नाम नहीं लिखा। यह अवश्य लिखा है कि "मेरे पिता, जो मेरे दादा के छोटे बेटे थे, दरवेश हो गये और संसार त्यागकर बैठ रहे। शाह कलीमुल्ला अकबराबादी से

१—मौलाना हबीबुर्रहिमान ख़ाँ शेरवानी 'तज़किरतुश्शोअरा-उर्दू" की अपनी पांडित्यपूर्ण भूमिका में लिखते हैं कि "ज्ञात हो कि यह तज़किरा ११८८ हि० और ११९२ हि० के बीच में लिखा गया।

विद्या और ज्ञान प्राप्त किया जवान, अच्छी आकृति के तथा प्रभी व्यक्ति थे इसलिए अली मुत्तक़ी के नाम से प्रसिद्ध हुए।" चूँकि इनका नाम लिखा नहीं गया, सम्भव है यह मीर अब्दुल्ला ही हों। अपने पूर्वजों के सम्बन्ध में मीर साहब लिखते हैं :—"मेरे पूर्वज काल के फेर से अपनी जाति क़बीले के साथ हजाज़ से चलकर दकन की सीमा में पहुँचे। वहाँ से अहमदाबाद, गुजरात आए। कुछ तो उनमें से वहीं रह गए और कुछ जीविका की खोज में निकल खड़े हुए। अतएव मेरे पर दादा ने अकबराबाद में निवास ग्रहण किया। लेकिन जलवायु के अनुपयुक्त होने के कारण उनकी मृत्यु हो गई। एक पुत्र छोड़ा, जो मेरे दादा थे। वे अकबराबाद की फ़ौजदारी पर सुशोभित हुए। ५० वर्ष की अवस्था में बीमार हुए और अभी पूर्णतया स्वस्थ न हुए थे कि गवालियर गए और थोड़े ही दिनों के बाद इस संसार मे सदा के लिए सिधार गए। उनके दो बेटे थे। बड़ा बेटा कुछ विक्षिप्त था और जवानी में ही मर गया। छोटे मेरे पिता थे जो अली मुत्तक़ी के नाम से प्रसिद्ध थे।" मीर साहब ने इनके कुछ किस्से लिखे हैं। साधु प्रकृति के थे। एक बार लाहौर चले गये और वहाँ एक फ़क़ीर से, जिसने की धोके का जाल फैल रक्खा था, लोगों को सावधान किया। फिर वे दिल्ली आये। वहाँ उनका बड़ा आदर सत्कार हुआ। वहाँ से बियाना पहुँचे। एक नवयुवक सैयद पर उनकी दृष्टि पड़ी, जो कि प्रेम पूर्वक उनका अनुयायी हो गया। यहाँ से आगरा आए और यहीं रम गये। वह युवक सैयद भी उनकी खोज में आगरा पहुँचा और वहीं रह गया। उनका नाम सैयद इमामुल्ला था और मीर तक़ी उनका आदर करते थे। मीर साहब उनके बड़े प्रशंसक थे और 'ज़िक्र मीर' में सदा उन्हें पूज्य कह कर स्मरण किया है। दिन रात उन्हीं के पास रहते और उनकी सारी दीक्षा सैयद सहाब के निरीक्षण में हुई। सैयद अमानुल्ला की जब मृत्यु हुई तो मीर साहब दस वर्ष के थे। मीर साहब और उनके पिता

को उनके मरने का बड़ा शोक हुआ। अतएव उनके पिता भी ज्वर से आक्रांत हो कर परलोक सिधारे। बड़े भाई हाफ़िज़ मुहम्मद हसन ने मीर साहब से बड़ी रुखाई का बरताव किया, और बाप की सारी संपत्ति पर अधिकार कर लिया। ऐसी अवस्था में मीर साहब अपने छोटे भाई मुहम्मद रज़ी को अपनी जगह छोड़ कर स्वयं जीविकोपार्जन के उद्देश्य से निकल पड़े। लेकिन कोई उपाय दृष्टि में न आया। निदान अपने निवासस्थान से विदा लेकर शाहजहानाबाद, दिल्ली, पहुँचे। ख्वाजा मुहम्मद बासित जो समसामुद्दौला अमीरुलउमरा के भतीजे थे, उनको नवाब के पास ले गए और मीर साहब वहाँ कर्मचारी बन गए। नवाब साहब नादिरशाह के युद्ध में मारे गए और मीर साहब की नौकरी जाती रही। मीर साहब के लेख से ज्ञात होता है कि इसके बाद वे आगरा लौट आए। लेकिन जब जीविका का कोई उचित उपाय न दिखाई पड़ा तो फिर दिल्ली की ओर प्रस्थान किया और अपने बड़े भाई के मौसिया सिराजुद्दीन अली ख़ाँ आरज़ू के यहाँ जाकर कुछ दिनों उनके पास ठहरे; लेकिन बड़े भाई की प्रेरणा से ख़ान आरज़ू ने मीर साहब को कष्ट पहुँचाने का प्रयत्न किया इससे मीर साहब को इतना क्षोभ हुआ कि प्रायः वे घर का द्वार बंद करके पड़े रहते। इसी लिए उनकी दशा विक्षिप्त की सी हो गई हकीम फ़ख़ुद्दीन ख़ां ने उपचार किया और धीरे धीरे यह दशा दूर हुई। बाद में मीर ज़ाफ़र नाम के एक वयोवृद्ध से कुछ शिक्षा प्राप्त की और सैयद सआदत अली ख़ां ने उन को रेख़्ते में कविता करने को प्रोत्साहित किया। उधर ख़ान आरज़ू उनके पीछे पड़े थे। एक दिन विवश मीर साहब उनके घर से निकल पड़े। सौभाग्यवश रियायत ख़ाँ नाम के एक रईस ने उन्हें अपना मुसाहब बना लिया और इस प्रकार धनाभाव से किंचित् मुक्ति हुई। जब अहमद शाह दुर्रानी की सरहिद में हार हुई तो मीर साहब ने साँभर क़स्बे की सैर की जो कि अजमेर के पास स्थित है और जब रियायत ख़ां

और राजा रंजीत सिंह में मनमुटाव हो गया तो मीर साहब ने समझौते का प्रयत्न किया। तनिक सी बात पर रियायत ख़ाँ की नौकरी छोड़ दी लेकिन उसने उनकी मैत्री का आभार ख़ूब निबाहा, और मुहम्मद रज़ा मीर साहब के छोटे भाई, को अपने यहां नौकर रख लिया। कुछ दिनों के बाद मीर साहब नवाब बहादुर के यहां नौकर हो गए और रुहेलों के युद्ध में उस तरफ़ की सैर की। जब सफ़दर जंग ने धोके से नवाब बहादुर की हत्या कर डाली तो मीर साहब बेकार हो गए। लेकिन कुछ दिनों बाद महानरायन दीवान की सरकार से संबद्ध हो गए। इसी समय में मीर साहब ने ख़ान आरज़ू का आश्रय छोड़ा और अमीर ख़ां की हवेली में रहने लगे। सिकंदराबाद की लड़ाई में मीर साहब अहमद शाह के साथ थे। राजा जुगल किशोर के द्वारा महाराजा नागरमल से मिले और फिर कुछ दिनों बाद उनके बेटे ने उनका कुछ वेतन नियुक्त कर दिया। मीर साहब उनके बग़ीचे में दो पहर रात तक उपस्थित रहते। वेतन उचित होने के कारण अपेक्षाकृत आराम में दिन कटते। घरेलू युद्धों से दिल्ली की दशा ख़राब हो रही थी। इसी में मीर साहब का मकान भी नष्टभ्रष्ट हो गया और सब माल असबाब लुट गया। इस लूट मार के बाद मीर साहब अपने कुटुम्ब के साथ दिल्ली से निकल खड़े हुए और कुछ दिनों मथुरा जिले के बरसाने नामक स्थान पर रहे। फिर कुम्हेर पहुँचे जो सूरजमल जाट का क़िला था और बहादुर सिंह यहाँ उनसे बड़ी आवभगत से मिले। यहीं सूरजसिंह के तबेले में रे आजम ख़ाँ से भेंट हुई। मीर साहब के बेटे मीर फ़ैज़ अली भी यहां उनके साथ थे। राजा सूरजमल के छोटे बेटे ने मीर साहब के वास्ते कुछ सामान एकत्र कर दिया और स्वयं सूरजमल ने रोजीना नियत कर दिया। कुछ दिनों बाद मीर साहब फिर दिल्ली वापस आए, लेकिन घरों को बरबाद और शहर को उजाड़ पाया। सूरजमल के साथ तीस वर्ष के बाद मीर साहब [illegible] पहुँचे। और अपने पिता तथा अन्य पूज्यों के क़ब्रों की

ज़ियारत की। उनकी काव्यरचना की चर्चा अब चारों ओर फैल गई थी। चार महीने जन्मस्थान में रहकर फिर सूरजमल के क़िले में आ गए। कुछ दिनों बाद फिर अकबराबाद आए और पंद्रह दिन रह कर वापस चले गए। जाटों की लूटमार से राजा नागरमल अपने अनुयायियों सहित कामां चले गए जो माधोसिंह के पुत्र राजा पृथ्वीसिंह का सरहदी स्थान था। मीर साहब भी उनके साथ थे और नौकरी के कारण इसी शहर में कुछ दिन रहे। लेकिन कुछ समय बाद नौकरी छोड़ दी। राजा ने मीर साहब को हिसामुद्दीन के पास भेजा और मीर साहब ने उनकी ओर से सब प्रतिज्ञायें कीं, लेकिन राजा बादशाह की सेना में जो उस समय फ़रुखाबाद में थी, नहीं गया और शहर की ओर प्रस्थान कर गया। विवश मीर साहब भी उसके साथ हो गए और दिल्ली पहुँचे। बालबच्चों को अरबसराय में छोड़ा, और राजा से पृथक् हो गए। सरदारों के उत्पात से बादशाह ने विवश होकर ज़ाब्ता ख़ां पर आक्रमण किया। मीर साहब भी इस आक्रमण में बादशाह के साथ थे। ज़ाब्ता ख़ां बिना लड़े हुए भाग गया। चूंकि मीर साहब बेकारी की दशा में थे, इसलिए जीविकोपार्जन के लिए निकले। इस सिलसिले में वे हिसाउद्दौला के भाई वजीहुद्दीन ख़ां से मिले और उस ने इनके लिए कुछ सहायता नियत कर दी। मीर साहब इन दिनों घर बैठे रहते। बादशाह आलमगीर (द्वितीय) उनको बहुधा बुलाते मगर वे कभी न गए। अबुल्क़ासिम ख़ां और अब्दुल अहद ख़ां के चचेरे भाई मीर साहब के साथ इस समय सद्व्यवहार करते रहे। कभी कभी वे उनसे भेंट करने के लिए जाते और बादशाह भी कभी कभी कुछ भेज देते थे। हसन रज़ा ख़ां भी मीर साहब के साथ अच्छा व्यवहार करते थे।

लखनऊ के लिए प्रस्थान का वृत्तांत मीर साहब इस प्रकार लिखते हैं : "फ़क़ीर घर बैठा था और चाहता था कि शहर से निकल जाये।

लखनऊ के लिए प्रस्थान

लेकिन धनाभाव से विवश था। मेरे सम्मान की रक्षा के ध्यान से नवाब वज़ीरुल्मुमालिक आसफ़ुद्दौला बहादुर आसफ़ुल्मुल्क ने चाहा कि मीर मेरे पास आ जाये तो अच्छा हो। अतएव मुझे बुलाने के लिए इसहाक़ ख़ां मोतमनुद्दौला के पुत्र नवाब सालारजंग ने, जो वज़ीर आज़म के मौसिया होते थे, पुराने सम्बन्धों के कारण कहा कि यदि नवाब साहब मार्गव्यय के लिए कुछ प्रदान करें तो अलबत्ता मीर साहब यहाँ आ सकते हैं। नवाब साहब ने आज्ञा दी और उन्होंने सरकार से मार्गव्यय लेकर मुझे पत्र लिखा कि नवाब वाला आपको याद करते हैं। जिस प्रकार हो सके आप यहाँ आ जाइए। मैं पहले हृदय में निश्चय किए हुए बैठा था, पत्र के आते ही लखनऊ के लिए प्रस्थान कर दिया। चूँकि ख़ुदा की यही इच्छा थी, मैं बिना किसी संगी-साथी और सहायक के फ़र्रुख़ाबाद के रास्ते से चला। वहाँ रईस मुज़फ़्फ़र जंग थे। उन्होंने बहुत चाहा कि कुछ दिन वहाँ ठहर जाऊँ। लेकिन मेरे हृदय ने स्वीकार न किया। दो एक दिन चलकर निश्चित स्थान पर पहुँच गया, और सालारजंग के यहाँ गया। उन्होंने मेरा बड़ा आदर किया और जो कुछ उचित था, नवाब की सेवा में कहला भेजा। चार पाँच दिन के बाद संयोगवश नवाब मुर्ग़ों की लड़ाई देखने के लिये पधारे। मैं भी वहाँ उपस्थित था। भेंट हुई। केवल अन्दाज़ से पूछा कि क्या तुम मीर तक़ी हो? और बड़े प्रेम तथा कृपाभाव से बग़ल में आए और अपने साथ बैठने की जगह पर ले गए। अपने शेर मुझे सम्बोधन करके सुनाए। सुभान अल्लाह। कलामुल्मुलूक मलिकुल्कलाम। इसके बाद कृपापूर्वक मुझसे कुछ पढ़ने को कहा। दिन मैंने अपनी ग़ज़ल के केवल कुछ शेर पढ़े। बिदा के समय नवाब सालारजंग ने कहा कि अब मीर साहब आज्ञानुसार उपस्थित हो गए हैं। उन्हें कोई स्थान बता दिया जाय; जब इच्छा हो उन्हें याद करें। अपने

निर्णय की सूचना बाद में देने के लिए कहा। दो तीन दिन बाद स्मरण किया। उपस्थित हुआ; और जो क़सीदा प्रशंसा में रचा था, पढ़ा। स्वीकार किया और बड़े सौजन्यपूर्वक अपने अनुयायियों में प्रवृष्ट किया और सदा मेरे ऊपर कृपा करते रहे।"

मीर साहब ने लखनऊ में आराम के साथ जीवन बिताया। नवाब आसफ़ुद्दौला जब शिकार के लिए बहराइच गए तो मीर साहब भी घोड़े पर सवार होकर साथ थे। उसकी याद में 'शिकारनामा' रचा। दूसरी बार नवाब उत्तरी पहाड़ की तलहटी तक गये। उन्होंने दूसरा 'शिकारनामा' कहकर सेवा में प्रस्तुत किया। इस 'शिकारनामा' की दो ग़ज़लों पर पंक्तियाँ जोड़कर नवाब ने 'मुख़म्मस' पद्य तैयार किये।

अन्त में लिखते है कि "इन दिनों मेरा स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहता। मित्रों से मिलना छोड़ दिया। बुढ़ापा आ पहुँचा और अवस्था ६० वर्ष की हो गई। प्रायः बीमार रहता। कुछ दिनों आँख के पीछे कष्ट उठाया, आँखों की कमज़ोरी के कारण ऐनक लगाई। दाँतो के दर्द का क्या वर्णन करूँ? अन्त में दिल मज़बूत करके एक एक को जड़ से उखाड़ दिया। सारांश यह कि शक्ति के ह्रास तथा मस्तिष्क और हृदय की दुर्बलता से ऐसा जान पड़ता है कि अधिक जीवित न रहूँगा। और समय भी रहने योग्य नहीं है। इतनी ही इच्छा है कि आराम से अन्त हो।"[1]

मीर साहब की अवस्था के विषय में लोगों में मतभेद है। आज़ाद साहब लिखते हैं कि उनकी अवस्था १०० वर्ष की थी। उनकी मृत्यु

मीर साहब की अवस्था

की तिथि निश्चित रूप से ज्ञात है। नासिख़ के प्रसिद्ध मिस्रे "वावैला मुर्द शहेशाअरान" से मृत्यु की तिथि १२२५ हि० निकलती है।

---

१. मौ० अब्दुलहक़ द्वारा सम्पादित "उर्दू" अप्रैल १९२६ ई०

"तज़किरए-जहान" में मीर साहब की अवस्था ८० वर्ष लिखी है। मसहफ़ी ने अपने 'तज़किरे' में लिखा है कि १२०६ हि० में जब कि वे अपना 'तज़किरा' लेखनी-बद्ध कर रहे थे, मीर साहब की अवस्था ८० से ऊपर हो चुकी थी, लेकिन यह अधिकांश अनुमान पर ही आधारित है। 'ज़िक्र मीर' नामक पुस्तक की तिथि एक 'क़िते' के अनुसार ११९७ हि० होती है। पुस्तक के अन्त में मीर साहब ने अपनी अवस्था ६० वर्ष बताई है। इस प्रकार उनके जन्म की तिथि लगभग ११३७ हि० हुई। नादिरशाह का आक्रमण ११५१ हि० में हुआ था। उस समय उनकी अवस्था १४-१५ वर्ष की रही होगी। यदि जन्म का सन् ११३७ हि० हो तो मीर साहब की अवस्था ८८ या ८९ वर्ष की होती है।

ज़िक्र मीर

मीर साहब के जीवन के सम्बन्ध में अभी तक ठीक ठीक वृत्तांत बहुत कम ज्ञात हुआ है। डाक्टर स्प्रिंगर लिखते हैं कि "जब मैं १८४८ ई० में अवध के शाहों के पुस्तकालयों की सूची तैयार कर रहा था तो मैंने मोतीमहल में 'ज़िक्र-मीर' नामक एक हस्तलिखित प्रति देखी, जो फ़ारसी में है और जिसकी पृष्ठसंख्या १५२ है। इसमें स्वयं मीर साहब के हस्तलेख में उनका जीवनचरित्र है। यह पुस्तक अभी तक दुष्प्राप्य थी लेकिन अब प्राप्त हो गई है और "अंजुमन तरक़्क़ी उर्दू", हैदराबाद की ओर से प्रकाशित हो गई है। लखनऊ में भी हस्तलिखित प्रति सैयद मसूद हसन रिज़वी के पास मौजूद है। उसके द्वारा बहुत सी नई बातें मीर साहब के जीवन-वृत्त के संबंध में ज्ञात हो गईं और अनेक निराधार कल्पित कथाओं का, जो मीर साहब के संबंध में वृत्तांतकारों ने लिखी हैं, अंत हो गया। बहुधा जनता में प्रसिद्ध अनेक निराधार बातों को समकालीन 'तज़किरा' लिखने वालों ने बिना जांचे हुए लिपिबद्ध कर दिया और उनको बाद के लोगों ने भी प्रामाणिक स्वीकार करके और

अधिक चमका दिया। खेद है कि "ज़िक्र मीर" मीर के साहित्यक जीवन पर विशेष प्रकाश नहीं डालती और "निकातुश्शोअरा" में मीर ने अपने संबंध में इससे अधिक कुछ नहीं लिखा कि "इस पुस्तक का रचयिता अकबराबाद का रहने वाला है; दिन रात की गर्दिश की वजह से चन्द दिनों से शाहजहानाबाद में रहने लगा है।" यह 'तज़किरा' लगभग ११६५ हि० में तैयार हुआ। 'ज़िक्र मीर' में मीर साहब ने अपने जीवन का वृत्तांत दिया है और अपने समय की घटना का भी उल्लेख किया है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी पुस्तक विशेष महत्व रखती है। इसमें नादिरशाह के युद्ध से लेकर ज़ाब्ता ख़ां की हत्या तक की घटनाएँ प्राप्त होती हैं अर्थात् ११५१ हि० से लेकर ११६७ हि० तक का इतिहास इसमें सुरक्षित है और उस समय की घटनाओं पर प्रकाश डालता है। अभी तक इतिहास-लेखकों को इस पुस्तक के ऐतिहासिक महत्व का पता नहीं था। दिल्ली के गृह-युद्ध, मरहठों, जाटों, रुहेलों व अफ़ग़ानों की लड़ाइयाँ, अवध के नवाबों के सैनिक कृत्य, अंग्रेज़ों के मोरचे, शहर के बड़े लोगों के षड्यंत्र, हिन्दू और मुसल्मानों के आपस के अच्छे संबंध, सब का वर्णन इस पुस्तक में मौजूद है। चूंकि इस काल के अनेक इतिहास हैं, इसलिए घटनाओं की जाँच की जा सकती है। मीर साहब ने स्वयं बहुत सी लड़ाइयों में भाग लिया था। खेद है कि मीर साहब ने उस समय के साहित्यिक पक्ष पर बहुत कम प्रकाश डाला है। कवियों का वर्णन बिल्कुल नहीं है। साहित्यिक जीवन के वर्णन का अभाव है।

सैयद होने के विषय में मतभेद

"तज़किरए शोरिश" में (जिसका रचना काल ११६३ हि०है; जबकि मीर साहब जीवित थे) लिखा है कि मीर साहब वास्तव में सैयद न थे, बल्कि 'मीर' उपनाम होने के कारण सैयद समझे जाने लगे थे। "आबे हयात" नामक तज़किरे में लिखा है कि जब उन्होंने

'मीर' उपनाम ग्रहण किया तो उनके पिता ने मना किया कि ऐसा न करो, एक दिन बरबस सैयद हो जाओगे। उस समय उन्होंने ध्यान न दिया, किन्तु बाद में यह बात ठीक ही निकली। फिर सौदा के एक 'क़िते' का हवाला देते हैं जिसका अंतिम शेर यह है:—

मीरी के अब तो सारे मसाले हैं मुस्तैद,
बेटा तो गंदना बने और आप कोथ मीर ॥

लेकिन यह भी लिखते हैं कि यह 'क़िता' सौदा के संग्रह में नहीं है और आगे स्वयं कहते हैं कि मीर साहब के सैयद होने में संदेह न करना चाहिए। यदि वह सैयद न होते तो स्वयं क्यों कहते—

फिरते हैं मीर ख़्वार कोई पूछता नहीं,
इस आशिक़ी में इज़्ज़ते सादात भी गई ॥

यथार्थ बात यह है कि मीर साहब के सैयद होने के विषय में किसी को संदेह नहीं हो सकना। इसलिये कि अपने सैयद होने का संकेत मीर साहब ने बहुधा अपने शेरों में किया है। 'ज़िक्र मीर' ने इस प्रश्न का पूर्ण रूप से निर्णय कर दिया है। मीर साहब अपने पिता का नाम सर्वत्र मीर अली मुत्तक़ी कहते हैं। अपने पिता तथा वृद्धों के द्वारा पुकारे जाने वाला अपना नाम मीर मुहम्मद तक़ी लिखा है और अपने बेटे का नाम मीर फ़ैज़ अली लिखा है। यह परंपरा ग़लत है कि जब उन्होंने 'मीर' उपनाम ग्रहण किया तो उनके पिता ने मना किया, क्योंकि पिता की मृत्यु के समय मीर साहब की अवस्था १०—११ वर्ष से अधिक न थी, और उस समय वे कविता नहीं करते थे। "मीर साहब का मत शिया था, लेकिन ऐसा नहीं कि दूसरों के लिये अप्रिय हो।" आज़ाद ने अपनी अत्यन्त मूल्यवान लेकिन घटना की दृष्टि से किंचित् भ्रामक रचना में कुछ ग़लत बातें अंकित कर दी हैं। जैसे कुछ ऐसे क़िस्से और कथन मीर साहब के नाम से संबद्ध किए हैं जिनसे उनकी बद्दिमाग़ी प्रकट होती है। उदाहरण के लिए वह स्थल जिसमें मीर साहब की

दिल्ली यात्रा का वर्णन किया गया है, और मीर क़मरुद्दीन मन्नत और सआदत यार ख़ाँ के शिष्यत्व के संबंध में। खेद है कि इन घटनाओं की जाँच नहीं कर ली गई। अपनी पुस्तक को मनोरंजक बनाने के उद्देश्य से बहुत से निराधार प्रसंग और सुनीसुनाई घटनाएं बिना जाँच किए हुए (और संभव है कुछ भ्रामक वृत्तांतकारों के अनुकरण में) ले लिए।

अल्हम्दुल्ला के "निकातुश्शोअरा" के प्रकाशित हो जाने और मीर के अन्य समकालीनों के 'तज़किरों' के प्राप्त होने से बहुधा संदिग्ध घटनाएं अब स्पष्ट हो गईं। "निकातुश्शोअरा" के संबंध में "आबे हयात" में लिखा है कि "निकातुश्शोअरा"

निकातुश्शोअरा

काव्यप्रेमियों के लिये बहुत उपयोगी है। उसमें उर्दू कवियों की बहुत सी बातें इस समय के लोगों के देखने योग्य हैं। लेकिन वहाँ भी अपना लिखने का ढंग वही है। भूमिका में लिखते हैं कि यह उर्दू का पहला तज़किरा है। इसमें एक हज़ार कवियों का हाल लिखूँगा। इन हज़ार में एक बेचारा भी व्यंग तथा आक्षेप से नहीं बचा। वली, जो कि कवियों का आदि पुरुष है, उसके संबंध में कहते हैं कि यह कवि शैतान से भी अधिक प्रसिद्ध है। "लेकिन घटनाएँ इन बातों का प्रतिवाद करती हैं। 'निकातुश्शोअरा' अब प्रकाशित हो गई है। उसकी भूमिका में यह सब बातें कहीं नहीं हैं, और न उसमें एक हज़ार कवियों की चर्चा है। वरन् वास्तव में केवल लगभग १०० कवियों का वर्णन है। उनकी रचनाओं की समालोचना में तीव्रता या उग्रता भी नहीं दिखाई देती। आश्चर्य होता है कि इस पुस्तक की भाषा बड़ी सरल और अतिशयोक्ति तथा अलंकारों से मुक्त है। समालोचना भी बहुत संक्षेप में और बलशाली शब्दों में तथा न्याययुक्त है। जहाँ कहीं किसी कवि का हाल अधिक ज्ञात नहीं वहाँ स्पष्ट लिख देते हैं कि फ़क़ीर को उसकी जानकारी नहीं है, या इसी प्रकार का

कोई अन्य वाक्य। व्यंग्यात्मक वाक्य कहीं कहीं हैं, लेकिन बहुत कम और उसी दशा में जब कि कोई व्यक्ति वास्तव में उनका पात्र है। वली के संबंध में 'शैतान से अधिक प्रसिद्ध' वाला वाक्य मुझे कहीं नहीं मिलता। वरन् इसके प्रत्युत उनके विषय में यह लिखते हैं कि "अज़ कमाले शोहरत इहतियाजे तारीफ़ नदारद" अर्थात् बहुत प्रख्यात हैं, उनका परिचय अनावश्यक है। फिर मीर साहब के धर्म के संबंध में "आबे हयात" में है कि "मीर साहब के मामा हनफ़ी मत के थे और मीर साहब शिया। अत्यंत क्रोधी स्वभाव के थे। तात्पर्य यह कि किसी प्रश्न पर बिगड़ कर अलग हो गये।" यह ठीक है कि ख़ान आरज़ू के संबंध में मीर साहब के क्रोधी स्वभाव अथवा उग्र प्रकृति होने की चर्चा "निकातुश्शुअरा" में कहीं नहीं है। वरन् वह तो उन्हें अपना 'गुरु' व 'पीर' व 'मुरशिद' और 'मार्ग दर्शक' आदि ऐसे प्रतिष्ठित शब्दों द्वारा स्मरण करते हैं। इससे स्पष्ट प्रकट है कि मीर साहब को अन्य मतों के विरुद्ध रोष न था, वरन् वह अन्य धर्मों का बड़ा अदब तथा आदर करते थे। वह अलग होने की बात जिसकी चर्चा मौलाना आज़ाद ने की है उसके संबंध में मीर साहब ने 'ज़िक्र मीर' में लिखा है। लेकिन उनकी रचनाओं से कहीं नहीं पाया जाता कि उन्होंने ख़ान आरज़ू के विरुद्ध कोई भी अशिष्टता की हो। 'ज़िक्र मीर' में सिराजुद्दीन अली ख़ाँ आरज़ू की चर्चा करते हुए लिखते हैं कि नादिरशाह के आक्रमण के बाद फिर दिल्ली गया और अपने बड़े भाई के मौसिस सिराजुद्दीन अली ख़ाँ आरज़ू का 'मन्नत वज़ीर' हुआ और वहीं कुछ दिन रहा और शहर के कुछ सज्जनों से कुछ पुस्तकें पढ़ीं। जब कि मैं किसी योग्य हुआ तो भाई साहब (हाफ़िज़ मुहम्मद हसन) का पत्र पहुँचा कि मीर मुहम्मद तक़ी बड़ा फ़सादी है। उसे कदापि आश्रय न दिया जाय। वह बंधु (आरज़ू) वास्तव में दुनियादार व्यक्ति था। अपने भांजे के लिखने पर मेरे पीछे पड़ गया। जब कभी भेंट होती तो बिना कारण बुरा भला

कहने लगते और तरह तरह से मुझे कष्ट पहुँचाने का प्रयत्न करते। मेरे साथ उनका व्यवहार ऐसा था जैसा कि किसी वैरी का होता है।" इस शोक में मीर साहब की दशा पागल की सी हो गई। एक दिन ख़ान आरज़ू ने मीर साहब को खाना खाने के लिए बुलाया और अप्रिय तथा कड़ुई बातें करने लगा। मीर साहब बिना खाना खाए उठ आए। शाम को उनके घर से चले गए और फिर कुछ समय बाद उनका आश्रय भी त्याग दिया। आरज़ू के शुजाउद्दौला के पास जाने के संबंध में लिखते हैं कि मेरे मौसिया को लालच ने सताया। ऐसा मालूम होता है कि मीर साहब दूसरी बीबी से थे और पहली बीबी से हाफ़िज़ मुहम्मद हसन, जिनके आरज़ू मौसिया थे, और मीर साहब * सौतेले मौसिया हुए। उन्होंने मीर साहब का कुछ पोषण अवश्य किया और शिक्षा में भी कुछ सहायता दी। 'निकातुश्शुअरा' में ख़ान आरज़ू के गुणों को स्वीकार किया गया है और 'ज़िक्र मीर' में घरेलू संबंध का वर्णन है। फिर आज़ाद के वर्णन से एक स्थान पर प्रकट होता है कि मीर साहब ने अपना उपनाम मीर सोज़ से लिया जो पहले मीर उपनाम करते थे। यह भी एक निराधार कथन है, क्योंकि मीर साहब स्वयं कहते हैं कि मैं बहुत समय से यह उपनाम लिखता हूँ, बल्कि वास्तविक बात यह है कि जब सोज़ ने यह देखा होगा कि उनके अच्छे शेर उनके समान उपनाम करने वाले के समझे जायँगे तो उन्होंने पहला उपनाम त्याग कर कर 'सोज़' उपनाम ग्रहण कर लिया होगा। ख़्वाजा मीर दर्द के के संबंध में भी मीर साहब बड़े अच्छे शब्दों का प्रयोग करते हैं, और बहुत आदर के साथ उठ कर उनका नाम लेते हैं। मौलाना आज़ाद यह भी लिखते हैं कि मीर साहब उन लोगों की चर्चा, जो दिल्ली के रहने वाले न थे और उर्दू भाषा से इसी कारण अपरिचित थे, बड़ी घृणा के साथ करते हैं। लेकिन यह बात भी वस्तुस्थिति के विरुद्ध है, इस कारण कि मीर

साहब ने बहुधा ऐसे कवियों की बहुत-कुछ प्रशंसा भी की है जो दिल्ली के रहने वाले न थे।

मीर साहब का चरित्र

इस में कोई संदेह नहीं कि प्रकृति ने मीर साहब को आत्म-संयम की चरम मात्रा दी थी। उन्होंने भावुक हृदय पाया था। वह बहुधा रईसों और अमीरों के साथ मेल जोल रखने को तुच्छ दृष्टि से देखते थे जिससे उनके आत्मसम्मान पर कोई लांछन न आवे। वे अत्यंत सहनशील थे। मितभाषी और स्वतंत्र विचार के आदमी थे। धनाभाव ने उनकी उच्च प्रकृति को उच्चतर कर दिया था।

मीर साहब की 'उग्रता' और रुष्टता का आज़ाद ने बड़ी अतिशयोक्ति के साथ वर्णन किया है। लेकिन इसमें संदेह नहीं कि वह सहज में चिढ़ने वाले व्यक्ति थे। राजा नागरमल (जो उनका बड़ा आदर करने वाला था) की मैत्री केवल इसलिए छोड़ दी कि जो 'मुआहदा' उसकी ओर से बादशाही उमरावों से करके आए थे उसपर उसने कार्य नहीं किया। एक अमीर राजा जुगलकिशोर, जो मुहम्मद शाह के राजत्वकाल मे बंगाल के दीवान थे और बड़े आराम से जीवन व्यतीत करते थे मीर साहब को घर से उठा ले गए। अपनी रचनाओं के सुधार की इच्छा की मीर साहब ने उन्हें इस योग्य न समझा कि उनका सुधार किया जाय। और उनकी बहुत सी रचनाओं को काट दिया। लेकिन राजा जुगलकिशोर ने कुछ बुरा न माना और राजा नागरमल से भेंट करा दी; और मीर साहब का उन्होंने बड़ा आदर किया। रियायत ख़ाँ के संरक्षण में कुछ दिनों रहे। एक दिन उन्होंने मीर साहब से कहा कि गवैये को रेख़्ते के अपने दो तीन शेर याद करा दिजिएगा तो वह संगीत के नियम के अनुसार ठीक कर लेगा। मीर साहब ने

आपत्ति की। ख़ां साहब ने आग्रह किया, लेकिन मीर साहब घर बैठ रहे और उनकी नौकरी छोड़ दी। आलमगीर (द्वितीय) बादशाह ने बारबार बुलाया लेकिन मीर साहब नहीं गए। इसका एक कारण तो स्वभाव संबंधी था, और दूसरे यह कि उन्हें अपनी शिष्टता का बड़ा ध्यान रहता था। जब द्रव्याभाव हो और भूखे रहने की नौबत हो तो शिष्टता का निर्वाह कठिन हो जाता है। उनका आत्मसम्मान दूसरों की सहानुभूति की भी अपेक्षा नहीं करता था। जल्दी से रुष्ट हो जाते और अपनी इस दुर्बलता से स्वयं परिचित थे। अतएव अपने कुछ शेरों में उसकी ओर संकेत किया है। मीर हसन और लुत्फ़ आदि ने भी उसकी चर्चा की है।

हालत तो यह है मुझको ग़मों से नहीं फ़राग़।
दिल सोज़िशे दुरूनी से जलता है जूं चिराग़।
सीना तमाम चाक है सारा जिगर है दाग,
है नाम मजलिसों में मेरा मीर बेदिमाग़।
अज़बस कि कम दिमाग़ी ने पाया है इश्तहार।

अन्य—

हरचंद मीर बस्ती के लोगों से है नफ़ूर।
पर हाय आदमी है वह ख़ाना ख़राब क्या॥

अन्य—

पैदा कहाँ हैं ऐसे परागंदा तबा लोग।
अफ़सोस तुम को मीर से सुहबत नहीं रही॥

अन्य—

हम ख़स्ता दिल हैं तुझसे भी नाज़ुक मिज़ाजतर।
त्यूरी चढ़ाई तूने कि यां जी निकल गया॥

अन्य—

नाज़ुक मिज़ाज आप क़यामत हैं मीर जी।
जूं शीशा मेरे मुँह न लगो मैं नशे में हूं॥

यद्यपि अनेक बार अपने संबंध में अपने शेरों में तथा 'तज़किरे' में विनयपूर्ण शब्द लिखे हैं और अपने शिष्यों को अपना मित्र बताया है लेकिन यह सब भी उसी स्वाभिमानी प्रकृति का एक पहलू है। उन की प्रसिद्ध मसनवी "अजगरनामा", जिस में कि अपने आपको एक अजगर मा, है और शेप कवियों को छोटे छोटे जानवरों से उपमा दी है, कोई काल्पनिक वस्तु न मानना चाहिए, वरन् वह उनके स्वाभाविक गर्व का एक स्पष्ट उदाहरण है। लेकिन यह न समझना चाहिए कि वह प्रत्येक व्यक्ति को इस प्रकार तुच्छभाव से देखते थे। अपने दूसरे समकालीन तथा प्रतिस्पर्द्धी मिरज़ा रफ़ी सौदा की पर्याप्त प्रशंसा की है और उन्हें हिंद के कवियों में सबसे बड़ा बतलाया है। इसी प्रकार कुछ अपने शिष्यों की भी बड़ी प्रशंसा करते हैं। लेकिन मौलाना आज़ाद ने इस स्वाभाविक दुर्बलता पर और गुल- बूटे लगाए हैं। कहते हैं—"यदि यह अभिमान और दुरपेक्षा केवल अमीरों के प्रति होती तो आपत्तिजनक न होती। खेद यह है कि औरों की योग्यता भी उन्हें दिखाई न देती थी और यह प्रत्येक ऐसे व्यक्ति पर ऐसा कुरूप धब्बा है जो योग्यता के साथ गुणी हो। वृद्धों की लिखित तथा मौखिक परंपरा के अनुसार यह सिद्ध है कि ख़्वाजा हाफ़िज़ शीराजी और शेख़ सादी की ग़ज़ल पढ़ी जाय तो वह सिर हिलाना पाप समझते थे, किसी और की तो गिनती ही क्या है।" इस कठोर और अन्याय-युक्त आलोचना से स्पष्ट प्रकट है कि "निकातुश्शोअरा" मौलाना आज़ाद की दृष्टि में नहीं आई बल्कि उन्होंने मीर साहब के अभिमान और दुरपेक्षता के संबंध में प्रायः निराधार मौखिक कथनों तथा अप्रामाणिक 'तज़किरों', विशेष कर क़ासिम के 'तज़किरे', का बिना जाँच किए आश्रय लिया है।

मीर की प्रकृति में आरंभ से ही करुणरस रहा है और उसको संसार में दुःख और वेदना को छोड़ कर कुछ और नहीं दिखाई देता था। अतएव मीर साहब स्वयं लिखते हैं :—

मीर की रचना में करुणा और निराशावाद है

न दर्दमंदी से यह राह तुम चले वर्ना,
क़दम क़दम पै थी यां जाय नालअ ो फ़रियाद।

फिर उनके पिता का दरवेशों जैसा जीवन था और उनकी शिक्षा के प्रेम में अपने को भूल जाना अस्तित्व का परम ध्येय है। अतएव स्थान-स्थान पर मीर कहते हैं:—

इश्क़ ही इश्क़ है जहां देखो।
सारे आलम में भर रहा है इश्क़।

× ×

यारब कोई तो वास्ता सरगश्तगी का है।
इक इश्क़ भर रहा है ज़मीं आस्मान में।

मीर साहब की शिक्षा-दीक्षा भी सैयद अमानुल्ला के देखरेख में हुई जो एक सूफ़ी विचारों के महापुरुष थे। बचपन से ही दरवेशों जैसा स्वभाव और संतोष उत्पन्न हो गए थे। सैयद साहब के कारण मीर साहब को बहुत से दरवेशों और सहृदय लोगों से मिलने का सुयोग प्राप्त हुआ और उनकी करुणात्मक बातें सुनने का अवसर मिला जो उनके हृदय में पैठ गईं और जिनका रस उनके स्वभाव तथा रचना में सदा बना रहा। मीर साहब का जीवन भी करुणा से भरा है। बचपन से ही कष्टों का सामना करना पड़ा था। दस वर्ष की अवस्था में पिता की मृत्यु हुई। जीविकोपार्जन के लिये बाहर निकले। बड़े भाई ने कोई सहायता न की। दिल्ली गए। वहाँ बड़ी कठिनाई में कटी। ख़ान आरज़ू भी पीछे पड़ गए। मीर साहब बहुत ही उदास और निराश रहते थे। इस

पर बेबसी। इस रंज और क्रोध में पागलपन की दशा उपस्थित हो गई और उन्हें चंद्रमा में एक विचित्र रूप दीखने लगा जिसके कारण उनका विक्षेप और बढ़ गया। इस दशा का वर्णन 'ज़िक्र मीर' में मिलता है और उनकी मसनवी "ख़्वाबो ख़याल" में भी इसी का संकेत है। हृदय पर बीती घटनाओं का चित्र जान पड़ता है। उसके कुछ शेर नीचे उद्धृत हैं:—

ज़माने ने रक्खा मुझे मुत्तसिल।
परागंदा रोज़ी परागंदा दिल।
चला अकबराबाद से जिस घड़ी।
दरो बाम पर चश्मे हसरत पड़ी।
पस अज़ क़ता रह लाए दिल्ली में बख़्त।
बहुत खींचे या मैंने आज़ार सख़्त।
जिगर जौरे गर्दू से ख़ूं हो गया।
मुझे रुकते रुकते जुनूं हो गया।
हुआ ख़ब्त से मुझको रब्ते तमाम।
लगी रहने वहशत मुझे सुबहोशाम।
कभू कफ़ बलब मस्त रहने लगा।
कभू संग दर दस्त रहने लगा।
नज़र आई इक शक्ल महताब में।
कमी आई जिससे ख़ुरो ख़्वाब में।

दिल्ली में जब तक रहे जीविका का स्थायी प्रबंध न था। आज घर में अनाज तो कल रोटी के मुहताज। कभी-कभी भूखे रह जाने की नौबत पहुँची। इस ग़रीबी और दीनता में जीवन व्यतीत किया। अतएव रचनाओं में भी इस दशा की झलक प्राप्त होती हैं:—

ना मरदाना ज़ीस्त करता था,
ो वफ़ा याद है हमको।

अन्य—

बहुत सई कीजिए तो मर रहिए मीर,
बस अपना तो इतना ही मक़दूर है।

अन्य—

न मिल मीर अब के अमीरों से तू,
हुए हैं फ़क़ीर उनकी दौलत से हम।

फिर दिल्ली का विध्वंस, बंधुओं और वंशों का विनाश, आए दिन की क्रांतियां, मरहटों, जाटों, दुर्रानियों के उत्थान और विध्वंसकारी कार्य अपनी आँखों से देखे और अपनी लेखनी से लिपिबद्ध किए—

दिल्ली में आज भीक भी मिलती नहीं उन्हें,
था कल तलक दिमाग़ जिन्हें ताज़ो तख़्त का।

अन्य—

दिल इश्क़ का हमेशा हरीफ़े न बुर्द था,
अब जिस जगह कि दाग़ है यां पहले दर्द था।

मौलवी अब्दुल्सलाम नदवी ने 'बहारे बेख़िज़ां' में अंकित परंपरा के आधारों पर लिखा है कि "मीर साहब प्रेम की तलवार से आहत थे और उनके हृदय पर आरंभ से यह चोट लग चुकी थी। उम्र भर उनके हृदय में यह नश्तर खटकता रहा। यद्यपि यह एक रहस्य है कि साधारण रीति पर तज़किरा लिखने वालों को इसकी ख़बर नहीं है, लेकिन कुछ तज़किरों ने इसे प्रकट कर दिया है। बहारे बेख़िज़ां में उनके किसी 'परी-रू' पर आसक्त होने का वर्णन है।

मीर साहब के कुछ शेरों से भी इसका छिपे ढंग से समर्थन होता है—

मेरे सलीक़े से मेरी निभी मुहब्बत में,
तमाम उम्र में नाकामियों से काम लिया।
किया था शेर को परदा सख़ुन का,
वही आख़िर को ठहरा फ़न हमारा।

लेकिन हमारे निकट यह बात पूर्णतया सिद्ध न हुई। शेरों से इस बात को सिद्ध करना एक काल्पनिक तर्क है।

रचनाएं

मीर साहब की रचनाएँ अनेक हैं। चूंकि बहुत बड़ी आयु प्राप्त हुई थी, इस लिए रचनाओं की सख्या भी अधिक है। उनकी रचनाएँ निम्नलिखित हैं :—

(१) छः बड़े दीवान (संग्रह) ग़ज़लों के।

(२) एक दीवान फ़ारसी का (जो अभी तक अप्रकाशित है)।

(३) कई मसनवियां।

(४) एक पुस्तक (रिसाला) फ़ारसी में जिसका नाम 'फ़ैज़ मीर' है और जिस के अंत में कुछ हास्य-प्रसंग तथा कहानियां हैं। उनमें कुछ बहुत फूहड़ है। उस से उस समय की रुचि का अटकल मिलता है।

(५) उर्दू शायरों का एक 'तज़किरा' फ़ारसी भाषा में जिसका नाम 'निकातुश्शोअरा' है।

दीवानों में न केवल ग़ज़लें हैं वरन् रुबाइयाँ, मुस्तज़ाद वासोख़्त, मुख़म्मस, मुसद्दस, तरजीअबंद, तरकीबबंद, आदि सभी प्रकार की रचनाएँ हैं। दीवानों के सैकड़ों पृष्ठ हैं और ग़ज़लें संख्या में हज़ारों हैं।

मीर साहब ने कुछ क़सीदे भी लिखे, लेकिन प्रथम तो उनकी संख्या कम है। दूसरे सौदा के क़सीदों की बराबरी में वह कम ज़ोरदार ठहरते हैं। उन्हें देखने से ज्ञात होता है कि मीर साहब की प्रवृत्ति ग़ज़ल रचना की ओर अधिक थी, क़सीदों की रचना के प्रति विशेष रुचि न थी। इस लिए कि वह अमीरों और रईसों की चाटुकारिता तथा भटैती से कोसों भागते थे। और यह भी आत्मसम्मान तथा स्वाभाविक मितभाषिता उन को व्यर्थ शब्दाडंबर की ओर आकर्षित न करती थी। उनके मुख़म्मस कुछ तो संबोधनात्मक हैं और कुछ में अपने काल का उपालंभ है, जिनमें शाहआलम बादशाह के समय पर व्यंग है।

ग़जलों के बाद उनकी मसनवियों का नंबर है, जिनकी संख्या भी अधिक है। मसनवियां बहुधा प्रेमाख्यानक हैं और बहुत लोकप्रिय हुई है। कुछ स्फुट विषयों पर हैं। संख्या निम्न-लिखित है:—

(१) मसनवी 'अजगर नामा' या 'अज़दर नामा' जिसमें मीर साहब का स्वाभाविक गर्व और अन्य समकालीनों को तुच्छ दृष्टि से देखा गया है। इसमें उन्होंने अपने आपको एक अजगर होने की कल्पना की है जो छोटे छोटे कीड़ों, साँप बिच्छू आदि को खा जाता है और जीवों से उस समय के छोटे कवियों के प्रति संकेत है।

(२) शोला-ए-इश्क़।

(३) जोशे-इश्क़।

(४) दरिया-ए-इश्क़।

(५) ऐजाज़े-इश्क़।

(६) ख़्वाबो ख़याल।

(७) मुआमलात इश्क़।

(८) तंबीहुल्जहाल, जिसमें कि काव्यकला और उसके गौरव का वर्णन है। इनके अतिरिक्त तीन मसनवियां शिकारनामे की हैं जिनमें नवाब आसफ़ुद्दौला के सैर व शिकार का वर्णन है। कुछ और छोटी-छोटी कविताएँ ऐसे विषयों पर हैं जिनसे मीर साहब को बड़ा स्नेह था। जैसे कुत्ता, बिल्ली, बकरी आदि। एक मसनवी मुर्ग़बाज़ों की है। एक में वर्षा ऋतु के कष्टों का, विशेषकर अपने घर का हाल बताया है जो कि वर्षा के अधिक होने के कारण गिर गया था। इसी प्रकार एक में वर्षा-काल की यात्रा की चर्चा है। एक छोटी सी मसनवी झूठ की ओर संबोधन करके लिखी गई है। कुछ मर्सिऐ भी लिखे हैं लेकिन वह विशेष रूप से वर्णनीय नहीं हैं। पद्य में तारीख़ें बाँधने के प्रति उन्हें रुचि न थी। एक साक़ीनामा भी है।

मीर साहब के उर्दू कविता में नए प्रयोग

मीर साहब उर्दू 'वासोख़्त' के आविष्कारक माने गए हैं। इसी प्रकार उर्दू में 'मुसल्लस' तथा 'मुरब्बा' (अर्थात् तीन और चार चरणों के पद्य) के पद्य भी इन्हीं के आविष्कार हैं। कुछ फ़ारसी शेरों में चरण जोड़कर 'मुसल्लस' अथवा 'मुरब्बा' किया है।

उदाहरणार्थ अहली शीराज़ी का शेर है:—

इमरोज़ यक़ीं शुद कि नदारी सरे अहली
बेचारा ज़ुल्फ़े तु ग़लत दाश्त गुमांहा।

इस शेर के आरंभ में एक मिसरा (चरण) 'कल तक तो फ़रीबंदः मुलाक़ात थी पहली' जोड़ कर 'मुसल्लस' बना लिया।

मीर साहब को ख्याति विशेषकर उनकी ग़ज़लों और मसनवियों पर आश्रित है। ग़ज़लों में तो वास्तव में उनके जोड़ का दूसरा कवि नहीं, लेकिन मसनवियों में मीर हसन की मसनवी "सहरुल्बयान" को नहीं पहुँचती। फिर भी उनके प्रवाह और प्रसाद गुण प्रशंशनीय हैं। फ़ारसी का दीवान (संग्रह) मसहफ़ी के कथनानुसार एक वर्ष में प्रस्तुत हुआ था जब कि उन्होंने रेख़्ता कहना बन्द कर दिया था।

तज़किरा निकातुश्शुअरा

यह तज़किरा लगभग ११६५ हि० (१७५२ ई०) में लिखा गया। यह लेखक के दावे के अनुसार उर्दू कवियों का सबसे पहला तज़क़िरा (वृत्तांत) है और वास्तव में बड़ा रोचक और उपयोगी है। खेद है कि इसमें वृत्तांत विस्तार से नहीं दिये गए हैं; फिर भी जो बातें समकालीन कवियों के विषय में इसमें मिलती हैं वे बहुत मूल्यवान् हैं जिन कवियों के वृत्तांत हैं उनकी रचना के उदाहरण भी दिये गए हैं।

मीर साहब की भाषा तथा कविता के प्रति सेवाएँ

मीर साहब ने अनेक फ़ारसी प्रयोगों या उनके अनुवाद को उर्दू में स्थान दिया और रेख़्ता बनाया। आज़ाद ने "आबेहयात" में उसके बहुत से उदाहरण दिए हैं। जैसे—

हंगामा गरम कुन जो दिले ना सबूर था,
पैदा हर एक नाले से शोरे नशूर था।

× ×

दिल कि इक क़त्रा ख़ूं नहीं है बेश,
एक आलम के सर बला लाया।

× ×

ऐ तू कि यां ऐ आक़बते कार जायगा,
यह क़ाफ़ला रहेगा न ज़नहार जायगा।

अनुवाद के उदाहरण—

गुल को महबूब हम क़यास किया,
फ़र्क़ निकला बहुत जो बास किया।

बास करना या बू करना फ़ारसी 'बू करदन' का अनुवाद है और सूँघने के अर्थ में इसका प्रयोग हुआ है।

इनमें से बहुत प्रयोग जनप्रिय हुये और भाषा में स्वीकृत हो गये, बहुत से नहीं भी पसंद किये गए और धीरे-धीरे त्याग दिये गए। मीर साहब ने रेख़्ता के विषय में, अपने विचार "निकातुश्शोअरा" के अंतमें दिये हैं।

साधारणतः उर्दू शायरी से उर्दू ग़ज़ल का तात्पर्य लिया जाता है, और मीर साहब ग़ज़ल कहने में माने हुए उस्ताद हैं। अतएव मीर साहब उर्दू के सबसे बड़े कवि थे। मीर साहब का पद

मीर—कवि के रूप में

मसनवी लिखने वालों में भी बहुत ऊँचा है लेकिन वास्तविकता यह है कि ग़ज़ल-गोई में उनका जवाब

नहीं और इस क्षेत्र में वह अकेले शासक की भांति हैं। उनके शेर सरल, सीधे, प्रवाहमय और तीर से वेधने वाले तथा करुण रस से भरे हुये और प्रवाहयुक्त हैं। उनमें आकर्षण और शक्ति कूट कूट कर भरी है। भावप्रदर्शन, गठन, और ध्वनि (लय) की दृष्टि से वे अद्वितीय हैं। इनके अनेक शेरों में एक ऐसा चमत्कार है जो प्रत्येक भाषा की सच्ची कविता का विशेष चिह्न है। मीर साहब के ७२ 'नश्तर' (बेधने वाली छुरी) प्रसिद्ध हैं। लेकिन सच पूछिये तो उनके सैकड़ों ऐसे शेर निकलेंगे जिनमें वास्तविक कविता के गुण अपनी चरम अवस्था में उपलब्ध हैं। जब कोई फड़कता हुआ शेर सुना जाता है तो लोग कहते हैं कि यह उन्हीं ७२ नश्तरों में से है। भाषा शिष्ट, रचना स्पष्ट, वर्णनशैली ऐसी आकर्षक जैसे बातें करते हैं। वह उर्दू के शेख़ सादी हैं। इनकी रचना काव्य की शोभा है। विशेषकर छोटे वृत्तों के तो वे बादशाह हैं और हमारी दृष्टि में तो बड़े वृत्तों में भी वे अपना जवाब नहीं रखते। उनकी रचना में, जो वेदना व कारुण्य, आकांक्षा व उदासी से परिपूर्ण है, वही उनकी कविता की प्राण है। यही निराशा और उदासी उनकी ग़ज़लों को ज़ोरदार और प्रभावशाली बनाती है। मीर साहब शायरी और भाषाज्ञान में अपना समकक्ष नहीं रखते। साधारणतया लोग उन्हें 'ख़ुदाये सख़ुन' (काव्य के ईश्वर) कहते हैं। ग़ालिब और नासिख़ तथा उनके बाद होने वाले सभी प्रसिद्ध कवि, उनकी महत्ता और कौशल को स्वीकार करते हैं और यह बात विशेष रूप से विचारणीय है कि यह अपने ही समय में बहुत बड़े कवि माने जाते थे। उनके समकालीनों तथा बाद के सभी वृतान्तकारों ने उनकी अत्यन्त ललित भाषा में उनके सम्बन्ध में अतिशयोक्तिपूर्ण शब्द कहे हैं। कवि तथा गद्य लेखक दोनों उनकी प्रशंसा के विषय में आपस में प्रतिस्पर्द्धा करते हुए प्रतीत होते हैं और आर्ट (कला) तथा नेचर, (प्रकृति) दोनों में उनकी प्रशंसा के शब्द तथा पर्याय ढूंढ़ते हैं।

उदाहरणार्थ मीर हसन अपने 'तज़किरे' में लिखते हैं कि "सर आमद शुअराए हिंद और अपने वक़्त के अफ़्सहुल् फ़सहा और बेनज़ीर व बेअदील शायर थे।" इसी प्रकार मिर्ज़ा अली लुत्फ़ 'तज़किरये-गुलशने-हिंद' में यह लिखते हैं :—"जो शख़्स कि नज्ज़ारागाह सख़ुन में चश्मे ख़ुर्दबीन रखता है और चाशनी ख़िर्द से इम्तियाज़ ज़ायका तल्ख़ व शीरीं रखता है तो वह इस बात को जानता है और इस रम्ज़ को पहचानता है कि मीर शीरीं मुक़ाल में और रेख़्ता गोयान साबिक़ोहाल में निस्बत ख़ुरशीदोमाह है और फ़र्क़ सुपेद व सियाह है।"

सच बात यह है कि मीर व मिर्ज़ा दोनों अपने बाद के कवियों के लिए आदर्श तथा प्रेरणा के स्रोत थे। उनकी रचना का माधुर्य और आकर्षण, उनके शेरों का दर्द व प्रभाव तथा लालित्य आज तक प्रसिद्ध हैं बल्कि जब तक उर्दू भाषा बनी है, प्रसिद्ध रहेंगी।

मीर साहब की ख्याति उनकी ग़ज़लों और मसनवियों पर आश्रित है; और सौदा क़सीदा तथा हजो के गुरु (उस्ताद) माने जाते हैं। स्वयं

मीर और सौदा की तुलना

सौदा के समय में यही विचार बहुधा काव्य-प्रेमियों का था। एक प्रसिद्ध रसज्ञ ख़्वाजा बासित ने, जो सूफ़ी विचारों के अतिरिक्त काव्यालोचना में पूर्ण रीति से गति रखते थे, इस कठिन और सूक्ष्म प्रश्न पर, अर्थात् मीर और मिर्ज़ा की कविता के भेद पर, बहुत संक्षेप में निर्णय दिया है। कहा है कि "दोनों महाकवि हैं। लेकिन भेद इतना है कि मीर साहब का कलाम 'आह' है और मिर्ज़ा का कलाम 'वाह' है। इसी भेद को एक सुन्दर ढंग से अमीर मीनाई ने भी अपने एक शेर में व्यक्त किया है। वास्तविकता यह है कि दोनों बड़े कवि और अपने अपने ढंग के उस्ताद थे। हमारे अल्प मत में इन दोनों गुरुओं की रचनाशैली का भेद उनके स्वभाव के भेद पर आश्रित है। मीर साहब प्रकृति से गंभीर और शोकपूर्ण स्वभाव के थे। इनका जीवन

कष्ट और यातना तथा उदासी का नमूना था। इस पर विशेषता यह कि उन्हें आत्मसम्मान और प्रतिष्ठा का अत्यन्त ध्यान रहता था जिससे वे विवश हो गए थे कि कटुता का जीवन व्यतीत करें। इसी लिए जन्म भर कटुता के साथ व्यतीत किया। सभा, समाज और समारोह के लिए वे स्वभावतः अनुपयुक्त थे। आनंद तथा आमोद-प्रमोद का भाग दैव ने उन्हें दिया ही न था जिसके प्रत्युत सौदा अत्यन्त प्रसन्नचित्त और रसिक थे, और स्वतंत्रता उनमें भरी हुई थी। विनोदी हास्यप्रिय और प्रसन्नचित्त थे आमोद-प्रमोद की बैठकों तथा समारोहों के प्राण थे। इन अवसरों पर उनकी प्राकृतिक योग्यता प्रकट होती थी। जीवन अत्यन्त आराम और चैन से व्यतीत करते थे। अतएव इन दोनों कवियों की कविता, उनके विचारों, प्रकृति और जीवन के प्रति दृष्टिकोण का सुन्दर दर्पण कही जा सकती है। इसी प्रकार उन दोनों के अपनी अपनी कविता के लिए चुने गए शब्द भी उनकी प्रकृति के अनुकूल हैं। यह प्रकट है कि वेदना और कारुण्य के लिए शब्द बड़े कोमल, स्पष्ट और सरल और प्रयोग बड़े प्रसाद गुण युक्त होने चाहिए और यही शैली ग़ज़ल के लिए अधिक उपयुक्त है। विशेषकर छोटे छोटे वृत्तों के लिए जिसमें कि मीर साहब की कविता अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है। इसके प्रत्युत क़सीदे के लिए ओजस्वी शब्दावली, ऊँची विषययोजना, असाधारण उपमा तथा रूपकों के समन्वय की आवश्यकता पड़ती है। क़सीदा कहना एक उदास और हताश आदमी का काम नहीं है। शृंगारी विचार जैसे वेदना, वियोग आदि के दुखद विचार जिन सरल सीधे शब्दों से व्यक्त हो सकते हैं वे क़सीदा के लिए किसी प्रकार उपयुक्त नहीं हैं। मीर करुण रस के प्रभावशाली महाकवि हैं। उनके वे शेर जो "बहत्तर नश्तर" के काल्पनिक नाम से प्रसिद्ध हैं सब उन्हीं के सच्चे और अनुभूत भावनावों के प्रतिबिंब हैं और जान पड़ता है कि उन्होंने कल्पना द्वारा उनमें रंग भरने का बिल्कुल प्रयास नहीं किया है।

मीर का जीवन एक शोकपूर्ण और कष्ट का जीवन रहा और अंग्रेज़ी कवि शेली की यह पंक्तिया उन पर घटित होती हैं—"बहुत से अभागे पुरुष ग़लती से कविता के पालने में डाल दिए जाते हैं। जो कुछ कि वे वेदना सहन करके सीखते हैं उसे अपने संगीत द्वारा दूसरों को सिखाते हैं।"

इसी कारण मीर के सर्वश्रेष्ठ और सब से अधिक प्रभावशाली शेर वही हैं जिनमें करुण रस प्रकट किया गया है। सौदा की रचना में मीर जैसा करुण रस नहीं। मीर के शेर शोकाहत और वेदनापूर्ण हृदयों पर विशेष प्रभाव डालते हैं। उनकी कहानी शोक की कहानी है। वे जीवन का वह पहलू जो शोक, उच्छ्वास और वेदना से भरा हुआ है, अपनी रचना में बड़ी यथार्थता और सजीवता के साथ प्रस्तुत करते हैं। इसके प्रत्युत सौदा उसका दूसरा पहलू प्रदर्शित करते हैं, जो आशावाद और प्रसन्नता से संबंध रखता है। सौदा के शेर पढ़ने वाले के लिए आशा और आनंद की सामग्री प्रस्तुत करते हैं। उनका स्वभाव किसी बन्धन या सीमित क्षेत्र में रहना पसंद नहीं करता। वे भावनाओं की संकीर्ण दुनिया से निकल जाना चाहते हैं और अपने विचारों को प्रकट करने के लिए एक विस्तृत क्षेत्र ढूंढ़ते हैं। इसी कारण उन्होंने नई नई राहें निकाली और उनके शेर एक ऐसे गुलदस्ते का आनन्द देते हैं जो विविध रूप रंग और गंध के फूलों से बासा हुआ है। मीर का संसार अंधकार और विषाद से भरा हुआ है जिसमें कि आशा की झलक तक नहीं दिखाई देती। उनके समस्त शेर इस सिद्धांत के आश्रित जान पड़ते हैं "कि जो कोई यहाँ पग धरे आशा का त्याग कर के आवे।" मीर का हास्य बनावटी और उनका व्यंग्य कृत्रिम है। यह कहना ठीक नहीं कि मीर ने हजो और क़सीदा नहीं लिखा। वास्तव में इन दोनों दिशाओं में उनहोंने प्रयत्न किए, लेकिन चूँकि वह इन साहित्य के रूपों के लिए स्वभावतः अनुपयुक्त थे, इस

लिए असफल रहे। यह भी कहना यथार्थ नहीं जान पड़ता कि वह अपने गर्वपूर्ण स्वभाव और आत्म सम्मान के कारण इन दिशाओं की ओर से लापरवाह रहे। उन्होंने 'अजगर नामा' अवश्य लिखा लेकिन यह सौदा के 'हजों' की बराबरी में लेशमात्र भी सफल नहीं। इसी प्रकार उनके क़सीदे, जो कि नवाब आसफ़ुद्दौला की प्रशंसा में हैं सौदा के क़सीदों के सामने नहीं टिकते।

दोनों महाकवि -- मीर और सौदा -- वास्तविकता के चित्र में अद्वितीय हैं। दोनों ऐसे चित्रकार हैं जो कल्पना के चित्रों को पद्य में ऐसे कौशल और विचार के साथ चित्रित कर देते हैं कि शाब्दिक चित्र हमारे हृदय के नेत्रों के सामने खिंच जाते हैं। पर चित्रण भावनाओं का और वास्तविक दृश्यों दोनों का हो सकता है। अतएव जहाँ तक भावनाओं के चित्रण का प्रश्न है, विशेषकर करुणा, वेदना और शोक की भावनाओं का, उसके व्यक्त करने में मीर साहब अपना जोड़ नहीं रखते। लेकिन इनके अतिरिक्त अन्य भावनाओं के चित्रण के विषय में सौदा को विशेष निपुणता प्राप्त है। सौदा की यह भी विशेषता है कि जिन विषयों का वे अपनी रचना में चित्रण करना चाहते हैं उनका उन्हें अपार ज्ञान भी रहता है। मीर साहब अपनी विलक्षण प्रकृति के कारण, संकोची स्वभाव से और गर्व तथा आत्मसम्मान के विचारों से विवश थे और मानवी प्रकृति का अध्ययन उस व्यापक दृष्टि से नहीं कर सकते थे। उनका सीमित दृष्टिकोण इन्हीं परिस्थितियों का परिणाम था। वह अपने कार्य में इतने आत्मविस्मृत हो जाते और अपने में डूबे रहते थे कि सात बरस तक अपने कमरे के पाईं बाग़ को दृष्टि उठाकर न देखा। इस एकाग्रचित्तता से इतना अवश्य हुआ कि वह अपने विशेष कार्य के सीमित क्षेत्र में अपने समय में अद्वितीय रहे। हाँ, मीर की रचनाओं में वह व्यापकता और विविधता नहीं जो कि सौदा की रचनाओं का प्राण है। सौदा का चित्रण अत्यन्त रंजित तथा आकर्षक होता है,

इसके प्रत्युत मीर साहब का संसार विषाद और निराशापूर्ण है जिनके पुष्प मुरझाए हुए, जिसकी धरती कष्टों और आपत्तियों की मारी और जिसका आकाश अंधकारमय तथा उदास है। ऐसे संसार में शांति इसी प्रकार मिल सकती है कि मौन रहा जाय, या अश्रुओं अथवा कल्पना में अपने को खो दिया जाय। सौदा का संसार जीता जागता संसार है जिसमें अंधकार के स्थान में उजाला है, जिसके उद्यान हरे भरे हैं, जिसमें कि प्रभातकालीन वायु पुष्पों की कोमल पंखड़ियों के साथ निरंतर अठखेलियां करता रहता है।

उपमा और रूपक, विशेषतया प्राच्य कविता के आवश्यक अङ्ग हैं। ये एक प्रकार के आभूषण हैं, जिनको यदि कुशलता के साथ पहनाया जाय तो कविता चमक उठती है। सौदा इस कला में दक्ष हैं, जिन्होंने इनका उपयोग इस योग्यता के साथ किया है कि हृदय फड़क उठता है। नई-नई सुन्दर उपमाएँ और रूपक सौदा की रचना में अपेक्षाकृत मीर से कहीं अधिक हैं तथा सौदा विविध कला और विज्ञान की जानकारी में मीर से बढ़े हुये हैं और वे उनका बड़ी योग्यता के साथ उपयोग करते हैं।

यह बिल्कुल सच है कि कभी कभी सौदा की ग़ज़लों में क़सीदे की झलक आ जाती है। इसका न्यूनाधिक कारण उनकी प्रबल कल्पनाशक्ति है, जो उनको ऐसे शब्दों की ओर खींच ले जाती है जो ग़ज़ल के लिए उपयुक्त नहीं है। वे अपने मानसिक प्रवाह को रोक नहीं सकते थे। मीर के यहाँ ऐसी त्रुटियाँ नहीं हैं। सौदा की ऐसी ग़ज़लें नियमविरुद्ध अवश्य हैं, पर यदि उनके पद्यों पर पृथक-पृथक मनन किया जाय तो वे सौंदर्य और लालित्य से सराबोर प्रतीत होते हैं।

यह याद रखना चाहिए कि ग़ज़ल-रचना के नियमों का उलङ्घन पिछले फ़ारसी कवियों के अनुकरण में हुआ है, जो उर्दू कवियों के पथ-प्रदर्शक थे। फ़ारसी कविता के अंतिम विकास के युग में, शृंगार-रस

के अतिरिक्त और भी विषय, जैसे दर्शन, धर्म, आचार, और तसौउफ़ (वेदांत) आदि का समावेश हो गया था। प्रेम संकुचित हो कर विज्ञान की कोटि में पहुँच गया था। अतः उर्दू कविता, जो फ़ारसी की दासी थी, अपने पूर्वज के पैतृक-संस्कार से बच नहीं सकी। यह मानना पड़ेगा कि ऐसे प्रकरण हृदय को नहीं, किन्तु मस्तिष्क को प्रभावित करते हैं और कविता के ओज को खो देते हैं। क़सीदा और ग़ज़ल के महत्व में अंतर है। यह उन नौसिखिए कवियों की रचना में प्रत्यक्ष देख पड़ता है, जो सौदा और ग़ालिब जैसे कलाकारों के अनुसरण का उद्योग करते हैं।

सौदा और मीर दोनों सुरीले शब्दों के चुनाव में प्रवीण हैं। उनके पद्य सुसङ्गठित, संक्षिप्त और अनावश्यक शब्दों से छुँटे हुए हैं। सौदा ने शब्दों को क्रमबद्ध करने में अधिक ध्यान दिया है। उन्होंने उद्योग किया है कि प्रत्येक पद्य अपने भाव में परिपूर्ण हो, जो कविता का बहुत बड़ा गुण है। दोनों ने गूढ़ रूपक और सांकेतिक दृष्टांतों से बचने का प्रयत्न किया है, यद्यपि सौदा के यहाँ कहीं-कहीं इसका अपवाद भी है। दोनों की तुलना बड़ी उपयोगी और रोचक हैं, क्योंकि दोनों ने सम-कालीन होने से एक ही प्रकार की पद्य-रचना का उद्योग किया है। दोनों ने बहुधा एक छन्द और एक ही तुक में ग़ज़लें लिखी हैं, जिनसे उनकी अभिरुचि और सांसारिक दृष्टिकोण का पता लगता है।

दोनों में उस समय की त्रुटियां भी हैं। अर्थात् कभी कभी अश्लील और अशिष्ट शब्दों का उपयोग किया गया है और कभी विषय भी अश्लील हो गया है। कहीं काल और लिङ्ग भेद भी हैं, जिसको 'शुतुर-गुर्बा' (ऊँट और बिल्ली) अर्थात् अनमेल और बेजोड़ कह सकते हैं। दोनों के दीवान में अनेक फीके और नीरस शेर हैं। मीर ने कहीं कहीं ईहाम (श्लेष) का भी प्रयोग किया है। दोनों ने पुरुषों के बीच में प्रेम का प्रदर्शन किया है, जो (अस्वाभिविक और भ्रष्ट होने से) उस समय की कविता के माथे पर एक बड़ा कलंक का टीका है।

सारांश यह कि बहुमुखी दृष्टिकोण, प्रतिभा, विषय प्रतिपादन, सांसारिक ज्ञान तथा विमोद-प्रियता में सौदा का दर्जा मीर से ऊँचा है। पर शैली की सुगमता, शृंगार रस, व्यथा और वेदना, तसौउफ़ तथा भाषा की प्रौढ़ता, मीर की रचनाओं में सौदा से अधिक हैं।

सच तो यह है कि दोनो की कविता अमूल्य रत्नों का भंडार है। मीर के यहाँ केवल हीरे हैं। सौदा के यहाँ हीरे के अतिरिक्त मोती, पन्ना, लाल और नीलम इत्यादि सभी कुछ हैं। फिर इसका निर्णय बहुत कुछ समालोचना की अभिरुचि पर निर्भर है।

अन्य छोटे कवि

इस युग में और भी कवि हुए हैं, जिनकी संख्या बहुत है। ये सब साधारण कवि थे, उनकी रचना में कोई विशेषता नहीं है। अतः उनकी चर्चा यहाँ अनावश्यक है। उनका वर्णन तत्कालीन अथवा इससे पूर्व के युग के जीवनियों में मिलेगा।

अध्याय ७

दिल्ली के प्रमुख कवि—(३)

इंशा और मसहफ़ी का युग

कवियों का काल-विभाग अकारण नहीं है। यह सच है कि इस युग के अधिकांश कवि, पहले युग के कवियों के समकालीन रहे हों, परन्तु वे उस समय नवयुवक थे और इतने प्रसिद्ध नहीं हुए थे जितना पीछे हुए। इसके अतिरिक्त भाषा की प्रगति की दृष्टि से इस युग में पहले से बहुत उन्नति हुई। बहुत कुछ पुराना ढंग छोड़ दिया गया और नया रूप ग्रहण किया गया। इंशा ने इस ओर अधिक ध्यान दिया। मसहफ़ी पुराने ढर्रे पर रहे, जुरअत ने ग़ज़लों में मीर का अनुकरण किया।

काल-विभाग

इस युग ने भविष्य के लिए मानो भूमि तैयार कर दी, जब कि उर्दू कविता का दरबारों के आश्रय में आना आरम्भ हुआ, पिछले युग के कवि यद्यपि अपने संरक्षकों से आर्थिक सहायता पाया करते थे, पर उन्होंने अपनी स्वतंत्रता का परित्याग नहीं किया, न कभी अपने को दरबार का नौकर समझा। इस युग के कवियों का दरबारों में अधिक मान-दान तो हुआ, लेकिन उन्होंने अपने सम्मान को खो दिया। कविता केवल रईसों और अमीरों के प्रसन्न करने की चीज़ रह गई। उनकी रुचि के अनुसार कविगण अपनी रचना करते थे। अतः उनको पहले विदूषक या भांड कहना चाहिए और फिर कवि। कविता केवल धनोपार्जन का साधन रह गई। कवि अपने संरक्षकों के विनोदप्रिय मुसाहबों में सम्मिलित होने की प्रबल आकांक्षा करने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि उनके साथी कवियों में परस्पर कलह और स्पर्द्धा उत्पन्न हो गई। अब तक कवियों में छोटेपन

उर्दू कविता को दरबार का संरक्षण

का भाव नहीं आया था और उनकी कविता सम्बंधी प्रतिस्पर्द्धा ने सभ्यता की सीमा को उल्लंघन नहीं किया था। पर अब ऐसा नहीं रहा। इंशा, मसहफ़ी और जुरअत की प्रतिस्पर्द्धा हाथा-पाई की हद तक पहुँच गई थी जो उस युग के इतिहास के पृष्ट पर एक बुरा धब्बा है।

इसके बुरे परिणाम

उर्दू कविता के दरबारों के साथ संबद्ध हो जाने से जो पतन हुआ फिर उसकी उन्नति न हुई। मनोभाव में शुद्धता न रही, अध्यात्मिक पक्ष भुला दिया गया। प्रियतम से एक अविनाशी ब्रह्म का अभिप्राय न रहा, किंतु लौंडा या वेश्या के अर्थ में व्यवहृत होने लगा, जिनकी विलास-प्रिय नवाबों के दरबार में कमी न थी। विषय-भोग सम्बन्धी कविता की खुल्लमखुल्ला रचना होने लगी, जिससे विषयी अमीर और नवाब ख़ूब प्रसन्न होते थे। दिल्ली की यह परिपाटी न थी। संतों की कुटिया में उसका विकास हुआ था। 'शाह गुलशन' ने वली पर बहुत प्रभाव डाला। दर्द और मज़हर अध्यात्मवादी थे। उन्होंने कविता के उद्देश्य को बहुत ऊँचा किया। लखनऊ में कविता ने पवित्र आत्माओं के आश्रय का संरक्षण छोड़ दिया और दरबार का आश्रय ले लिया, कवि संत न रहे बल्कि दरबारी और मुसाहब बन गए। यह सच है कि जो लोग दिल्ली से आये थे, वे कुछ दिनों लखनऊ के भ्रष्ट वातावरण से बचे रहे, पर शनैः शनैः धन के लोभ और वाह-वाह के लिए वे भी उसी रंग में रँग गए और आने वाले कवियों पर तो दरबार का पूरा जादू चढ़ गया।

रेख़्ती

उर्दू कविता के पतन के लिए एक और नए ढंग की रचना का प्रादुर्भाव हुआ, जिसका नाम रेख़्ती है। इस पर भी दरबार का प्रभाव प्रत्यक्ष है। इसके प्रचारक नवाब सआदत यार ख़ां रंगीने थे। यह रचना स्त्रियों की भाषा में होने से इस स्वभाव वालों के लिए बहुत रोचक थी। ये बहुत ही अश्लील और नग्न शब्दों में लिखी गई थीं। इंशा ने भी इसमें भाग लिया था।

इस युग में पद्य-रचना में निस्संदेह बड़ी उन्नति हुई। निरंतर अभ्यास से कवियों ने इस कला पर बहुत अधिकार प्राप्त किया। उन्होंने शुद्धता और कोमलता को त्याग कर कला की दृष्टि से अपनी योग्यता की वृद्धि की तथा अपना कौशल दिखाने के लिए गूढ़ छंद और कठिन तुकों में एक नहीं अनेक ग़ज़लें लिखीं। उनके पद्य साहित्यिक दृष्टि से बड़े उत्तम हैं पर मर्मस्पर्शी नहीं हैं और न पाठकों के हृदय को प्रभावित करते हैं। इस युग की कविता आगे चलकर 'नासिख़' के समय की शैली बन गई।

कवियों का युद्ध बहुत दिनों तक साहित्यिक नहीं रहा। अब वे एक दूसरे की हंसी उड़ाकर रोटी के लिए लड़ने-झगड़ने लगे। तुच्छ बातों के लिए उनका झगड़ा दर्बारों तक पहुँच गया।

प्रहसनात्मक रचना गन्दी हो गई

मसहफ़ी और इंशा में संघर्ष हुआ, क्योंकि इंशा, मसहफ़ी को, जो शाहज़ादा सुलेमान शिकोह के उस्ताद थे, उस पद से हटाना चाहते थे, अतः दोनों में ख़ूब गाली गलौज हुई और एक दूसरे पर कीचड़ फेंकने लगे। उनके संरक्षक इस तमाशे को देखकर ख़ूब ख़ुश होते थे, और उनके बेहूदापन हर तालियां बजा कर उनकी द्वेषाग्नि को और प्रज्वलित करते थे। इस दरबारी संरक्षणसे उर्दू-कविता को बड़ी हानि पहुँची। बहुधा उन कवियों की लेखनी डंडा, लाठी बल्कि तलवारोंमें परिवर्तित हो गई। इंशा और मसहफ़ीका यह फक्कड़पन उर्दू साहित्य पर एक कलंक है, जो पद्य-बद्ध किया गया है, जिसको पढ़कर हँसी आती है और दुख भी होता है।

यहाँ पर कुछ ख़ुराफ़ात बकने वाले उर्दू कवियों की चर्चा की जाती है। उनके नाम हैं मीर अटल नारनौली, मीर जाफ़र

उर्दू के अन्य फक्कड़बाज़ कवि

ज़टल, जानी, चिरकीन, असफ़क़, मीर ग़ुलाम हुसैन बुरहानपुरी जो जानी के शिष्य थे।

इंशाअल्ला ख़ां, हकीम माशाअल्ला ख़ां के बेटे थे जो नज़फ़ (ईरान) के कुलीन सैयद वंश के थे। उनके पूर्वज वहाँ से आकर दिल्ली में बस गए थे। मुग़ल दरबार के अमीरों में उनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। इंशा के पिता दरबारी हकीम थे और 'मसदर' के नाम से कुछ कविता भी करते थे। दिल्ली राज्य के जर्जरित हो जाने से वह बंगाल के नवाबों की राजधानी मुर्शिदाबाद चले गए और वहाँ उनका बहुत स्वागत हुआ। इंशा का वहीं जन्म हुआ था। इन्शा की प्रारम्भिक शिक्षा उनके पिता द्वारा हुई, पर कविता में वह उनसे अधिक संशोधन नहीं कराते थे, किन्तु अपनी ईश्वर प्रदत्त प्रतिभा और योग्यता से काम लेते थे। अतः वह बहुत दिनों तक इस कला में अपने पिता के शिष्य नहीं रहे। इंशा मुर्शिदाबाद छोड़कर शाहआलम द्वितीय के समय में दिल्ली आए, जो उस समय नाममात्र के बादशाह थे। शाहआलम स्वयं कवि और कविता के गुणग्राहक थे, अतः उन्होंने धन-धान्य से इंशा का बहुत आदर किया। इंशा जल्द दरबारी हो गए और अपने चुट-पुटे चुटकुलों से बादशाह को ऐसा प्रसन्न कर लिया कि वे इनको अपने पास से कभी अलग नहीं करना चाहते थे। परन्तु दिल्ली दरबार की तबाही देखकर और इस कारण से कि उनकी योग्यता के अनुसार वहाँ उनका कोई गुण-ग्राहक न था, तथा विशेषकर सौदा के शिष्य मिर्ज़ा आज़म बेग के साथ वाद-विवाद से ऊब कर इंशा लखनऊ चले आए, जहाँ उस समय दिल्ली तथा अन्य स्थानों से निकले हुये कवियों को शरण मिला करती थी। यहाँ पहुँच कर वह मिर्ज़ा सुलेमान शिकोह के यहाँ नौकर हो गए, जो स्वयं कवि थे और अपने दरबार में कवियों का जमघट रखते थे। इन्शा अपने हँसमुख स्वभाव तथा तत्कालीन काव्य-रचना से मिर्ज़ा के बहुत ही कृपापात्र बन गए और उनके काव्य-गुरु मसहफ़ी का पद छीन लिया। फिर भी इंशा सन्तुष्ट नहीं हुए, वह इससे

इंशा-मृत १८१७ ई०

अधिक सम्मान चाहते थे। अतः उन्होंने तफ़ज़्ज़ुल हुसैन ख़ां के द्वारा नवाब सआदत अली ख़ाँ के दरबार में प्रविष्ट होना चाहा। वहाँ पहुँच कर अपने चुटकुलों से इंशा ने नवाब को इतना प्रसन्न कर लिया कि वह इनको अपने साथ से एकदम के लिए भी अलग नहीं करना चाहते थे। बार-बार इनका बुलावा हुआ करता था, परन्तु अधिक मिठाई में कीड़े पड़ जाते हैं। इंशा मुंहफट आदमी थे। कभी-कभी हँसी दिल्लगी में अपने चंचल स्वभाव से सभ्यता की सीमा से बाहर हो जाते थे, जो नवाब को अप्रिय होता था। एक बार बातों-बातों में इंशा के मुंह से एक ऐसा शब्द निकल गया, जो नवाब की कुलीनता पर कटाक्ष था। बस फिर क्या था। नवाब की क्रोधाग्नि भभक उठी और उन्होंने इनको कठोर दंड देना चाहा। हुक्म दिया कि वे अपने घर से बिना आज्ञा के कहीं बाहर न जायँ। इंशा ने इस कारावास से खिन्न हो कर एक दिन नवाब को खुल्लमखुल्ला गालियां दीं, जब कि वह उधर से कहीं जा रहे थे। अब इंशा का वेतन भी बंद हो गया और वह भूखों मरने लगे। वह व्यक्ति जो कभी अपने मालिक का घनिष्ट मित्र, उनके नाक का बाल, अपने मित्रों का हँसमुख साथी और विद्वानों का भूषण था, भूख, संताप और कष्ट के साथ अपने अपमान के दिन काटने लगा और इसी अवस्था में सन् १८१७ ई० में उनकी मृत्यु हो गई।

इंशा का भाषा पर असाधारण अधिकार था। उन्होंने उसके विकास को जो सौदा ने आरम्भ किया था, आगे बढ़ाया। वह पहले हिन्दुस्तानी थे, जिन्होंने बड़े परिश्रम और छान बीन के साथ उर्दू का व्याकरण 'दरियाय लताफ़त' के नाम से लिखा। इससे उनका साहित्यिक पद बहुत ऊँचा होता जाता है। यह सच है कि उनकी रचनाएँ समान स्तर की नहीं हैं, फिर भी अमूल्य और प्रामाणिक हैं। वह भाषा संबंधी नए-नए प्रयोग करना चाहते थे। यदि

इंशा का महत्व

वह अपने स्वभाव पर अधिकार रखते तो निस्संदेह उर्दू के बहुत बड़े उस्ताद समझे जाते।

इंशा का स्वभाव बहुत ही विनोदप्रिय था। उनके मस्तिष्क में हास्यरस का भण्डार था, जिसकी वह अपने वर्तालाप और कविता में जी खोल कर वर्षा करते थे। उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। उनका पांडित्य सजग था। उनका मस्तिष्क साहित्य सम्बन्धी रत्नों से परिपूर्ण था, जिनको जब वे चाहते थे तुरन्त उपस्थित कर देते थे और अपनी वाक्-पटुता से उसके प्रमाणिक होने का, अनेक उदाहरण और दृष्टांत से सिद्ध करना उनके बाएँ हाथ का खेल था। वे फ़ारसी, अरबी के अच्छे विद्वान थे और उनमें पद्य-रचना कर सकते थे तथा तुर्की, पश्तो, पूर्वी, पंजाबी, मारवाड़ी, मराठी, काश्मीरी और हिन्दी के भी अच्छे ज्ञाता थे और उनमें भी कविता के लिए सामर्थ्य रखते थे। सारांश यह कि वे अच्छे बहु भाषाविज्ञ थे, वे 'तज़मीन' करने में बड़े प्रवीण थे अर्थात् किसी के ग़ज़ल के पहले मिसरा (चरण) के पहले, उसी भाव का अपना तीन मिसरा जोड़कर मुख़म्मस या पंचवैती बना लेते थे। उनकी प्रतिभा बड़ी प्रखर थी। कठिन और नई-नई चीज़ों की रचना में उनको बहुत आनन्द आता था। उनका एक छोटा सा दीवान (काव्यसंग्रह) ऐसा है, जिसके अक्षरों में विन्दु नहीं हैं तथा कुछ कविताएँ ऐसी हैं, जिनके पढ़ते समय ओंठ नहीं मिलते या एक शब्द पढ़ते हुए ओंठ नहीं मिलते, दूसरा पढ़ते हुए मिलते हैं इत्यादि। उनको अपने अनुभव और आविष्कार से यदि उर्दू का अमीर-ख़ुसरो कहा जाय तो अनुचित न होगा। वे अपनी योग्यता दिखाने के लिए सदैव दुरूह छंद और तुक पसन्द करते थे, जिनको यद्यपि वे बहुत चतुराई के साथ पद्यबद्ध करते थे पर वे कानों को बुरे मालूम होते हैं, क्योंकि वे ग़ज़ल के लिए उपयुक्त नहीं हैं।

उनकी शैली और विशेषता

उनमें हास्य-रस इतना अधिक है कि सभ्यसमाज के लिए वह बोझ हो जाता है और पद्य को निरर्थक और भोंडा बना देता है। इसका कारण शायद यह हो कि उस समय के लोगों की रुचि गिर गई थी और इसी लिए रेख़्ती की रचना होने लगी जिसके प्रचारक इंशा और रंगीन थे। इंशा ने अध्यात्मवाद को बिल्कुल छोड़ दिया था। यदि किसी को इस पवित्र विषय का हँसीमज़ाक के साथ बेजोड़ मेल देखना हो तो वह उनकी मसनवी 'शीरबिरंज' देखे।

संक्षेप में उनकी विशेषताएँ ये हैं। भाषा पर अधिकार, बहुमुखी प्रतिभा हर प्रकार की कविता में अभ्यास, नई-नई रचनाओं का आविष्कार, देश की पुरानी बातों से प्रेम और हँसी-दिल्लगी। इंशा ने सौदा की तरह, यद्यपि उन से कुछ कम, इस देश के सांकेतिक दृष्टांतों से अपनी ग़ज़लों में बहुत काम लिया है। पर उनमें बड़ी त्रुटि यह थी कि वे अपनी कविता की रचना में पूर्वापर के अनुपात का ध्यान नहीं रखते थे और इसीलिए उनके निर्णय का पल्ला बराबर नहीं रहता था। उनकी रचनायें सम नहीं हैं। उनकी ग़ज़लों में कठिन छंद और अनुप्रास होने से शब्दाडम्बर तो बहुत है, पर भाव में बहुत न्यूनता है। उन्होंने क़सीदा और ग़ज़लों के नियमों की उपेक्षा की है। वे अपने विनोदी स्वभाव पर अधिकार नहीं रख सके। नवाब और उनके विषयी दरबारियों को प्रसन्न करने के लिए उन्होंने कभी-कभी अति अश्लील शब्दों का प्रयोग किया है। यह ऐब वस्तुतः उनके समय का है, जैसा कि रेस्टोरेशन-काल के अंग्रेज़ी कवियों ने उस समय का चित्र खींचा है। इंशा ने अपनी कविता नवाबों के अधीन कर दी थी। उनको उच्च-कोटि की कविता का प्रोत्साहान नहीं मिला। उनकी कविता स्वार्थ के लिए थी। उसका कोई ऊँचा उद्देश्य न था। दरबारी कवि बन कर उनको पर्याप्त दंड भी मिला। जब इनके मसख़रेपन की बातों और व्यक्तिगत आक्षेप तथा निंदा की प्रशंसा होती थी और उस पर खूब इनाम-इकराम

मिलता था, तब उच्चकोटि की कविता की क्या आवश्यकता थी? फिर वे ऐसे पवित्र-आत्मा भी न थे कि अपने समय के वातावरण से प्रभावित न होते।

फिर भी जो कुछ उन्होंने लिखा है वह सब निकम्मा नहीं है। उनमें कहीं-कहीं अच्छे रत्न भी बिखरे हुये मिलेंगे। जार्ज तृतीय की प्रशंसा में जो क़सीदा उन्होंने लिखा है वह बड़ा ही सुन्दर है। सच तो यह है उनकी कविता ने उनको नष्ट किया और नवाब-सआदतअली ख़ाँ की दरबारदारी ने तो उनको रसातल को पहुँचा दिया, जैसा कि मियां बेताब ने कहा है।

इंशा के रोचक चुटकुले आज़ाद के 'आबेहयात' में पढ़ने योग्य हैं। यहाँ उनके लिखने के लिए स्थान नहीं है।

इंशा ने बहुत कुछ लिखा है। उनके संग्रह का ब्योरा इस प्रकार है:—

१—दीवान अर्थात् उर्दू ग़ज़लों का संग्रह। उनकी ग़ज़लों से उनकी उस्तादी अवश्य टपकती है, पर उनकी शैली में समता नहीं है। चुने हुए मुहावरे, सुसङ्गठित वाक्यविन्यास और हास्यरसात्मक रचनाएँ तो अवश्य हैं, पर नियमों का बहुत ही उलङ्घन किया गया है। हाँ, उनके कुछ शेर सुन्दर और उच्चकोटि के ज़रूर हैं।

२—रेख़्ती का संग्रह, जिसमें कुछ पहेलियां और मुस्तज़ाद[1] इत्यादि हैं।

३—अल्लाह, पैगम्बर, धार्मिक नेताओं, दिल्ली के बादशाह और अन्य अमीरों की प्रशंसा में उर्दू के क़सीदे, जिनमें ओज बहुत है, पर बहुधा नियमविरुद्ध हैं और उनमें हास्यरस तथा अरबी, फ़ारसी,

---

१. मुस्तज़ाद उर्दू की एक प्रकार की कविता का नाम है, जिसमें प्रत्येक मिसरे के बाद कुछ शब्द और बढ़ा देते हैं तब वह पूरा समझा जाता है। जैसे जुरअत का यह शेर :—

भूले से जो हम नाम लें तो रुक के कहे यों इन नाम को कम लो।
फिर इसमें जो रुक जाइए तो झट से यह कहना, बस देख लो चाहत॥

(हिन्दी अनुवाद)

हिन्दी और अन्य हिन्दुस्तानी भाषाओं के शेरों की खिचड़ी है, जिनको पढ़कर हँसी आती है, क्योंकि वे क़सीदे के लिए उपयुक्त नहीं हैं।

४—फ़ारसी के क़सीदे, जिनसे कवि का भाषा पर अधिकार अवश्य मालूम होता है, पर उनमें भी वही त्रुटि है और अधिक हास्यरस ने उनके महत्व को खो दिया है।

५—फ़ारसी का दीवान, जिससे उनकी भाषा की जानकारी मालूम होती है। इसमें भी यदि वे अपने स्वभाव पर अधिकार रखते तो उनका पद बहुत ऊँचा हो जाता।

६—एक फ़ारसी मसनवी 'शीरबिरंज' के नाम से है जिसकी शैली बहाउद्दीन आमली की मसनवी 'नानो-हलवा' के ढंग की है। इसमें भी अध्यात्मवाद की हँसी उड़ाई गई है।

७—एक और फ़ारसी मसनवी जो विन्दुहीन अक्षरों में लिखी गई है।

८—मसनवी 'शिकारनामा' जिसमें नवाब सआदतअली ख़ां के शिकार का वर्णन है। इसके पद्य बड़े मधुर और रोचक हैं।

९—गरमी, बर्रे, खटमल, मक्खी और मच्छर की शिकायत और मसहफ़ी इत्यादि की निन्दा।

१०—एक मसनवी 'शिकायत ज़माना' के नाम से है।

११—कुछ उर्दू की मसनवियाँ शृंगाररस में हैं, जिसमें से एक में हाथी और हथिनी के विवाह का वर्णन है।

१२—कुछ मसनवी दुकानदारों और महाजनों की निन्दा में हैं। एक उर्दू की मसनवी 'मुर्ग़नामा' के नाम से है, जिसमें मुर्गों की लड़ाई का वर्णन किया गया है।

१३—एक अरबी की मसनवी का 'मायतुल-अमल' के नाम से फ़ारसी में अनुवाद।

१४—कुछ फुटकर पहेलियां और रुबाइयां इत्यादि।

इस नाम से इंशा ने एक कहानी गद्य में लिखी है। इसकी विशेषता यह है कि ऐसी उर्दू में लिखी गई है कि दिल्ली और लखनऊ के मुसलमानों के समझ से बाहर नहीं है, पर कहानी ठेठ हिन्दी में उसमें फ़ारसी और अरबी का एक शब्द भी नहीं आने पाया। इसी प्रकार पंडिताऊ संस्कृत के भी शब्द उसमें नहीं हैं। उसके शब्दों का क्रम और मुहावरे हिन्दी के नहीं, उर्दू के हैं।

इंशा की सब से महत्वपूर्ण पुस्तक 'दरियाय लताफ़त' है जिसको फ़ारसी में उर्दू के व्याकरण और छन्दशास्त्र इत्यादि पर, उन्होंने अपने मित्र मिर्ज़ा क़तील के सहयोग से सन् १८०२ 'दरियाय लताफ़त' में लिखा था। इसका पहला खंड, जो व्याकरण के सम्बन्ध में है, इंशा का लिखा हुआ है। दूसरा खंड छंद-शास्त्र इत्यादि का क़तील ने लिखा है। यह दूसरा भाग अधिक रोचक और महत्व का नहीं है। पुस्तक सर्वाङ्गपूर्ण और अनुपम है। इसमें इंशा ने उर्दू भाषा के महत्व को समझ कर उसके नियम बनाए हैं। उन्होंने मुहावरों, शब्दों के धातुओं और उनके उच्चारण आदि की ख़ूब छान-बीन की है तथा बेगमों की बोलचाल भी लिखी है जो शुद्ध उर्दू समझी जाती है और वह हमारे लिए बहुत ही रोचक है। उन्होंने यह भी जाँच किया है कि विविध जातियों की बोल-चाल का सार्वजनिक उर्दू भाषा पर कहाँ तक प्रभाव पड़ा है। नियम जो लिखे हैं, बहुत ही परिपूर्ण और स्पष्ट हैं। उर्दू की वर्णमाला और उनके उच्चारण पर गहरी दृष्टि डाल कर यह लिखा है कि उनकी संख्या पचासी से कम नहीं है। उन्होंने विविध भाषाओं, जैसे पूर्बी, मारवाड़ी आदि के बोल-चाल के नमूने दिए हैं और यह दिखलाया है कि उर्दू पर उनका किस तरह से प्रभाव पड़ा है। पुस्तक बड़ी रोचक है, इसलिए उसमें अप्रचलित शब्दों और दिल्ली के विविध

स्थानों के प्रचलित मुहावरों का ब्यौरा है। सारी पुस्तक हास्यरस से सराबोर है। कवि और लेखक होने के नाते इतना अधिक मसख़रापन उनकी ख्याति पर बहुत बड़ा कलंक है। फिर भी 'दरियाय लताफ़त' साहित्यिक दृष्टि से एक बहुत ही मूल्यवान् रचना है।

जुरअत -- मृत १८१० ई०

शेख़ क़लंदरबख़्श 'जुरअत', जिनका असली नाम यहिया ख़ां मान था दिल्ली के हाफ़िज़ मान के लड़के थे। लुत्फ़, नस्साख़ और आज़ाद के कथनानुसार उनके पुरखों ने अकबर के समय में 'मान' की पदवी पाई थी। उनमें से राय अमान दिल्ली में नादिरशाह के हमले में सन् १७३९ में मारे गए थे। चाँदनी चौक के पास जिस गली में वह रहते थे, वह उसी नाम से प्रसिद्ध है। जुरअत अपनी किशोरावस्था में, जैसा कि मीरहसन ने अपने तज़किरे में लिखा है, फ़ैज़ाबाद में रहे। ऐसा जान पड़ता है कि उन्होंने लड़कपन ही में अपना शहर छोड़कर पहले नवाब मुहब्बत ख़ां के यहाँ नौकरी कर ली थी, जो बरैली के नवाब हाफ़िज़ रहमत ख़ाँ के लड़के थे। सन् १८०० में वे लखनऊ आए और शाह आलम द्वितीय के पुत्र, मिर्ज़ा सुलेमां शिकोह के दरबारी हो गए। वहीं सन् १८१० में उनका देहांत हुआ। नासिख़ और नस्साख़ दोनों ने उनके मृत्युकाल की तारीख़ें पद्यबद्ध की हैं। नासिख़ की तारीख़ इस प्रकार है:—

जब मियां जुरअत का बाग़े दहर से। गुलशने फ़िरदौस को जाना हुआ॥
मिसरए तारीख़ नासिख़ ने कहा। हाय हिन्दुस्तान का शायर मुआ॥
(१२२५ हि०)

जुरअत, जाफ़र अली ख़ाँ 'हसरत' के शागिर्द थे, जो दिल्ली के फ़ारसी और रेख़्ता के कवि थे। वह ज्योतिषी और अच्छे गवैए भी थे तथा सितार ख़ूब बजाते थे। वह युवावस्था में अंधे हो गए थे। कुछ लोग कहते हैं कि चेचक से ऐसा हो गया था। लेकिन और लोग

दूसरा कारण बतलाते हैं। कुछ का यह कहना है कि वे महिलाओं के अंतःपुर में प्रविष्ट होने के लिए अंधे बन गये थे, जिनको उनके चुटकुले और कविता सुनने की बड़ी अभिलाषा थी, परदे के कारण उनको स्वतंत्रता के साथ इसका अवसर नहीं मिलता था। वे स्त्रियों में घुसकर उनको ताका करते थे। एकबार गृहस्वामी को पता लगा तो उसने सचमुच उनको अन्धा कर दिया और इस प्रकार से उन्होंने कुदृष्टि का फल पा लिया।

जुरअत बड़े विद्वान न थे। न यह अरबी जानते थे न साहित्य-सम्बन्धी विद्या और कला के ज्ञाता थे। फिर भी वे स्वाभाविक कवि थे, और उर्दू गज़लों का एक दीवान (संग्रह) और दो मसनवी छोड़ गए हैं। दीवान में गज़ल, फ़र्द, रुबाई, मुखम्मस, मुसद्दस हफ़्तबन्द, तर्जीयबन्द, वासोख़्त, तारीख़ें, निन्दा, सलाम, मर्सिये इत्यादि सभी कुछ हैं। एक फ़ालनामा (शकुन-पत्रिका) भी है। दोनों मर्सियों में सन् ११६१ और ११६२ हिजरी की तारीख़ें हैं। इनके अतिरिक्त दो मसनवियां हैं एक, मीर हसन के तज़किरे के अनुसार ११६५ हि० के पहले और दूसरी १२२५ हि० में लिखी गई थी। एक में बरसात की निन्दा है। दूसरी का नाम 'हुस्नो इश्क़' अर्थात् शृंगार और प्रेम है, जिसमें ख़्वाजा हसन और लखनऊ की 'बख़्शी' नामक एक वेश्या के अनुराग का वर्णन है। इसकी भाषा परमार्जित तथा प्रवाह और लेखनशैली मनोरंजक है।

जुरअत का पद्य-संग्रह

जुरअत ने क़सीदा तथा अन्य प्रकार की गम्भीर कविता लिखने का उद्योग नहीं किया, जैसा कि उनके समकालीन कवियों ने किया है। वे विशेषतया रंडियों के जलसे के वर्णन करने के कवि थे जहाँ प्रतिद्वन्दियों के साथ नोक-झोंक होती हो और शराबकबाब की भरमार हो। यही विषय अधिक विस्तार के साथ बहुत ही असभ्य, अश्लील हो गया है जो उस समय के विषयी

जुरअत की विशेषता, मीर से उनकी तुलना

नवाबों के लिए बहुत प्रिय था। उन्होंने मीर का अनुकरण किया है, लेकिन उनकी गहराई तक नहीं पहुँच सके। वे ऊपर-ऊपर तैरते रहे। उनकी नायिका बाज़ारी रंडियां हैं अतः उनकी ग़ज़लों में अधिकांश उन्हीं के हाव-भाव, उनके विरह की कथा, वेदना, उनके लिए प्रतिद्वंदियों में संघर्ष इत्यादि का वर्णन है। जुरअत और मीर दोनों अच्छे कवि थे, पर उनकी योग्यता में बहुत अन्तर था। मीर का विचार बहुत शुद्ध था। उनका प्रेम आध्यात्मिक था। इसके विपरीत जुरअत का प्रेम निरा सांसारिक था, यद्यपि उसकी विवेचना उन्होंने बड़ी सुन्दरता के साथ की है। मीर की कविता सभ्य समाज को प्रभावित करती है और जुरअत की साधारण लोगों को। यह भेद दोनों के स्वभाव और शिक्षा का है। मीर में गम्भीरता, आत्मसम्मान और संयम था। वे विरक्त जीवन व्यतीत करते और कविता को एक पवित्र काम समझते थे इसके विपरीत जुरअत एक हँसमुख प्रहसनशील लम्पट और आचारहीन दर्बार के कवि थे जो कविता को धनोपार्जन और अपनी उन्नति का साधन समझते थे। उनकी कविता अपने संरक्षक और उनके मुसाहबों को प्रसन्न करने के लिए थी। वे मीर और इंशा के समान योग्य और विद्वान भी न थे। फिर भी उनकी कविता में प्रवाह और मार्जन है। उनकी शैली सरल और सुन्दर है। मीर ने जुरअत की ग़ज़ल पर एक मुशायरे में जो टीका-टिप्पणी की थी वह सुनने योग्य है। उन्होंने कहा था कि "जुरअत, तुम शुद्ध कविता करना क्या जानो, चूमा-चाटी का वर्णन कर लिया करो।" इंशा की तरह दरबार के संबंध से उनका भी विनाश हुआ। फिर भी इंशा की विद्वत्ता ने उनको बचा लिया था। जुरअत ने उर्दू कविता में कोई उन्नति नहीं दिखलाई थी। जो मार्ग अगले कवियों ने निर्धारित किया था, उसी पर आँख मूंदे चले गए। कहा जाता है कि उर्दू कविता में उन्होंने प्रेम रस का बहुत संचार किया, परन्तु यह बात कहाँ तक ठीक हो सकती है जब कि उन्होंने

लोगों की बिगड़ी हुई अभिरुचि का अनुकरण किया, जिसकी प्रतिध्वनि दिल्ली के प्रसिद्ध कवि दाग़ तक पहुँची। वस्तुतः इन दोनों कवियों की शैली और विचारों के रंग-ढंग में बड़ी समानता है। जुरअत अपने पद्य-प्रवाह, सरलता और माधुर्य में प्रसिद्ध हैं और इसलिए उर्दू साहित्य के दूसरे दर्जे के कवियों में उनका पद ऊँचा है।

मसहफ़ी १७५०-१८२४

शेख़ गुलाम हमदानी उपमान 'मसहफ़ी' शेख़ वलीमुहम्मद के लड़के थे, जिनका जन्म ज़िला मुरादाबाद के अमरोहा नामक स्थान के निकट एक कुलीन वंश में, अकबरपुर में हुआ था। वे अपने युवावस्था के आरम्भ में जन्मस्थान से निकल कर दिल्ली चले गए थे और वहाँ फ़ारसी और उर्दू कविता का अध्ययन करने लगे। उनको पढ़ने का बहुत शौक़ था वे किताबें मांग-मांग कर पढ़ते थे और उनसे उद्धरण टाँक लेते थे। मीर हसन के तज़किरे के अनुसार मसहफ़ी की कविता सन् १७८१ ई० में प्रसिद्ध हुई। वह अपने घर पर मुशायरे करते थे और उनमें दिल्ली के बड़े-बड़े शायर इंशा, जुरअत और मीर हसन इत्यादि सम्मिलित होते थे। दिल्ली में बारह वर्ष रहकर मसहफ़ी, आसफ़ुद्दौला के समय में लखनऊ चले आये और सुलेमां शिकोह के यहाँ नौकर हो गए। इसके पहले वह कुछ दिनों टाँडा में नवाब महम्मद यार ख़ां के यहाँ रहे थे। 'इश्क़ी' के तज़किरे के अनुसार, जो १२१५ हि० के लगभग लिखा गया है, मसहफ़ी ने कुछ दिनों व्यापार से अपना निर्वाह किया था। आज़ाद के कथनानुसार सन् १८२४ ई० में मसहफ़ी का देहांत ८० वर्ष की अवस्था में हुआ था, जब वह अपने अंतिम दीवान का संकलन कर रहे थे। 'गुलशन बे ख़ार' के लेखक ने भी सन् १२५० हि० में लिखा है कि मसहफ़ी को मरे दस वर्ष हो गए, लेकिन हसरत मोहानी ने उनका जन्मकाल ११६४ हि० लिखा है और उनकी अवस्था ७६ वर्ष की।

मसहफ़ी की रचनायें

मसहफ़ी ने फ़ारसी और उर्दू में बहुत कविता की है। सन् १७९४ ई० के पहले उन्होंने फ़ारसी के दो दीवान समाप्त किये थे। एक तो 'नज़ीरी' नैशापुरी के जवाब में है और दूसरे में उनकी अपनी कविता है। इनके अतिरिक्त उन्होंने दो और दीवान लिखे थे—एक जलाल असीर और दूसरा नासिर अली के ढंग पर, पर वे दोनों दीवान चोरी चले गए। अब उनका एक ही फ़ारसी दीवान उपलब्ध है, जिसकी चर्चा जीवनी लिखने वालों ने की है। उन्होंने फ़ारसी कवियों की एक जीवनी और एक भाग 'शाहनामा' के नाम से शाहआलम के समय तक लिखा है।

उर्दू कवियों की जीवनी-१७९४

मसहफ़ी की ख्याति, विशेषतया उनके विशाल उर्दू काव्य-संग्रह और उर्दू शायरों के जीवनचरित से है। उन्होंने उर्दू के आठ दीवान लिखे हैं, जिनमें हज़ारों ग़ज़लें, अनेक क़सीदे, तारीख़ें और रुबाइयां इत्यादि हैं। उन्होंने उर्दू के साढ़े तीन सौ शायरों की जीवनी मोहम्मद शाह के राज्यकाल से लेकर अपने समय तक की सन् १७९४ ई० में लिखी है। यह पुस्तक बड़े काम की है। उन्होंने अपने समय के कवियों की ओर अधिक ध्यान दिया है और उनके जीवनचरित के सिवा उनकी रचनाओं के नमूने भी दिये हैं। यह पुस्तक मीर हसन के पुत्र मीर मुस्तहन ख़लीक़ की प्रेरणा से लिखी गई थी। मसहफ़ी की बहुत सी कविता का अब पता नहीं है, क्योंकि वह अपनी बहुत सी ग़ज़लें बेच दिया करते थे, जिनको ग्राहक अपने नाम से पढ़ा करते थे।

उनकी कविता की विशेषता

मसहफ़ी की बड़ी योग्यता यह थी कि वे आशु कवि थे। वे इतनी जल्दी कविता लिखते थे, मानो किसी किताब से नक़ल कर रहे हैं। अपने मुशायरों के लिए वे सैकड़ों शेर लिखते थे, जिनमें से कुछ बेच दिया करते थे। शेष देख-भाल कर वे

स्वयं पढ़ा करते थे। इस जल्दबाज़ी से कुछ उनकी कविता गिर भी जाती थी, क्योंकि वे उसकी रचना में इतना समय नहीं लगाते थे, जितना एक कलापूर्ण कविता के लिये देना चाहिये। मसहफ़ी इसलिये भी कविता में बड़े उस्ताद माने जाते हैं कि उनकी इस कला में, बहुत से शागिर्द (शिष्य) थे, जिनमें प्रसिद्ध आतिश, ज़मीर, ऐशी, शहीदी, ख़लीक़ और असीर इत्यादि हैं। पिछले युग के बहुत से अच्छे कवि सीधे या दूसरों के द्वारा उनके शिष्य थे। यहाँ तक कि नासिख़ भी मसहफ़ी के शिष्य, महम्मद ईसा 'तनहा' के द्वारा उनकी शागिर्दगी की माला में गुँधे हुए थे, जो मसहफ़ी की उस्तादी का बहुत बड़ा प्रमाण है। वह अपने छठवें दीवान की भूमिका में लिखते हैं 'इस (कवितारूपी) भोग से जो उदारता के साथ किया गया है शेख़ नासिख़ को भी एक भाग मिला है, जो इस फ़क़ीर के शिष्य महम्मद ईसा के घनिष्ट मित्र थे।" वह पद्यरचना के नियमों का बहुत ध्यान रखते थे और उनमें मीर और सौदा की तरह बेजोड़ मेल नहीं आने देते थे। नासिख़ ने इस सुधार को और आगे बढ़ाया।

लेकिन मसहफ़ी की कविता में समता नहीं है। कुछ में तो 'मीर' की तरह करुण रस है, कुछ में सौदा का ओज, कुछ में 'फ़ुग़ां' का रंग, कुछ में 'सोज़' की सरलता, कुछ में 'जुरअत' का प्रवाह और कुछ में इंशा की लेखनशैली है। फिर भी उनके अनेक शेर बड़े अमूल्य हैं और उनकी उस्तादी को प्रकट करते हैं। पर बहुत सी गज़लों में कोई विशेषता नहीं है। उन्होंने बहुत से पद्य गूढ़ छंदों और कठिन तुक और तुकांत में सौदा के अनुकरण में लिखा है, जिनमें यद्यपि बड़ी योग्यता दिखलाई है, पर ओज और कला की दृष्टि से सौदा की श्रेष्ठता को नहीं पहुँच सके। उन्होंने मीर तक़ी और मीर सोज़ की सरल शैली में भी लिखा है, लेकिन उनके समान वेदना और करुण-रस में सफलता नहीं प्राप्त कर सके। मसहफ़ी की कोई अपनी विशेष शैली नहीं है और कहीं-

कहीं शेरों के ऊँचे आदर्श को वह निबाह नहीं सके। उनके क़सीदे नियम-बद्ध तो अवश्य हैं, और उनके शब्द सुन्दर विचार और ऊँचे हैं किंतु उनमें प्रभाव और ओज नहीं है। मसहफ़ी ने कुछ मसनवियां भी लिखी हैं। एक का नाम बहरुल-मुहब्बत (प्रेम-सागर) है जो मीर तक़ी की मसनवी 'दरियाय-इश्क़' के अनुकरण में लिखी गई है। शैली और छंद भी वही हैं।

सारांश यह कि मसहफ़ी की रचना में कोई हृदय में चुभने वाली विशेषता नहीं है। वह अपने अगले उस्तादों के अनुगामी थे। हां, वे धारा-प्रवाह लेखक और आशु कवि अवश्य थे। विविध प्रकार की काव्य-रचना पर उनका असाधारण अधिकार था और उनमें देशी रंग भी जुरअत से अधिक, पर इंशा से कम है। उनकी रचनाओं में न ऊँचे विचार हैं, न कल्पना की ऊँची उड़ान है और न लेखनशैली सूक्ष्म है। कसरत के साथ रचना करने से वे इस कला में अधिक उद्योग नहीं कर सके और इसलिए उनके अनेक शेर शिथिल और त्रुटिपूर्ण हैं, कई ऐसे अप्रचलित शब्दविन्यास हैं, जिनका चलन नहीं रहा और उनके साथियों ने छोड़ दिया था, उनकी भाषा मीर और सौदा के समय की है, यद्यपि वे इंशा और जुरअत के समय में हुए हैं।

इंशा और मसहफ़ी के झगड़े बहुत प्रसिद्ध हैं। उनकी अनेक हजो (निंदात्मक रचनाएं और व्यक्तिगत आक्षेप) कभी कभी

शा और मसहफ़ी को निंदात्मक रचनाय

अशिष्ट हो गए हैं, मसहफ़ी 'पहले शहज़ादा सुलेमां शिकोह के उस्ताद थे, लेकिन इंशा ने उनका पद छीन लिया, जिससे मसहफ़ी को बहुत क्षोभ हुआ और उन्होंने इसमें अपना बहुत अपमान समझा। इस पर उनके वेतन में कमी, उनकी कविता की हँसी उड़ाना और इंशा की आत्म-प्रशंसा में पद्य रचना से, दोनों में ईर्ष्या और द्वेष की अग्नि भभक

उठी और उनमें गंदगी के साथ गाली-गलौज होने लगा। केवल दोनों के शागिर्दों ने इस आग को नहीं भड़काया, बल्कि लखनऊ की सम्मान्य जनता ने इसमें सहयोग दिया, जो इस थुका-फ़ज़ीती के तमाशे से प्रसन्न होते थे। झगड़ा बहुत बढ़ गया, यहाँ तक कि दोनों कवियों की लेखनी बढ़ा लाठी, डंडा और तलवार में परिवर्तित होने लगी। हास्य-प्रद जुलूस निकलने लगे और एक दूसरे की हजो खुल्लमखुल्ला गाई जाने लगी। शाहज़ादा सुलेमां शिकोह और नवाब सआदतअली ख़ाँ के कृपापात्र होने से इंशा का बोलबाला था। उनके संरक्षकों को झगड़ों और जुलूस में बड़ा आनन्द आता था और एक दूसरे के उपहास और व्यंगपूर्ण हजो सुनकर तालियां बजाते थे। इनका साहित्यिक मूल्य बहुत कम है।

रंगीन
१७५५-१८३४
या
१७५७-१८८५

सआदत यार ख़ां उपनाम (रंगीन) तहमास्प बेग ख़ां तूरानी के पुत्र थे। यह दिल्ली के एक प्रसिद्ध कवि हुए हैं। इनके पिता नादिरशाह के साथ आकर दिल्ली में बस गए थे और हफ़्त हज़ारी का मंसब तथा मुहकमुद्दौला की उपाधि प्राप्त की थी। रंगीन लखनऊ में मिर्ज़ा सुलेमां शिकोह की सरकार में नौकर हो गये। वह बहुत अच्छे घुड़सवार और युद्धकला में प्रवीण थे। कुछ दिनों वे निज़ाम हैदराबाद के तोपख़ाने के अफ़सर रहे, फिर वहाँ की नौकरी छोड़कर घोड़े का व्यापार करने लगे। वे इंशा के बड़े मित्र थे और बहुधा उनसे मिलने के लिये लखनऊ आया करते थे। चौदह-पंद्रह वर्ष की अवस्था से वे कविता करने लगे थे और शाह हातिम के शिष्य थे। वह मीर के भी शागिर्द होना चाहते थे, लेकिन मीर ने भिड़क कर इनकार कर दिया। हातिम के मरने के बाद उनके शिष्य महम्मद अमान निसार से अपनी कविता का संशोधन कराया करते थे। जर्मन विद्वान् ब्लूमहार्ट के अनुसार वे मसहफ़ी को

भी कविता दिखाया करते थे। उन्होंने देशाटन बहुत किया। वे बड़े घुमक्कड़ और शौक़ीन तथा अमीर और ख़ूबसूरत आदमी थे, अतः बहुधा सुन्दर रंडियों के जमघट में रहा करते थे; वह बड़े मिलनसार और हँसमुख थे। डाक्टर स्प्रेंगर, और करीमुद्दीन के अनुसार अस्सी वर्ष की अवस्था में सन् १८३५ ई० में उनकी मृत्यु हुई थी। शेफ़्ता ने अपने 'गुलशन-बेख़ार' में और गार्सां द तासी ने लिखा है कि वे इक्यासी वर्ष की अवस्था में सन् १२५० हिजरी (१८३४ ई०) में मरे थे।

(१) मसनवी दिल पिज़ीर—इसमें लग-भग दो हज़ार पद्य हैं, जिसमें बलगेरिया के शाहज़ादा माहजबीं और श्रीनगर की रानी की कहानी है। यह जुरअत, इंशा, मसहफ़ी और मिर्ज़ा क़तील इत्यादि की तारीख़ों के अनुसार सन् १७६८ ई० में लिखी गई थी।

रंगीन की रचनायें

(२) ईजादे रंगीन—इस मसनवी में कुछ कहानियां और अश्लील चुटकुले हैं।

(३) कुछ मसनवियां और थोड़े से क़सीदे। मसनवी में छोटे क़िस्से और हँसी-मज़ाक़ की बातें हैं।

(४) एक जिल्द में चार दीवान, जिनका नाम 'नौरत्न' है। इनके नाम अलग-अलग दीवान रेख़्ता, बेख़्ता, आमेख़्ता अथवा दीवान हज़ल और दीवान अंगेख़्ता हैं। यह पिछला दीवान भी रेख़्ता का है।

(५) मसनवी 'मज़हरुल अजायब' जिसका नाम 'ग़रायबुल मशहूर' भी है। इसमें भी छोटी-छोटी कहानियां हैं।

(६) 'मजलिस-रंगीन'—इसमें अपने समय के शायरों की समालोचना है।

(७) 'फ़र्सनामा'—इसमें घोड़ों की पहचान और उनकी चिकित्सा आदि का वर्णन है। पहला दीवान सन् १२५८ हिजरी में तैयार हुआ था, जैसा कि उसके एक तारीख़ से मालूम होता है। इसमें ग़ज़लें, रुबा-

इयां, दो पद्यबद्ध पत्र और एक क़सीदा ३०० शेरों का है। दूसरे में दीवान, ग़ज़लें और कुछ रुबाइयां हैं। तीसरे में हँसी-दिल्लगी की ग़ज़लें और एक क़सीदा शैतान की तारीफ़ में है। चौथे में ज़नानी भाषा में ग़ज़लें हैं तथा बदचलन स्त्रियों की बोल-चाल इत्यादि की विवेचना है।

रेख़्ती क्या है और उसका निकास क्योंकर हुआ ?

इसकी शैली रोचक अवश्य है, पर इसमें अशिष्ट और अश्लील संकेत बहुत हैं। 'नस्साख़' ने लिखा है कि इस प्रकार की रचना रंगीन ने आरंभ किया था जिसको उन्होंने स्वयं दीवान के दूसरे संस्करण में स्वीकार किया है, परन्तु इसका पता पहले के प्रसिद्ध कवियों की रचना में भी मिलता है; जैसे बीजापुर के मौलाना हाशिमी जो पुरानी दक्खिनी शैली के एक प्रसिद्ध कवि थे तथा सैयद मौलाना क़ादरी उपनाम 'ख़ाकी' जो वली के समय में थे और जिनका दीवान सन् १७३८ में तैयार हुआ था। इन कवियों ने भी ऐसी रचनाएँ की थीं। इन पर हिंदी भाषा का प्रभाव पड़ा था, जिसमें प्रायः स्त्री की ओर से प्रेम का प्रदर्शन होता है, पर उर्दू में इसके विपरीत पुरुष स्त्रियों के प्रति अपना अनुराग प्रकट करते हैं। अतः उन कवियों की रचना में अश्लीलता नहीं है। पर इंशा और रंगीन की रेख़्ती भ्रष्टाचार, छिछोरापन और व्यभिचार से भरी हुई है, जिसका अभिप्राय लोगों को हँसाने और कामोत्तेजना के सिवा और कुछ नहीं है।

उर्दू में रेख़्ती की उत्पत्ति

यह एक बात विचारणीय है कि स्त्रियों की भाषा पुरुषों से कुछ भिन्न हुआ करती है। भेद केवल मुहावरा और शब्दों में हुआ करता है। कुछ मुहावरे और शब्द स्त्रियों के अपने निजी होते हैं, जिनका उपयोग साधारणतया पुरुष नहीं करते। इस विभिन्नता का बड़ा कारण परदे की प्रथा है जिससे स्त्रियाँ पुरुषों से पृथक् रहती हैं और उनसे खुलकर मेल-जोल नहीं कर सकतीं। कट्टर

घरानों में तो यहाँ तक कड़ा परदा है कि पुरुष अपने ही घर में कुछ नातेदार स्त्रियों के सामने नहीं जा सकते। इसलिये यह स्वाभाविक था कि कुछ मुहावरे केवल स्त्रियों के लिये प्रचलित हो जाते। पुरुष, अन्य लोगों के साथ अधिक सम्बन्ध होने तथा उच्च शिक्षा पाने और ऊँची सभ्यता ग्रहण करने से विदेशी शब्दों को भी अपना लेते हैं। इसके विपरीत स्त्रियाँ अपनी अल्प शिक्षा के कारण अपने ही शब्दों का व्यवहार करके उनकी शुद्धता की रक्षा करती हैं। फिर वे अधिक पुरानी लकीर पीटने वाली होती हैं और किसी बात में परिवर्तन कम पसन्द करती हैं तथा विदेशी रंग के भद्दे और न पचनेवाले शब्दों को स्वीकार नहीं करतीं जब तक कुछ अदल-बदलकर उनके समाज के अनुकूल न बना दिया जाय। इसके अतिरिक्त स्त्रियों में लज्जा और अंधविश्वास अधिक है, इस लिये उनको संकेतसूचक ऐसे शब्द बनाने पड़ते हैं, जिनके उच्चारण में कोई भय, भ्रम या लज्जा न हो। ये बातें उन पुराने प्रथा के मुसलमान घरानों में अधिक हैं, जहाँ परदे का बहुत कड़ा रिवाज है। इसी विभिन्नता से इंशा और रंगीन ने दुष्ट स्वार्थ के लिये लाभ उठाया। इनकी रेख़्ती के दीवानों में दुराचार, व्यभिचार और अभद्रता के तमाशे ख़ूब जी खोलकर पद्यबद्ध किये गये हैं।

रेख़्ती लखनऊ के पतित समाज का दर्पण है, जब कि अमीरों के दरबार में भोग-विलास का साम्राज्य था। वेश्याओं का संपर्क लज्जित और दूषित नहीं समझा जाता था। नगर के विलास-प्रिय लोग तथा नव-युवक बिना किसी संकोच या घृणा के इस कविता को बड़े चाव के साथ सुनते थे और अमीरों को तो इसमें बड़ा ही आनन्द आता था।

इंशा ने 'दरियाय लताफ़त' में, भले घर के पुरुषों और स्त्रियों पर रेख़्ती के बुरे प्रभाव को एक जगह स्वीकार भी किया है।

इस प्रकार की कविता लखनऊ में बहुत पसन्द की गई, पर सच

पूछिए तो इसकी सर्व-प्रियता जान साहब के समय में पराकाष्ट को पहुँच गई इनका असली नाम यार अली खां था, जो मीर अम्मन के बेटे और नवाब अकबर अली खा के शिष्य थे। यह लखनऊ के रहने वाले थे, लेकिन इनके जीवन का पिछला भाग अधिकतर रामपुर मे व्यतीत हुआ। वे स्त्रियों का वस्त्र पहन कर उन्हीं के स्वर में हाथ मटका-मटका कर मुशायरे में रेख्ती पढ़ते थे, जिससे श्रोतागण खूब हँसते थे। वह सन् १८४७ ई० में दिल्ली और फिर वहाँ से भूपाल जीविकोपार्जन के लिये गए, परन्तु सफल न होने से फिर रामपुर लौट आए, जहाँ सन् १८९७ ई० में सत्तर वर्ष से कुछ ऊपर होकर मरे।

जान साहब
मृत्यु १८९७ ई०

दिल्ली के पिछले बादशाह केवल कवियों के गुणग्राहक न थे, बल्कि स्वयं अच्छे कवि थे, शाह आलम उपनाम आफताब ने एक मसनवी 'मजमूने अक़दस' के नाम से लिखी है जिसमें चीन के बादशाह मुजफ्फर शाह की कहानी है। इसके निर्माण की तारीख़ १७८३ ई० है। इनके गजलों का एक दीवान भी है। इन्होंने फ़ारसी में अपनी करुण-कहानी और पापी ग़ुलाम क़ादिर द्वारा अपने अंधे होने का वृत्तांत लिखा है; जो बहुत हृदय विदारक है। सौदा, मीर, नसीर, आज़म, ज़ार, मोमिन, अहसन, तसलीम, इंशा और फ़िराक़ तथा अन्य कविगण, कभी न कभी इनके दरबार के संरक्षण में रहे थे।

दिल्ली के बादशाह कवि
शाहआलम द्वितीय
१७३१-१८०६ ई०

यह शाह आलम के बेटे और दिल्ली-नरेश अकबर शाह (२) के भाई थे, जो पहले लखनऊ चले आये थे फिर सन् १८१५ ई० में दिल्ली लौट गए और सन् १८३८ ई० में इनकी मृत्यु हो गई। इनका एक दीवान उर्दू कविता का है। दिल्ली से भाग कर जो बड़े-बड़े शायर

मिर्जा सुलेमां शिकोह

जैसे इंशा, मसहफी और जुरअत लखनऊ गए थे, यह उनके आश्रय-दाता थे। वह दिल्ली में शाह हातिम और लखनऊ में मुहब्बत, मसहफ़ी और इंशा को अपनी कविता दिखलाते थे।

अकबर शाह द्वितीय अपने पिता (शाह आलम) के बाद तख़्त पर बैठे और १८०६ से १८३८ ई० तक उन्होंने राज्य किया। वह भी कभी-कभी शुआ (किरण) के नाम से कविता करते थे। उन्होंने अपना यह नाम अपने पिता के उपनाम से 'आफ़ताब' (सूर्य) के सम्बन्ध से रक्खा था।

अकबर शाह (२)
१८०६-१८३७ ई०

यह उक्त अकबर शाह के पुत्र थे, जो दिल्ली के अंतिम नाममात्र के बादशाह हुए थे। इन्होंने 'ज़फ़र' के नाम से बहुत अधिक कविता की है। इनका पूरा नाम मिर्ज़ा अब्दुल मुज़फ़्फ़र सिराजुद्दीन महम्मद बहादुर शाह था। सन् १७७५ ई० में पैदा हुए और १८३७ ई० में तख़्त पर बैठे थे। सन् १८५८ ई० में वह बर्मा में निर्वासित किये गये और वहीं सन् १८६२ में उनकी मृत्यु हो गई। बहादुर शाह कविता के बड़े प्रेमी थे। राज्य-प्रबन्ध का तो कुछ ऐसा काम काज था नहीं, अतः वह अपना अधिक समय बड़ी संलग्नता से पद्य रचना में व्यतीत करते थे, यह अपनी कविता ज़ौक और ग़ालिब को दिखलाया करते थे, पर बादशाह होने के पूर्व 'शाह नसीर' उनके उस्ताद थे। वह केवल उर्दू के शायर ही न थे, बल्कि हिन्दी संगीत से भी उनको प्रेम था, उन्होंने अनेक अच्छी ठुमरियां बनाई थीं, जो उत्तर भारत में बड़े चाव से गाई जाती थीं। वह सुलेखक भी थे। अपने हाथ से क़ुरान लिखकर दिल्ली की बड़ी मसजिदों में भेजा करते थे। उन्होंने शेख़ सादी की गुलिस्तां का एक भाष्य भी 'शरह गुलिस्तां' के नाम से लिखा था, जो अच्छी पुस्तक समझी जाती है।

बहादुर शाह (२) 'ज़फ़र'

विशेषतया वह अपने ग़ज़लों के बड़े संग्रह के लिये प्रसिद्ध है, जो सर्वप्रिय है; उनकी ग़ज़लें बहुधा नाच-रंग के जलसों और फ़क़ीरों के यहाँ गाई जाती हैं। ज़ौक़ और ग़ालिब के जीवनी लेखकों का कहना है कि ज़फ़र की बहुधा गज़लें उनके उस्तादों की कही हुई हैं। इसमें कुछ सचाई अवश्य है, पर निस्संदेह वह कवि थे और जब चाहते थे बड़ी योग्यता और सुगमता के साथ धाराप्रवाह कविता करते थे जिसका उनको बहुत दिनों से अभ्यास था। उनकी बहुत सी ग़ज़लों में उनकी अपनी विशेषता है।

ज़फ़र की शैली सरल है। उनके पद्य परिमार्जित, प्रवाहयुक्त और मधुर हैं। उनमें करुणरस और एक मनोहर सरलता है जिसमें उनके विषाद का असली चित्र है और इसलिये वह बहुत प्रभावशाली है, क्योंकि वह कल्पित नहीं है। ज़फ़र ने कभी-कभी गूढ़ तुकों और कठिन छंदों में भी कविता करने का प्रयास किया है। कवियों के वह बड़े आश्रयदाता थे। नसीर, ज़ौक़ और ग़ालिब आदि को उनसे आर्थिक साहायता प्राप्त हुई थी।

उस समय के छोटे कवियों में, जो अपने समकालीन बड़े कवियों के समाने छोड़ दिये गए थे, क़ायम, क़ासिम, हसरत, मिन्नत और ममनून के नाम उल्लेखनीय हैं।

शेख़ महम्मद क़ियामुद्दीन उपनाम 'क़ायम' बड़े ऊँचे दर्जे के कवि थे विशेषकर रुबाइयों और कविता के लिखने में बड़े उस्ताद थे।

क़ायम चाँदपुरी

वह चाँदपुर ज़िला बिजनौर के निवासी थे। सन् १७९५ ई० में उनकी मृत्यु हुई। वह दिल्ली में बादशाही अस्त्रागार के दरोगा थे। पहले वह अपनी कविता मीर दर्द को दिखलाते थे। उन्होंने एक बहुत ही प्रशंसनीय तज़किरा (कवियों की जीवनी) लिखा है, कहा जाता है उन्होंने डेढ़ लाख शेर लिखे हैं। दस मसनवी, सौ से ऊपर क़सीदे, बहुत सी ग़ज़लें और रुबाइयाँ लिखी हैं तथा सादी की गुलिस्तां के ढंग पर एक

किताब गद्य में 'शकरिश्तां' के नाम से लिखी है। दिल्ली छोड़ कर वह टांडा और फिर रामपुर में जाकर रहे थे।

मीर क़मरुद्दीन मिन्नत दिल्ली के रहने वाले थे। वहाँ के शाह वली उल्ला के संरक्षण में उनका पालन-पोषण हुआ। मौलाना फ़खरुद्दीन के अध्यात्मिक शिष्य थे और कविता में मीर नूरुद्दीन और शम्सुद्दीन के शागिर्द थे। मिन्नत सन् ११६१ हि० में दिल्ली से लखनऊ आये यहाँ मि० जानस्टन से उनकी भेंट हुई जो उनको कलकत्ता ले गये और लार्ड हेस्टिंग्ज़ से उनका परिचय कराया, उन्होंने उनको मलिकुश्शोअरा (कवि सम्राट) की उपाधि दी। सन् ११०० हि० में उक्त लार्ड ने उनको एक सरकारी काम से हैदराबाद भेजा। वहाँ निज़ाम की प्रशंसा में उन्होंने क़सीदा लिखा, जिस पर बहुत कुछ इनाम इकराम मिला। वहाँ से लौट कर पटना में महाराजा टिकइत राय (शिताबराय ?) के कुछ दिन मुसाहब रहे। फिर कलकत्ते लौट गये और वहीं सन् १२०६ हि० में उनकी मृत्यु हो गई। उनकी कविता के कुछ नमूने ये हैं :—

मिन्नत

'इस आने का कुछ है लुत्फ़ प्यारे,
हरदम जो कहो कि जायँगे हम।
आह अब कसरते दाग़े ग़में ख़ूबाँ से मुदाम,
सफ़हए सीना पुर अज़ जलवए ताऊसी है।
गर उस लबे जाँ बख्श की कुछ बात सुनाऊँ,
ईसा भी जो कुछ पूछे तो सलवात सुनाऊँ।

सैयद निज़ामुद्दीन सैयद क़मरुद्दीन के बेटे थे। इनके पुरखा सोनीपत के निवासी थे। पर यह दिल्ली में पैदा हुए थे और वहीं इनका पालन-पोषण हुआ था, इनको बादशाहने 'फ़ख्रुल शोआरा' की उपाधि दी थी। वह कुछ दिनों अजमेर में सदरुलसुदूर रहे। फिर दिल्ली लौट गए

ममनून

सन् १८४४ ई० के लग-भग उनकी मृत्यु हुई। बहुत बड़े शायर होने के कारण वह बहुत से शार्गिदों के उस्ताद थे। उनके दीवान से प्रकट होता है कि वह हर प्रकार की काव्यरचना में प्रवीण थे। अपने समय के कवियों में वह बहुत प्रसिद्ध थे।

मिर्ज़ा जाफ़र अली 'हसरत', मिर्ज़ा अबुल ख़ैर के बेटे थे। इनका जन्म दिल्ली में हुआ था। यह पहले दवाइयां बेचते थे। यह जन्मजात कवि थे और इस कला में इन्होंने बड़ी योग्यता प्राप्त की। सन् ११७३ हिजरी में जब शाह आलम दिल्ली के तख़्त पर बैठे तब 'हसरत' उनके कवियों में सम्मिलित हो गए। ग़ुलाम क़ादिर ने जो निर्दयता शाह आलम के साथ की थी अर्थात् उनको अंधा किया था, उनका ख़ाजाना लूटा था और उनकी बेग़मों को बेइज़्ज़त किया था, वह सब घटनायें हसरत ने अपनी आंखों देखी थीं। उन्होंने इन सब घटनाओं पर एक मरसिया लिखी है।

'हसरत' देहलवी

वह दिल्ली से फ़ैज़ाबाद चले गए, जो उस समय नवाब शुजाउद्दौला के शासनकाल में अवध की राजधानी थी। दिल्ली से भागने वालों के लिये वहीं शरण थी। उन्होंने एक कविता लिखी है, जिसमें अपनी यात्रा का कष्ट अर्थात् प्रचंड गरमी, सुस्त सवारी, रास्ते की गर्द धूल जल और भोजन के अभाव इत्यादि का वर्णन किया है। उन्होंने यहाँ पहुँच कर शुजाउद्दौला की प्रशंसा में एक क़सीदा पढ़ा जिस पर उनको थोड़ी सी पेंशन के लिये हुक्म हो गया। सन् ११८८ हिजरी में जब आसफ़ुद्दौला नवाब हुए, तब हसरत ने एक और प्रशंसनीय कसीदा लिखकर उनको सुनाया। सन् ११६५ हिजरी में जब आसफ़ुद्दौला ने लखनऊ को राजधानी बनाया तब हसरत अपने मित्र नवाब महम्दखां के आग्रह से लखनऊ चले आए और घंटा बेग की गढ़ैया पर ठहरे।

जब शाहज़ादा मिर्ज़ा सुलेमां शिकोह लखनऊ आए, तब हसरत

के प्रिय शार्गिद, जुरअत भी आकर अपने उस्ताद के पास ठहरे। अब दोनों, उस्ताद और शार्गिद; लखनऊ के मुशायरों में जाकर अपनी अपनी सुन्दर ग़ज़लें पढ़कर वाहवाही लूटने लगे। हसरत पहले मिर्ज़ा एहसान अलीख़ां बहादुर और फिर जहांदारशाह के साथियों में थे। वह पालकी पर चढ़ा करते थे जो अमीरों की सवारी थी, इस पर उनके साथियों को, जो दिल्ली से आए थे, बहुत ईर्ष्या हुई। उन्होंने इनकी हजो लिखी और इनका हँसी-मज़ाक उड़ाया। सौदा ने भी उसमें भाग लिया था। हसरत ने भी लखनऊ के एक हकीम की हजो लिखी थी।

हसरत को शाहज़ादा सुलेमां शिकोह से भी वेतन मिलता था। हसरत राय साहब सिंह परवाना के शार्गिद थे। उनके एक क़सीदे और दो ग़ज़लों के दीवान हैं। औरों में मुख़म्मस, मुसद्दस तर्जीयबंद और रुबाइयां हैं। हसरत के बहुत से शार्गिद थे, जिनमें जुरअत का नाम उल्लेखनीय है। उनकी मृत्यु सन् १२१७ हि० में हुई थी।

क़ुदरत

शाह क़ुदरत उल्ला उपनाम 'क़ुदरत' मीर शम्सुद्दीन फ़क़ीर के चचेरे भाई थे। नस्साख़ ने लिखा है कि वह मिर्ज़ा जानजानां और हसरत के शार्गिद थे। सन् १५०५ हि० में मुरशिदाबाद में मरे। मीर की राय उनके बारे में अच्छी नहीं है। लेकिन मीर हसन और मिर्ज़ा लुत्फ़ ने उनकी बहुत प्रशंसा की है।

बेदार

इनका नाम मीर महम्मद अली था जिनको लोग मीर महमदी भी कहा करते थे। यह ख़्वाजा मीरदर्द के मित्र और शागिर्द भी थे। अंत में दिल्ली से आगरा चले गए और वहीं सन् १७९४ ई० में मर गए। इनके दो दीवान हैं। इनकी कविता में सफ़ाई के साथ तसौवफ़ का रङ्ग भी अच्छा है।

हिदायतुल्ला ख़ाँ देहलवी ख़्वाजा मीरदर्द के मुरीद और शागिर्द थे। सन् १२१५ हि० में मरे। इनका भी एक दीवान है। मिर्ज़ा अली लुत्फ़ के कथनानुसार इन्होंने एक मसनवी बनारस की तारीफ़ में बहुत अच्छी लिखी है। मीर और मीर हसन दोनों ने इनकी कविता की प्रशंसा की है।

हिदायत

हकीम सनाउल्लाख़ां उपनाम 'फ़िराक़' उक्त हिदायत के भतीजे मीर-दर्द के मुरीद और कविता में शागिर्द थे। मसहफ़ी और मीरहसन दोनों ने अच्छे शब्दों में इनकी चर्चा की है।

फ़िराक़

मीर ज़ियाउद्दीन देहलवी सौदा के समय में थे। दिल्ली से फ़ैज़ाबाद और लखनऊ आए। फिर पटना गए और वहाँ महाराजा शिताबराय के बेटे राजा बहादुर के उस्ताद होगए। वहीं ज़िया का देहान्त भी हुआ। मीर हसन और मिर्ज़ा अली लुत्फ़ ने उनकी कविता की प्रशंसा की है। मीर हसन पहले उन्हीं के शागिर्द हुए थे।

ज़िया

शेख़ बक़ाउल्ला अकबराबादी हाफ़िज़ लुत्फ़उल्ला ख़ुशनवीस के बेटे थे। दिल्ली में पैदा हुए लेकिन लखनऊ में रहने लगे। फारसी में मिर्ज़ा फ़ाख़िर और उर्दू में शाह हातिम और मीरदर्द के शागिर्द थे। फ़ारसी में 'हज़ीं' और उर्दू में 'बक़ा' उपनाम था। मीर और सौदा दोनों को कुछ नहीं समझते थे। अतः उन दोनों से चोटें चला करती थीं। जब मीर ने दोआबा का मज़मून बाँधा तो बक़ा ने जल कर कहा :—

बक़ा

मीर ने गर तेरा मज़मून दोआबे का लिया।
ऐ बक़ा तू भी दुआ दे जो दुआ देनी हो॥
या ख़ुदा मीर की आँखों को दोआबा करदे।
और बीनी का यह आलम हो कि त्रिबेनी हो॥

एक अन्य अवसर पर लिखते हैं :—

पगड़ी अपनी सँभालियेगा मीर । और बस्ती नहीं ये दिल्ली है ॥

एक जगह मीर और मिर्ज़ा सौदा की शायरी का अन्तर इस प्रकार दिखाते हैं :—

मीरो मिर्ज़ा की शेरख़्वानी ने । बल्कि आलम में धूम डाली थी ॥
खोल दीवान दोनों साहब के । ऐ बक़ा हम ने जब ज़िरायत की ॥
कुछ न पाया सिवाय इसके सख़ुन । एक तू-तू कहे है, इक ही ही ॥

अर्थात् एक की कविता में रूखा फीका उपदेश है और दूसरे के यहाँ हैं केवल हँसी-दिल्लगी । बक़ा दरिद्रता से तंग आकर सितारों के वशीकरण का साधन करने लगे । इसी में उनका दिमाग़ ख़राब हो गया । अंत में विवश होकर ज़िरायत को चले, लेकिन सन् १२०६ हि० में रास्ते ही में मर गए, अपने समय के प्रसिद्ध कवियों में थे । उनका एक दीवान भी है ।

हज़ीं

असली नाम मीर महम्मद बाक़र था । मिर्ज़ा जानजानाँ के प्रतिष्ठित शार्गिदों में थे । एक जगह लिखते हैं ।—

'जिस तरह जी चाहता है हो नहीं सकती हज़ीं ।
हज़रते उस्ताद यानी शाहमज़हर की सना ॥

यह भी दरिद्रता से तंग आकर पटना गए । वहाँ नवाब सौलत जंग ने इनका बहुत आदर किया, इनका एक दीवान क़सीदा और ग़ज़लों का है ।

असली नाम ख़्वाजा अहसनुल्ला था । काश्मीरी थे । दिल्ली में पैदा हुए । मिर्ज़ा जान जानां के शार्गिद थे । अंत में हैदराबाद जाकर नवाब आसफ़जाह द्वितीय के यहाँ नौकर होगए । वहीं सन् १२१३ हि० में मरे । मीर हसन ने इनकी कविता की प्रशंसा की है ।

बयान

शेख़ ग़ुलाम अली नाम, मीर के शिष्य थे । सन् ११६२ हि० में

पटना में पैदा हुए। मीर से पहले फ़िदवी और मिर्ज़ा शाह को अपनी कविता दिखाते थे। सन् १२३१ हि० तक कलकत्ता,

रासिख़

ग़ाज़ीपुर, दिल्ली और लखनऊ में घूमते रहे। इसके बाद अपने घर पटना में चले गए। सन् १२४० हि० के लगभग मर गए। इनकी कविता की भाषा शुद्ध, शैली साफ़ और सादी है, जिसमें कुछ अलंकृत पद्य भी हैं। जब लखनऊ में थे, आसफ़द्दौला और ग़ाज़ीउद्दीन हैदर की प्रशंसा में क़सीदे लिखे थे।

अध्याय ८

लखनऊ के कवि

नासिख़ और आतिश का समय

अब कविता का केंद्र दिल्ली से उठकर लखनऊ चला आया। बात यह हुई कि दिल्ली नरेशों का भाग्य अस्त हो रहा था। वे बिना राज्य के अब नाम-मात्र के बादशाह थे और ईस्ट इंडिया कंपनी की दान-दक्षिणा पर निर्वाह करते थे। पहले नादिरशाह ने पुराने मुग़ल राज्य को धक्का पहुँचाया, फिर उसके मार-काट और लूट-खसोट के पश्चात् अहमद शाह अब्दाली और मराठों के आक्रमण हुए, अब वहाँ जानोमाल की रक्षा न थी। शाह आलम द्वितीय ग़ुलाम क़ादिर की निर्दयता का शिकार हुआ, जिसने उसको अन्धा कर दिया था। इस पर शाह आलम ने गिड़गिड़ाकर अंग्रेज़ों और सेंधिया से सहायता माँगी। उधर सरदारों में भी फूट पड़ गई और वे आपस में लड़ने-झगड़ने लगे। दिल्ली की यह दुर्दशा देखकर वहाँ के बड़े बड़े कवि मीर, सौदा, हसन, इंशा इत्यादि लखनऊ चले आए, जो उस समय समृद्धि-शाली दरबार था। यहाँ के नवाब बड़े उदारशील थे। वे दिल्ली-नरेशों के अनुकरण में न केवल स्वयं कविता करते थे, बल्कि कवियों का आदर भी करते थे। इस प्रकार से दिल्ली की हानि से लखनऊ को लाभ पहुँचा। दिल्ली से निर्वासित कवियों का लखनऊ में स्वागत हुआ, उनको जागीरें, उपाधि, वेतन और इनाम-इकराम ख़ूब जी खोलकर दिया गया। यहाँ तक कि छोटे कवियों का भी ऐसा ही सम्मान हुआ। उनके चिड़चिड़े स्वभाव और तुनुकमिजाज़ी का भी आदर होता था। उनकी कविता की गूँज आकाश तक पहुँचती थी। नवाबों और अमीरों

कविता का केन्द्र लखनऊ होगया

ने उनको अपना मुसाहब बनाया। पर, दरबार के साथ इस प्रकार से कवियों के घनिष्ट संबंध से कविता का पतन भी होने लगा, जब कि कवियों ने अपना आत्म-सम्मान छोड़ दिया और अपने मालिकों की रुचि और अरुचि का ध्यान रखने लगे। मीर और सौदा, यद्यपि दरबार से वेतन पाते थे, पर बड़े स्वतंत्र प्रकृति के थे और अपनी कविता में नवाबों को हस्तक्षेप नहीं करने देते थे। लेकिन इंशा और मसहफ़ी पर दरबार का बुरा असर पड़ा और इसीसे उनका पतन भी हुआ। इससे कविता की स्वाभाविक प्रेरणा का गला घोट दिया गया और वह केवल प्रथानुसार और टका कमाने की चीज़ रह गई।

इसमें सन्देह नहीं कि दिल्ली के कवियो ने लखनऊ में आकर उसका दीपक जलाया और लोगों में कविता की रुचि उत्पन्न की। उनके आने से पहले यहाँ कोई प्रसिद्ध कवि नहीं हुआ।

लखनऊ की कविता की शैली

दिल्ली के कवियों के आने से लखनऊ में इस कला की बड़ी उन्नति हुई। यहाँ के नवाब लोग कवियों को अपने दरबार में रखने के लिए बहुत उत्सुक थे। पहले सौदा को भी निमंत्रित किया गया था, लेकिन उन्होंने विनयपूर्वक इन्कार कर दिया। इन कवियों के आने से लखनऊ में कविता की लहर बहने लगी। मुशायरे ख़ूब धूम से होने लगे। नवाब तथा अन्य लोग कविता के दीवाने थे। वे लोग इनकी कविता पर मस्त होकर झूमते थे। जगह-जगह मासिक, पाक्षिक साप्ताहिक और फिर दैनिक मुशायरे होने लगे, जिन में कविगण पद्यरचना में ख़ूब उद्योग करते थे और एक दूसरे से आगे बढ़ने के विचार से सुन्दर कविता करते थे, जिससे उनकी रचनाओं के बड़े-बड़े पोथे तैयार हो गए। इस प्रकार से यहाँ एक नई शैली की नींव पड़ी। दिल्ली और लखनऊ की शैली में कोई विशेष भेद तो नहीं है। हाँ उनका ढंग जुदा-जुदा है। विषय-विवेचना में भी विभिन्नता है। बात यह हुई कि इन लोगों ने दिल्ली के

पुराने मार्ग को छोड़ कर नई-नई सूझ के साथ काव्यरचना आरंभ की। 'नासिख़' इसके मुख्य प्रवर्तक थे। उनके शिष्यों ने भी उनका अनुसरण किया और इस प्रकार से लखनऊ की एक नई शैली उत्पन्न होगई। पर अब वह जनता की रुचि के अनुकूल नहीं है, क्योंकि नए ढंग का प्रचार हो गया है।

दिल्ली की शैली में यह विशेषता है कि उसमें मनो-भाव का चित्र सरल और प्रवाहित पद्यों में खींचा जाता था। कल्पना और शब्दा-डंबर विचारों के अधीन था। विपरीति इसके नासिख़ और उनके अनुयायियों ने केवल शब्दों के ऊपर अधिक ध्यान दिया। उनकी रचना में शब्द-रंजन बहुत बुरी तरह से किया गया है। शब्द-विकास के लिए उच्च विचारों की हत्या की गई है। केवल वही शब्द चुने गए हैं, जिनका संबंध पद्य के विषय से हो; जैसे यदि वाटिका का विषय वर्णन करना है तो वही शब्द खींच-खाच कर जोड़े गए हैं जिसका संबंध वाटिका से है। अन्य शब्द चाहे कितने ही समुचित हों, छोड़ दिए गए हैं, इस शब्दाडंबर का अधिक ध्यान रखने से पद्य की स्वाभाविकता जाती रही और उसमें कृत्रि-मता आ गई। ऐसे शब्द ढूढे जाने लगे, जिनमें चाहे विषय की प्रतिध्वनि न हो और जो विषय के अनुसार न समुचित और न प्रभावशाली हों। विषय-विवेचना के लिए केवल शब्दों का चुनाव ही सब कुछ रह गया। इसका बुरा परिणाम यह हुआ कि कविता कुछ रुढ़ियों में बँध गई। स्वतंत्रता, करुणरस, शुद्ध भावुकता, परिमार्जन और सरलता इत्यादि की भेंट शब्दों की वेदी पर चढ़ा दी गई।

दिल्ली और लखनऊ की शैली का भेद और उनकी तुलना

अलबत्ता कविता में तल्लीनता से उच्च विचारों और कल्पना की ऊँची उड़ान की कुछ पूर्ति हो गई। पर उनमें हृदय-गत भावों का सूक्ष्म विवेचन और ललित रूपरेखा नहीं है। जो कुछ है वह व्यर्थ का शब्द है,

जो कभी-कभी तो सुचित्रित मालूम होता है, पर उसमें महत्ता बहुत कम है। फ़ारसी के प्रसिद्ध कवि 'सायब' और 'बेदिल' की रचनायें उनके सामने थीं, जिनका वे अनुकरण करना चाहते थे। 'सायब' की तरह वे दूसरे मिसरे में उपमा उपस्थित करते थे, जिसका पहले मिसरे में सिद्ध करने का उल्लेख होता था। ऐसी उपमाएँ कभी-कभी तो नवीन और चित्ताकर्षक होती थीं, पर बहुधा साधारण और रुचिहीन होती थीं। उन्होंने बेदिल के ऊँचे रूपक और अपरिमित विचारों के प्रकट करने का उद्योग किया है, तथा उनकी सूक्ष्मता की नक़ल की गई है, पर इस दौड़ में यहाँ के कवि गिर गये हैं। सौदा और ग़ालिब के समान उनकी ऊँची उड़ान नहीं है। फलतः लखनऊ के कवियों की रचना मस्तिष्क को तो कुछ प्रभावित करती है पर हृदय पर उसका कोई असर नहीं पड़ता। वे इस कला में निपुण तो हैं पर केवल कारीगर के समान हैं। उनकी कविता अंग्रेज़ी कवि पोप और उसके अनुयाइयों के समान हैं जिसमें रुढ़ पूर्ति और बनावट के सिवा और कुछ नहीं है तथा उनमें अनुकंपन भी नहीं है। उनके पढ़ने से हृदय को गरमाहट नहीं पहुँचती। वह मनोभावों में लहर नहीं पैदा करतीं और न उनमें संचारी भाव प्रकट होता है। बहुधा ऐसे पद्यों की रचना का कष्ट उठाया गया है, जिनके अंतिम परिणाम से उनकी ठीक तुलना नहीं होती। कुछ पद्य ऐसे हैं, जिनमें फ़ारसी कवियों की चतुर कारीगरी, उनके भाव के ज्ञान तथा उस पर उनके असाधारण अधिकार की भद्दी छाप है। वे नये होने से मनोहर अवश्य हैं, पर उनकी नवीनता निचले दर्जे के कारीगरों के हाथ में पड़कर हास्य-प्रद हो गई है। ऐसी भावनाविहीन और नीरस कविता के अजीर्ण से लोगों की रुचि अनीस, दबीर, ग़ालिब, 'ज़ौक़' और 'ज़फ़र' की आनंददायक और मनोरम रचनाओं की ओर फिर गई। लखनऊ की कविता उस समय की सभ्यता और जीवन का प्रतिबिंब है, जब कि उसका जन्म हुआ था, नासिख़ और उनके शागिर्दों के समय की ग़ज़लें उस समय के ज़नाना

पन की दर्पण हैं। उनके शेरों से स्त्रियों के गहने, कपड़े और बनाव-शृंगार की वस्तुओं का पूरा शब्दकोश तैयार हो सकता है। कभी-कभी स्त्रियों की भाषा और उनके बोल-चाल के ढंग का भी अनुकरण किया गया है। दिल्ली के कवियों ने ऐसा नहीं किया। वे लोग बड़ी कुशलता के साथ फ़ारसी के मधुर वाक्य-विन्यास और उनके मुहावरे तथा छोटी कहावतों को अपने पद्य में उपयोग करते थे और छोटी-छोटी ग़ज़लें लिखकर पुरानी जीर्ण कल्पनाओं से बचते थे। विपरीत इसके लखनऊ के कवि एक ही प्रकार के तुक और तुकांत में चार-चार, पाँच-पाँच ग़ज़लें लिखा करते थे। इसकी क्षमता 'मसहफ़ी' और 'जुरअत' के प्रबल अभ्यास के कारण उत्पन्न हुई थी। इस अनावश्यक विस्तार से लखनऊ की कविता बनावटी और नीरस होगई और कभी कभी कुछ शेरों में हीनता आगई।

इस युग में और इसके आगे शब्द-संचय में बहुत उद्योग किया गया। इसको नासिख़ ने आरंभ किया था, फिर उनके शागिर्दों ने लखनऊ और रामपुर में फैलाया। ये लोग 'ज़बाँ-दाँ' (भाषा विज्ञ)

शब्दाडंबर का युग कहलाते थे। रश्क, वह्र, सहर, मुनीर, तसलीम जलाल, बर्क़, वाजिद अलीशाह अख़्तर, कलक़, अमीर और उस समय के अन्य प्रसिद्ध कवियों को इसी बात का गर्व था कि वह कविता के लिये शब्दों की खोज करें। उन्होंने बहुत सावधानी से मुहावरे चुने; और ठीक तरह से उनका उपयोग किया। हिंदी शब्दों और मुहावरों के लिए भी इन्हीं लोगों का प्रमाण माना जाता था। इस प्रकार से अधिक काट-छाँट से कविता का शब्दकोश बहुत क्षीण हो गया। कुछ कर्कश शब्द और मुहावरे भी ले लिए गये, जिनको ये लोग उचित समझते थे। इस मत का यदि कोई विरोध करता था तो उनकी निन्दा की जाती थी। शब्दों और मुहावरों का अर्थ नियत कर दिया गया था।

लखनऊ की कविता की भाषा में भी कुछ भेद पड़ गया था। लखनऊ वाले कुछ शब्दों और मुहावरों का विशेष ढंग से व्यवहार करने लगे और उनका कहना है कि उन्होंने दिल्ली की प्रचलित प्रथा की उन्नति की है, तथा उनके शब्द और मुहावरे अधिक प्रचलित और परिमार्जित हैं। दोनों स्थानों के कुछ व्याकरण के नियमों में भी भेद हो गया। लखनऊ वाले कुछ शब्दों को पुल्लिंग मानते हैं, जब कि दिल्ली वाले उनको स्त्रीलिंग कहते हैं। यह सच है कि इस प्रकार की विभिन्नता की संख्या अधिक नहीं है। इस भेद-भाव को नासिख़ के शिष्य 'रश्क' ने आरम्भ किया था, जो पीछे उनके अनुयाइयों के वाद-विवाद से अब तक चला जाता है।

शेख़ इमाम बख़्श 'नासिख़'-मृत्यु १८३८ ई०

शेख़ इनाम बख़्श उपनाम 'नासिख़' लखनऊ के बहुत बड़े शायर हुए हैं, जिन्होंने एक नवीन शैली की नींव डाली जिसको हम 'लखनऊ-स्कूल' कहते हैं। उनके पिता के विषय में ठीक जानकारी नहीं है। कहा जाता है कि एक निर्वंश ख़ेमादोज़ (डेरा सीने वाले) ने उनको गोद लिया था, जिसका नाम ख़ुदाबख़्श था और वह लाहौर में एक बड़ा व्यापारी था। उसने नासिख़ को ख़ूब शिक्षा दिलाई और इनका अपने पुत्र के समान पालन-पोषण किया। ख़ुदाबख़्श के मरने के पश्चात् उसके भाइयों ने उसके दाय-भाग में झगड़ा किया और नासिख़ को उसका ग़ुलाम बतलाया तथा उनको बिष देना चाहा पर इसमें उन को सफलता नहीं हुई। मामला अदालत तक पहुँचा, जिसमें नासिख़ की जीत हो गई। उन्होंने अपने दीवान में भी कुछ पद्य लिखे हैं, जिनमें इस घटना की ओर संकेत किया गया है।

नासिख़ ने फ़ारसी हाफ़िज़ वारिस अली और फिरंगी महल के आलिमों से पढ़ी थी, जो लखनऊ में अरबी-फ़ारसी की शिक्षा का एक प्रसिद्ध विद्या-पीठ है। यह ठीक पता नहीं है कि कविता में वह किसके

शागिर्द थे। कहा जाता है कि उन्होंने पहले इसके लिए मीर को घेरा था, पर उन्होंने इनको अपना शिष्य बनाने से इन्कार कर दिया। अलबत्ता मसहफ़ी के आधार पर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि नासिख़ उन (मसहफ़ी) के शिष्य 'तनहा' को अपनी कविता दिखलाया करते थे, पर यह संबंध बहुत दिनों तक नहीं रहा। वह अपनी ही योग्यता पर अवलंबित रहे और लगातार मुशायरों में सम्मिलित होने से जो अनुभव उन्होंने प्राप्त किया था, उसी से अपनी कविता का संशोधन स्वयं का लिया करते थे। कालांतर में उन्होंने काव्य-रचना पर अच्छा अधिकार प्राप्त कर लिया और इस कला में वह बड़े उस्ताद माने जाने लगे तथा वह दूसरों की ग़ज़लों का संशोधन करने लगे और उनके बहुत से शागिर्द हो गये जो इस कला में निपुण समझे गये।

नासिख़ को व्यायाम का बहुत शौक़ था और उनका शरीर भी बहुत भव्य था। अपना विवाह नहीं किया। वह खाते भी बहुत थे। उनकी ख़ूराक पाँच सेर से कुछ ऊपर थी, लेकिन दिन में एक ही बार खाते थे। उनका रंग काला था और इसलिए उनके प्रतिद्वंदी उनको बिना पूछ कर भैंसा कहकर उनकी हँसी उड़ाते थे। उनकी दिनचर्या यह थी कि प्रातः काल उठकर कसरत करते फिर नहा-धोकर अपने शिष्यों ओर मित्रों से मिलते-मिलाते थे। दोपहर को भोजन के बाद थोड़ा सा विश्राम करते। उसके पश्चात् उठकर अपने शिष्यों और मित्रों से फिर मिलकर कविता-संबंधी बातें करते थे। रात को आराम करके अपनी ग़ज़लें लिखते थे और अपने शिष्यों की कविता का संशोधन करते थे। वह अपने रहन-सहन के ढंग में बहुत सतर्क थे और जो लोग उनसे मिलने आते थे उनसे भी वैसा ही रहने का परामर्श देते थे। उनका व्यक्तित्व बड़ा आकर्षक था। कवियों के समान तुनुक-स्वभाव के होने पर भी बहुत से लोग उन को घेरे रहते थे, जिनमें लखनऊ के बड़े-बड़े अमीर-उमरा भी होते थे। वह बड़े स्वतंत्र प्रकृति के और क्रोधी थे। उन्होंने कभी किसी के यहाँ

नौकरी की परवाह नहीं की और अपने गुणग्राहकों की बदौलत बड़े चैन से रहते थे। सन् १८३१ ई० में उनके संरक्षक आग़ा मीर ने उनको सवा लाख रुपया भेंट किया था।

नवाब ग़ाजीउद्दीन हैदर के समय में नासिख़ को लखनऊ छोड़ना पड़ा था। कारण यह था कि नवाब ने उनको अपने दरबार में लेकर मल्लिकुल शोअरा(कवि सम्राट्) की उपाधि देनी चाही थी। परन्तु नासिख़ ने यह कहकर इन्कार कर दिया कि केवल नवाब की दी हुई उपाधि लेकर मैं क्या करूँगा, जिनका गौरव न तो दिल्ली के बादशाह के बराबर है और न कंपनी बहादुर के समान उनका अधिकार है। इस अपमान-जनक उत्तर पर नवाब अप्रसन्न हो गये और नासिख़ को कहीं बाहर जाकर शरण लेनी पड़ी। वह इलाहाबाद जाकर कुछ दिनों वहाँ रहे। वहाँ से हैदराबाद के राजा चांदूलाल ने बारह हज़ार रुपया भेजकर बुलाया और आइंदा और अधिक सम्मान के लिये वादा किया, पर उन्होंने अपनी जन्मभूमि के मोह से उस रक़म को, तथा फिर पीछे पन्द्रह हज़ार रुपये की भेंट लेने से इन्कार कर दिया, ग़ाजीउद्दीन के मरने के बाद नासिख़ लखनऊ आए, लेकिन हकीम मेहदी की दुश्मनी के कारण, जो उनके संरक्षक और मित्र आग़ामीर के शत्रु थे, फिर उनको लखनऊ छोड़ना पड़ा। अब वह फ़ैज़ाबाद, इलाहाबाद, बनारस, कानपुर और पटना में घूमते फिरे। पर लखनाऊ का प्रेम उनको फिर वहाँ खींच लाया, जब कि सन् १८३२ ई० में हकीम महदी की मृत्यु होगई थी। वहीं सन् १८३८ ई० में नासिख़ की भी मृत्यु हो गई।

नासिख़ ने तीन दीवान छोड़े थे, जिनमें से दो अधिक प्रसिद्ध हैं। पहले दीवान का उन्होंने सन् १८३२ में इलाहाबाद में संकलन किया था, जिसका नाम 'दफ़्तर-परेशान' रक्खा था। इसमें ग़ज़लें, रुबाइयां और तारीख़ें हैं। दूसरा और तीसरा क्रमानुसार सन् १८३१ और १८३८

नासिख की रचनाएँ

में संग्रहीत हुआ था। उन्होंने जो तारीख़ें पद्यबद्ध की हैं, वे बड़े काम की हैं, क्योंकि उनसे अनेक उर्दू कवियों और प्रसिद्ध लोगों के मृत्यु-काल का पता लगता है। नासिख़ ने कोई क़सीदा नहीं लिखा, किन्तु उनकी जगह क़िता लिखा है। उन्होंने कभी किसी की हजो भी नहीं लिखी। उन्होंने एक मसनवी 'नज़्मे सिराज' के नाम से सन् १२५४ हिजरी में लिखी थी, जिसका रचनाकाल उसके नाम ही से निकलता है। इसको उनके मरने के पश्चात् उनके शिष्य 'रश्क' ने प्रकाशित किया है, इसमें परम्परागत कहावतों के अनुसार ब्रह्मा की सृष्टि का वर्णन है। इसकी रचना नासिख़ जैसे कवि की ख्याति के अनुसार उत्तम नहीं है। उन्होंने एक मौलूद (महम्मद साहब के जन्म का वर्णन) भी पद्यबद्ध किया है, पर इसमें भी कोई विशेषता नहीं है।

नासिख़ की प्रसिद्धि उनके ग़ज़लों और कविता की एक नई परिपाटी निकालने के कारण हुई है और यह कि उन्होंने बहुत से अच्छे-अच्छे शागिर्द छोड़े हैं। अपने समय में उनका बड़ा प्रभाव था। उर्दू और फ़ारसी भाषा पर उनका बहुत अधिकार था और कविता के वह बड़े उस्ताद थे। जब किसी मुहावरे या शब्द के प्रयोग में कोई मत-भेद होता है, तब लखनऊ के कविताक्षेत्र में उन्हीं के शेरों का प्रमाण माना जाता है।

नासिख़ की योग्यता

वह शब्द अपनी जगह पर ख़ूब चुन-चुन कर जमाते थे और ऐसे अप्रचलित शब्द जो मीर और सौदा के समय में व्यवहृत थे, उनको निकाल दिया था। मसहफ़ी पुरानी प्रथा के अनुयायी थे और पुराने शब्दों तथा उनके संगठन के इच्छुक थे। पर नासिख़ ने, शब्दों की अधिक काट-छाँट के कारण, दुर्भाग्य से ग़लती की है कि कहीं-कहीं बड़े-बड़े कठिन अरबी-फ़ारसी शब्दों का उपयोग किया है, जो

भाषा पर नासिख़ का प्रभाव

ग़ज़ल के लिये उचित नहीं हैं। यदि ऐसे शब्दों को छोड़ दिया जाता तो ग़ज़लों का सौंदर्य नष्ट न होता। अंग्रेज़ी कवि 'पोप' की तरह उनका शब्द-संगठन निर्दोष है पर उसके समान उसमें गरमाहट और प्रभाव नहीं है।

नासिख़ की ग़ज़लें ऊँचे मुहावरों और विचित्र शब्दों से रँगी हुई हैं, तथा उनमें पुराने ढग की आत्मप्रशंसा भी है, पर उनमें सच्ची भावुकता और विचारों की गहराई की कमी है।

नासिख़ की ग़ज़लें बनावट उनमें बहुत है। बहुधा उपमाएँ असंगत हैं। बहुत अधिक शब्दो के सँवार-सिंगार से अनेक पद्य अर्थहीन हो गये हैं और उनमें स्वभाविकता नहीं रही। उन गज़लों में 'सायब' की उपमाएं और 'बेदिल' के सूक्ष्म विचारोंकी झलक पाई जाती है।

नासिख़ ने कोई क़सीदा नहीं लिखा, यद्यपि इसमें वह सफल हो सकते थे, क़सीदा में किसी सच्ची वेदना और भावों के सूक्ष्म विश्लेषण की आवश्यकता नहीं है, फिर उनका शब्दसंचय और कल्पना की ऊँची उड़ान बहुत कुछ क़सीदा लिखने में सहायक होती। इसका कारण यह रहा होगा कि वह स्वतंत्र स्वभाव के आदमी थे, किसी की चापलूसी करना नहीं जानते थे, वह अध्यात्मवादी भो न थे। उनके कुछ पद्य, जिनमें कुछ इस प्रकार की झलक है, उनमें भी उन्हीं के स्वभाव का रंग देख पड़ता है। उनकी रचना में हास्य रस का भी पता नहीं है। उनकी हँसी बनावटी है। कहीं कहीं उन्होंने धार्मिक आक्षेप भी किए हैं, पर उनमें कोई आनन्द नहीं आता और ऐसी रचना उनके पद से गिरी हुई है।

उनकी ग़ज़लों में उसी शैली की त्रुटियां है, जिसकी उन्होंने नींव डाली थी। उनमें किसी उत्तम विचार का पता नहीं है। उनके पढ़ने से हृदय नहीं फड़कता, न उनमें किसी प्रकार का

उनकी ग़ज़लों की त्रुटियाँ प्रतिबिंब और सूक्ष्म अवलोकन है। सामान्यतया उनकी रचना के दोष यह हैं भावों में वास्तविकता का अभाव, फ़ारसी उपमाओं का प्रयोग

जो उर्दू में भद्दी हो गई हैं, बड़े-बड़े कठिन फ़ारसी-अरबी के शब्द, जिनके बोझ को उर्दू ग़ज़ल सहन नहीं कर सकती, पद्य के वाह्य सौंदर्य को सब कुछ समझना, साधारण और गिरे हुए विचारों को भव्य शब्दों में प्रकट करना, इत्यादि। इन्होंने फ़ारसी कविता की, केवल क्रिया बदल कर कुछ चोरी भी की है। लेकिन सौदा और मीर ने भी फ़ारसी के भंडार से बहुधा ऐसा किया है।

नासिख़ शब्द का अर्थ है किसी पुरानी चीज़ का मिटाने वाला। तदनुसार कहा जाता है कि उर्दू कविता की उन्होंने एक नई राह निकाली। पर सच तो यह है कि इस प्रकार के परिवर्तन का लोगों के दिलों में पहले से विचार था। यह अवश्य है कि उन्होंने आरंभ किया था और नासिख़ ने उसका प्रचार किया। उन दिनों

नासिख़ द्वारा शैली का परिवर्तन

मिर्ज़ा क़मरुद्दीन अहमद उपनाम 'मिर्ज़ा हाजी' एक धनाढ्य रईस थे। उनकी सरकार में मिर्ज़ा क़तील और उनके शिष्य क़ाज़ी महमम्द सादिक़ ख़ां 'अख़्तर' इत्यादि बड़े-बड़े साहित्यसेवी रहा करते थे, जिनकी प्रसिद्धि वाजिद अली शाह के समय में हुई। नासिख़ की भी वहाँ पहुँच हो गई, जहाँ भाषा की काट-छाँट और अनुसंधान की चर्चा हुआ करती थी। इससे नासिख़ को बहुत सहायता मिली। नासिख़ ने ग़ज़ल में जो परिवर्तन किये उनमें कुछ यह है। उन्होंने 'उर्दू' का शब्द लखनऊ में प्रचलित किया, जो दिल्ली में 'रेख़्ता' के नाम से कुछ दिनों तक जारी रहा। उन्होंने ऐसी ग़ज़लें लिखीं, जिनका तुक 'का', 'को', 'है', 'नहीं', 'से', 'ने', 'पर', 'तक' इत्यादि पर समाप्त होता था। उन्होंने कुछ क्रियाओं में भी हेर-फेर किया जिनको दिल्ली के पुराने कवि इस्तेमाल करते थे। यह था दिल्ली और लखनऊ की भाषा का विशेष भेद जिसका प्रचार नासिख़ द्वारा हुआ। अशिष्ट और अश्लील शब्दों को छोड़ दिया गया, जो मीर और सौदा की रचनाओं में पाए जाते हैं। अरबी और फ़ारसी

शब्दविन्यास की ओर अधिक ध्यान दिया गया और हिन्दी शब्दों को बहुधा अनावश्यक समझकर निकाल दिया गया। शब्दों के लिंग के लिये कठोर नियम बनाए गए। उर्दू ग़ज़लों का क्षेत्र विस्तृत किया गया और शब्दों का उपयोग भी नियम-बद्ध किया गया। नासिख़ के समय की शब्दों के परिवर्तन की एक बड़ी सूची 'तज़किरा जलवए ख़िज्र' में है, जिसकी नक़ल 'शेअरुल् हिंद' नामक पुस्तक में की गई है। नासिख़ ने ऐसे शब्दों को न केवल दृढ़तापूर्वक अपनी कविता में उपयोग किया, बल्कि अपने शागिर्दों को भी ऐसा करने के लिये बाध्य किया। उनके शिष्य 'रश्क' ने ऐसे परिवर्तनों की सूची तैयार कर पुस्तक के रूप में कर दी है।

नासिख़ इस नवीन शैली के एक सिद्धहस्त कलाकार थे। उनकी रचना ने पुरानी प्रथा पर विजय प्राप्त की है। उनके प्रभाव ने उर्दू साहित्य में उनका स्थान बहुत ऊँचा कर दिया है।

उर्दू साहित्य में नासिख़ का स्थान

वह बहुत दिनों तक कम से कम आधे लखनऊ के, कविता के संबन्ध में, मध्यस्थ रहे। उन्होंने शब्दों के उपयोग के नियम बनाए, जिनका उनके असंख्य शिष्यों ने जी तोड़ कर पालन किया।

नासिख़ के शिष्य

नासिख़ ने अपने पीछे जिन शागिर्दों को छोड़ा था, उनमें से प्रसिद्ध हैं:—वज़ीर, बक़, रश्क, बह्, मुनीर, नादिर, आबाद और ताहिर इत्यादि।

'बक़'—मृत्यु १८५७ ई०

फ़तेहउद्दौला, बख़्शीउलमुल्क मिर्ज़ा महम्मद रज़ा खां उपनाम 'बक़' मिर्ज़ा काज़िम अली के बेटे थे, जो अवध के अंतिम बादशाह वाजिद अलीशाह के मुसाहब और शायरी में उनके उस्ताद थे। उनका सम्बन्ध बादशाह से बहुत गहरा था और इसलिये अवध का राज्य छिन जाने पर सन् १८५७ में उनके साथ कलकत्ता गए और वहीं सन् १८५७ में उनकी मृत्यु हुई, जैसा कि उन्होंने स्वयं कहा था:—

बर्क़ जो कहते थे आख़िर वही कर कर उट्ठे ।
जान दी आप के दरवाज़े पे मर कर उट्ठे ॥

बर्क़ सिपाहियाना स्वभाव के आदमी थे और शस्त्र चलाना ख़ूब जानते थे। लखनऊ में अपने उच्च पदाधिकारी, कुलीनता, उदारता तथा दानशीलता के कारण उनका बड़ा प्रभाव था। उपमा के उपयोग में उन्होंने अपने उस्ताद नासिख़ का अनुकरण किया था। उनके शेरों में भी लखनऊ की प्रथा के अनुसार कृत्रिमता और रूढ़िवाद का दोष अवश्य है, पर इसमें संदेह नहीं कि भाषा पर उनका अधिकार था और काव्य-कला में वह निपुण थे। उन्होंने बहुत कविता की है और हर प्रकार की रचना के लिए उद्योग किया है। लखनऊ से निर्वासन पर जो उन्होंने कविता लिखी है, यद्यपि वह पुराने ढंग की है, पर बहुत ही मर्म-स्पर्शी है। 'जलाल' और 'सहर' इनके दो प्रसिद्ध शार्गिद हुए हैं।

इनका असली नाम शेख़ इम्दाद अली था। 'बह्र' कविता का उपनाम था। यह शेख़ इमाम बख़्श के बेटे थे, जो इनके उस्ताद इमाम नासिख़ से भिन्न थे। इनकी आर्थिक दशा

(बह्र १८१०-१८८२ ई०) अच्छी न थी। इनके जीवन के अंतिम भाग में रामपुर के नवाब क़ल्बे अली खां ने इनकी सहायता की थी। वहीं ७५ वर्ष की अवस्था में इनकी मृत्यु हुई। इनके दीवान का संकलन, आतिश के शिष्य, नवाब सैयद महम्मद खां 'रिंद' ने किया है। इनके पद्य उपमा और रूपक से भरे हुए हैं, पर उनके लिये अधिक परिश्रम करके बड़े-बड़े शब्दों का उपयोग नहीं किया गया, जैसा कि नासिख़ और उनके शार्गिदों ने किया है। उन्होंने शब्दों के चुनाव में अधिक ध्यान दिया है और इसमें वह बड़े निपुण थे। नासिख़ और रश्क के पश्चात् शब्दसंचय में उनका प्रमाण माना जाता था और इसके तथा कवित्व-शक्ति के लिये उनको इनाम-इकराम मिला था।

मिर्ज़ा महदीहसन ख़ां उपनाम 'आबाद', मिर्ज़ा गुलाम जाफ़र ख़ां

के बेटे थे जिनका जन्म लखनऊ में सन् १२२८ हि० में हुआ। वह लखनऊ के अमीरों में थे, जिनका सम्बन्ध फ़र्रुखाबाद के नवाबों से था। उनको कविता से प्रेम था और अपने घर पर बराबर मुशायरे किया करते थे तथा अन्य जगह ऐसे जलसों में शरीक हुआ करते थे। उन्होंने बहुत कविता लिखी है। वह दो दीवान एक मसनवी और तीन वासोख़्त छोड़ गए हैं। उनका एक दीवान 'निगारिस्ताने इश्क़' के नाम से सन् १८४५ ई० लखनऊ में छपा था। उनका नाम 'बहारिस्तान-सख़ुन' नामक काव्य-संग्रह से अधिक प्रसिद्ध है, जिसमें उनकी और नासिख़ तथा आतिश की एक छंद ओर अनुप्रास की ग़ज़लें इकत्रित्त की गई हैं, जिससे उनकी काव्य-तुलना का अच्छा अवसर मिलता है। इनके शेरों में कोई विशेषता नहीं है, सिवा इसके कि वह नासिख़ के, एक तत्पर और कुशल शिष्य थे। हाँ, उनकी कविता में कभी-कभी चमकते हुए शेर निकल आए हैं।

'आबाद'—जन्मकाल १८१३ ई०

ख़्वाजा महम्मद वज़ीर उपनाम 'वज़ीर,' ख़्वाजा महम्मद फ़क़ीर के बेटे थे। पिता की ओर से वह प्रसिद्ध संत ख़्वाजा बहाउद्दीन नक्शबंद के वंशज थे। इस प्रकार से कुलीनता तथा साधु आचरण के कारण लखनऊ में उनका बड़ा मान था। अंत में उन्होंने सांसारिक जीवन से विश्राम ले लिया था और प्रसिद्ध था कि वह गुप्त विद्याओं के जानकार हैं। वह बड़े स्वतंत्र स्वभाव के थे। अतः दो बार वाजिद अलीशाह के निमंत्रण को अस्वीकार कर दिया था। सन् १८५४ में उनकी मृत्यु हो गई। उनके मरने के पश्चात् उनके मित्रों और शिष्यों ने उनके ग़ज़लों को एकत्रित करके 'दफ़्तर फ़साहत' नाम रक्खा। इस नाम से उनके संकलन की तिथि १२६१ फ़सली निकलती है जो १२७१ हि० या १८५४ ई० है। उनके अनेक शिष्य थे जिनमें प्रसिद्ध फ़क़ीर महम्मद 'गोया' थे, इनका

'वज़ीर' १८५४ ई०

भी एक दीवान है। वज़ीर की कविता उनके उस्ताद नासिख़ के रंग की है। यह उनके सबसे अधिक प्रसिद्ध और प्रिय शिष्य थे, उन्होंने कठिन छंदों और गूढ़ अनुप्रास में कविता करने का प्रयत्न किया है। और अपनी शैली के अनुसार काव्य-रचना में उनका बड़ा नाम था। उस समय कोई उनकी बराबरी नहीं कर सका। सारांश यह कि वह अपने समय के बहुत बड़े कवि थे।

मीर अली औसत, मीर सुलेमान के बेटे फ़ैज़ाबाद के निवासी थे। लखनऊ में आकर कविता में 'रश्क' के नाम से प्रसिद्ध हुए। यह नासिख़ के शागिर्दों में से थे। इनका नाम विशेषतया 'रश्क'(१७६-१८६७ ई.) इसलिये प्रसिद्ध है कि इन्होंने उर्दू शब्दों का एक बड़ा कोष फ़ारसी भाषा में 'नफ़ायसुल् लुग़त' के नाम से लिखा है। इस नाम से उसका निर्माण-काल १८५६ ई० (१८४० ई०) निकलता है। उनके जीवन ही में इसकी प्रसिद्धि हो गई थी। अब इसका एक भाग प्रकाशित हो गया है। इनके दो दीवान भी हैं। एक का नाम 'नज़्मे मुबारिक' (१८५३ हि०-१२३७ ई०) और दूसरा 'नज़्मे-गिरामी' (१२६१ हि०-१८४५ ई०) है। इन्होंने नासिख़ का अनुकरण किया है और बहुत कुछ लिखा है। उस समय की शैली के अनुसार इनकी रचना में अश्लीलता और स्त्रियों के बनाव-सिंगार की बातें भरी हुई हैं। यह काल-सूचक पद्यरचना में बड़े प्रवीण थे। इनके भी बहुत से शिष्य थे, जिनमें से एक मुनीर थे जो पहले नासिख़ से अपनी कविता का संशोधन कराते थे। फिर उनके मरने के पश्चात् इनके शिष्य हो गए। 'रश्क' बुढ़ापे में करबला में जाकर रहने लगे और वहीं ७० वर्ष की अवस्था में सन् १२८४ हि० में उनकी मृत्यु हो गई। वह कानपुर और इलाहाबाद में भी कुछ दिनों रहे थे उन्होंने शुद्ध शब्दों के उपयोग पर बहुत ध्यान दिया है और इस मामले में नासिख़ के समय भी उनका प्रमाण माना जाता था। शब्दों और उनके निषेध

अर्थों के लिये, उनके पद्य उद्धृत किये जाते हैं। इनकी रचना मामूली है।

मिर्ज़ा हातिम अली बेग उपनाम मेह्र (सूर्य) का जन्म १२३० हि० में एक प्रसिद्ध इस्पहान वंश में हुआ था। उनके पिता मिर्ज़ा फ़ैज़ अली बेग क़ज़शबाश ईस्ट इंडिया कम्पनी के समय

मेह्र(१८१४-१८७९ई०)

में अलीगढ़ में तहसीलदार थे, उनके पितामह मिर्ज़ा मुराद अली ख़ां नवाब शुजाउद्दौला के समय लखनऊ आए और उनको 'रुकुनुद्दौला' की उपाधि मिली। उनको बड़े-बड़े ओहदे मिले और वह रायबरेली के नाज़िम (शासक) थे। उनके पितामह हिन्दुस्तान में अस्त्रागार के कमांडर होकर आए थे। मेह्र जब केवल चार वर्ष के थे तब उनके पिता का देहान्त होगया था। वह चौदह वर्ष की अवस्था से शायरी करने लगे थे। यह नासिख़ के शागिर्द हो गये और उनके भाई मिर्ज़ा इनायत अली बेग उपनाम 'माह' (चन्द्रमा) आतिश के शिष्य हुए। लगातार अभ्यास से मेह्र की कविता प्रौढ़ हो गई। वह सरकारी परीक्षा पास करके चुनार के मुंसिफ़ होगये। वह हाईकोर्ट के वकील भी थे और १८५७ ई० के बलवे में कुछ अंग्रेज़ों को शरण देने की खैरख़्वाही में उनको ख़लअत और दो गाँव की जागीर मिली थी; फिर वह आगरे चले गए और वहाँ की कचहरी में वकालत करने लगे। वह सन् १८७९ में एटा में मरे, जहाँ उनके लड़के रुख़ावत अली तहसीलदार थे।

मिर्ज़ा मेह्र शिया थे, लेकिन उनमें धार्मिक पक्षपात न था। उनके मित्रों में ग़ालिब, मौलवी ग़ुलाम इमाम शहीद, सबा, मुनीर, दबीर और अनीस इत्यादि थे। ग़ालिब ने उनको कई पत्र लिखे थे, जो 'उर्दूए मुअल्ला' में प्रकाशित हो गये हैं। बनारस के महाराज बलवंत सिंह, जब वह आगरे में ठहरे थे, इनके शिष्य होगये थे और पचास रुपया महीना वेतन दया करते थे।

उनकी बहुत सी कविताएं ग़दर में नष्ट होगईं, उनके प्रकाशित और अप्रकाशित रचनाओं की सूची यह है :—

१—अल्मासे-दरख़शाँ (चमकते हीरे) यह उनके उर्दू दीवान का नाम है। इसका तारीख़ी नाम 'ख़यालाते मेह्र' है, जिसको उनके पोते मिर्ज़ा क़ासिम हुसैन क़ज़लबाश ने प्रकाशित किया है।

२—'दरियाय अरूज़'—एक छोटी सी पुस्तक छंदशास्त्र की।

३—'अयाग़े फ़रिंगस्तान'—अंग्रेज़ों के प्रारंभिक राज्यकाल का इतिहास, जो सन् १८७३ ई० में प्रकाशित हुआ था।

४—'दाग़े निगार'—एक मसनवी जो एक ही दिन में लिखी गई थी।

५—'दाग़े-दिल मेह्र' यह एक वासोख़्त है।

६—'शुअराए मेह्र'। यह मसनवी सन् १८५८ ई० में प्रकाशित हुई थी। ग़ालिब ने अपनी चिट्ठियों में इसकी बहुत प्रशंसा की है। इसके अतिरिक्त उनकी रचनायें 'शवोहे इशरत,' 'जब्त-इतिकाम,' 'हम-दम आख़िरत', 'बयाने बख़्शयश,' 'ईद-कैसरिया,' 'पंजये मेह्र', 'तौक़ीरे शरफ़,' के नाम से हैं तथा कुछ और स्फुट कविताएँ हैं। उन्होंने बहुत कुछ लिखा है और विविध विषय पर कविता करते थे, विशेष कर तारीख़ी (काल सूचक) रचनाओं में बड़े प्रवीण थे। दूसरे श्रेणी के शायरों में उनका पद बहुत ऊँचा है। उनकी कविता में प्रवाह और माधुर्य है। उनमें से कुछ तो बहुत ही सुन्दर, स्वाभाविक और मार्जित हैं।

सैयद इस्माइल हुसैन उपनाम 'मुनीर', सैयद अहमद हसन के बेटे थे, जिनका उपनाम शाद था। यह शिकोहाबाद, ज़िला मैनपुरी के रहने वाले थे, पर वह बहुत दिनों तक लखनऊ में रहे और वहीं उनका पलान-पोषण और शिक्षण हुआ। अपने उर्दू दीवान 'मुतख़बाते आलम' में उन्होंने फ़ारसी में भूमिका लिखी है। उससे उन

'मुनीर'—
१८१६-१८८१ ई०

की जीवनी पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है। पहले वह पत्रव्यवहार द्वारा नासिख़ से अपनी कविता शुद्ध कराते थे। फिर कानपुर में जब नवाब निज़ामुद्दौला के यहाँ नौकर थे, तब स्वयं नासिख़ से मिलकर उनके शिष्य हो गये। तदनंतर नासिख़ की आज्ञानुसार वह 'रश्क' के शागिर्द हो गये। उन्होंने अपने इन दोनों गुरुओं की बहुत प्रशंसा की है और बड़े आदर के साथ उनकी चर्चा की है। उन्होंने बहुत यात्रा भी की थी। कुछ दिनों कलकत्ता, मुर्शिदाबाद और इलाहाबाद में रहे। पर लखनऊ के प्रेम ने उनको विवश किया कि वहाँ जाकर स्थायीरूप से रहें और नगर के कवितासंबंधी जलसों में भाग लें। उनकी रचनाओं में कई जगह इसकी चर्चा आई है। वह लखनऊ साल में कम से कम एक बार ज़रूर जाते थे। लखनऊ में उन्होंने ज़फ़रुद्दौला नवाब अली असग़र के यहाँ नौकरी कर ली थी, पर कुछ दिनों के बाद वह फिर कानपुर बुलाये गये। वहाँ बहुत दिनों तक नहीं ठहरे। फिर लखनऊ गये और वहाँ नवाब सैयद महम्मद जाकी खाँ उपनाम 'ज़की' की कविता का संशोधन करते थे। दो वर्ष तक वहाँ रहे, फिर फ़रुख़ाबाद के नवाब तजम्मुल हुसेन खाँ ने उनको बुलाया, जहाँ वह उनके जीवनकाल तक रहे। इसके पश्चात् धौलपुर और अलवर के राजाओं ने उनको बुलाया, पर उन्होंने बाँदे के नवाब अली बहादुर के यहाँ नौकरी करली। ग़दर के पश्चात एक वेश्या नवाबजान की हत्या के मामले में फँस गये और उनको कालेपानी की सज़ा हो गई, पर १८६० में वह छूट गये। फिर कुछ दिनों तक घूमने-फिरने के पश्चात रामपुर में नवाब कल्ब अली ख़ाँ के दरबार में उनको शरण मिली और वहीं सन् १८८१ ई० में उनकी मृत्यु हो गई।

उनके तीन दीवान 'मुतख़बात आलम', 'तबीरुल-अशआर', और 'नज़्मे' मुनीर नाम से हैं। इनके अतिरिक्त एक मसनवी 'मेराजुल मज़ामीन' के नाम से है। इसमें शियों के इमामों के चमत्कारों का वर्णन

है। इन्होंने बहुत कविता की है। मरसिये भी लिखते थे जिनका दबीर से संशोधन कराते थे। क़सीदा लिखने में यह बड़े प्रसिद्ध थे। इन्होंने क़िता, रुबाई, मुख़म्मस, उर्दू और फ़ारसी में ग़ज़लें लिखी हैं, जिनमें नासिख़ और रश्क' की शैली का अनुकरण किया है कहीं-कहीं उनके भावों और कल्पना की उड़ान बहुत ऊंची और वस्तुतः मार्जित है।

आतिश,—मृत्यु-काल १८४६ ई०

ख़्वाजा हैदर अली उपनाम 'आतिश' ख़्वाजा अलीबख़्श के लड़के थे, जो दिल्ली के एक प्रतिष्ठित घराने के थे। आतिश के पिता नवाब शुजाउद्दौला के समय में दिल्ली से फ़ैज़ाबाद आकर मुहल्ला मुग़लपुरा में बस गये। वहीं आतिश का जन्म हुआ। आतिश के बचपन ही में उनके पिता का देहान्त हो गया, इसलिए उनकी शिक्षा ठीक से न हो सकी और उनमें बाँकपन आगया। उन्होंने नवाब महम्मद तक़ी की नौकरी कर ली और उन्हीं के साथ लखनऊ चले आए। यहाँ उन दिनों इंशा और मसहफ़ी में शायरी में ज़ोरों के साथ मुक़ाबला हो रहा था। यह देखकर आतिश को भी उसकी ओर रुचि हुई। यों तो बचपन ही से उनका झुकाव कविता की ओर था, परन्तु लखनऊ में उक्त दोनों कवियों की रगड़-झगड़ देखकर यह रुचि विकसित हो गई। अतः इस कला में पहले वह मसहफ़ी के शागिर्द हो गए। वह नासिख़ और इंशा की तरह विद्वान न थे। बचपन में मामूली किताबें और अरी का थोड़ा छंद शास्त्र पढ़ा था। इसके आगे उन्होंने अधिक पढ़ने की परवाह न की।

रहन-सहन में वह नासिख़ से बिलकुल भिन्न थे। वह बहुत सादा जीवन व्यतीत करते थे, जिसमें दिखावा और बनावट बिल्कुल न थी। वह सौन्दर्य के प्रेमी और भ्रमणशील आदमी थे। सिपाहियाना वेश रखते थे और तलवार बाँधते थे, यहाँ तक कि मुशायरों में भी उसको

लेकर जाते थे। उन्होंने किसी धनाढ्य के संरक्षण की परवाह नहीं की और संतोष के साथ अपना निर्वाह किया। रुपये-पैसे के लिये उन्होंने किसी अमीर आदमी की ख़ुशामद नहीं की; हां उनके शिष्य कभी-कभी उनके साथ सुलूक कर देते थे। उनको अवध के बादशाह से अस्सी रुपया महीना मिलता था। वह एक टूटे-फूटे घर में ग़रीबी के साथ फकीर की तरह रहते थे। वह अमीरों से अकड़ कर रहते थे, लेकिन ग़रीबों से बहुत नम्रता के साथ मेल-जोल रखते थे। पीछे मसहफ़ी से उन से झगड़ा होगया। तब अपनी कविता का वह स्वयं संशोधन करने लगे।

यह नासिख़ के समकालीन थे। लखनऊ में एक तो नासिख़ और दूसरे आतिश के अनुयाइयों का दल का इस आपस के मुक़ाबले से यह लाभ हुआ कि दोनों उस्ताद ख़ूब ज़ोर लगाकर कविता करते थे। इंशा इत्यादि की तरह उनके पद्यों में एक दूसरे के विरुद्ध अश्लीलता और गाली-गलौज नहीं होती थी। आतिश फिर भी नासिख़ का बहुत आदर करते थे। उनके मरने पर इन्होंने कविता करना बन्द कर दिया था, क्योंकि फिर इनकी रचना का कोई गुण-ग्राहक न था।

आतिश बहुत से शार्गिदों को छोड़ कर सन् १८२३ ई० में मरे, जिनमें कई एक उस्ताद हो गए।

आतिश का शाब्दिक अर्थ 'अग्नि' है। ऐसे ही उनके पद्य भी गर्मा-गर्म होते थे। उनमें बनावट और मामूली तथा गिरे हुए बिचार नहीं हैं, जिनको शब्दाडंबर से छिपाया गया हो। उनके बहुत से शेरों में संगीत की ध्वनि है और वे बड़े प्रभावशाली हैं। उनकी रचना उर्दू मुहावरों के लिये आदर्श स्वरूप है। वह बड़ी सरल, प्रवाहित, मार्जित और हृदयस्पर्शी हैं। उन्होंने अपनी कविता को रूपक और अलंकार के बोझ से लादा नहीं। सुन्दर चुने हुए शब्द मोतियों की तरह गूंथे गए हैं। यह सच है कि उनके पद्यों में प्रखर व्यंजना, चलती-फिरती लक्षणा, विस्फोटक प्रतिध्वनि तथा उच्चकोटि की कविता का सुहावना प्रकाश

नहीं है। फिर भी कहीं कहीं ऐसे पद्य हैं जो किसी भाषा की उत्तम कविता से टक्कर लेते हैं। उर्दू ग़ज़ल-लेखकों में मीर और ग़ालिब के पश्चात् उनका पद ऊँचा है।

उनकी बड़ी योग्यता यह है कि विविध मनोभावों को उन्होंने बहुत ही स्पष्ट और चित्ताकर्षक शब्दों में वर्णन किया है। भड़कीले शब्द उनके यहाँ बहुत कम हैं। भाषा बड़ी नर्म, और बोल-चाल की है। उनके पद्य बड़ी सुगमता से समझ में आजाते हैं और उनमें मधुर-स्वर का आनन्द आजाता है उनके मुहावरे चुने हुए और सुन्दर हैं। लेखन-शैली सरल है। उनके विचार यद्यपि ग़ालिब के समान ऊँचे और स्वच्छ नहीं हैं, फिर भी उनमें अश्लीलता नहीं है, जैसा कि अवध के नवाबों के प्रसन्न करने के लिए लोग अशिष्ट रचना किया करते थे।

उनका पहला दीवान उनके सामने संग्रहीत हो गया था। उस को जनता ने बहुत ही प्रसन्द किया। उनके दूसरे छोटे दीवान को उनके शिष्य 'ख़लील' ने संकलित किया। आतिश ने क़सीदा अथवा अन्य प्रकार की कोई कविता नहीं लिखी है।

आतिश की रचनायें

कुछ लोग उनके पद्यों में यह ऐब निकालते हैं कि वह अधिक विद्वान् न थे। पर सच पूछिए तो वास्तविक कविता विद्वत्ता पर अवलंबित नहीं है। हाँ, कुछ उनके शब्द, अशुद्ध अवश्य हैं। इसके लिए उनकी ओर से कहा जा सकता है कि उन्होंने उन शब्दों को वैसा ही लिखा, जैसा कि बोल-चाल में वह व्यवहृत होते थे। उनकी व्युत्पति और धातुओं की ओर ध्यान नहीं दिया। सच तो यह है कि यह अच्छा ही हुआ, नहीं तो विद्वानों की तरह अधिक छान-बीन से, उर्दू और भी फ़ारसीमयी होकर जटिल हो जाती।

उनकी त्रुटियाँ

नासिख़ और आतिश अपनी-अपनी शैली के उस्ताद थे, जिनको

उन्होंने लखनऊ में प्रचलित किया था। लेकिन जनता को पहले नासिख़ पर जो श्रद्धा थी, वह पीछे बहुत घट गई। नवाब मुस्तफ़ा ख़ां ने अपने 'तज़किरा-गुलशने-बेख़ार' में नासिख़ को आतिश से बढ़ कर माना है। लेकिन ग़ालिब ने अपने एक पत्र में आतिश का दर्जा नासिख़ से ऊँचा बतलाया है और उनके शेरों को नासिख़ से अधिक प्रखर और मर्मभेदी कहा है। जहाँ तक कवित्व-शक्ति का संबंध है, आतिश, नासिख़ से अवश्य बढ़े हुए थे। आतिश की वर्णनशैली और माधुर्य नासिख़ से उत्तम है, जिन्होंने प्रायः अजीर्ण शब्दों का उपयोग किया है। आतिश के पद्य बड़े स्वाभाविक हैं और उनके गीत बड़े तीव्र हैं। उनकी रचना उच्च विचारों से परिपूर्ण है, जिसमे यह प्रकट होता है कि वह किसी स्वतंत्र और संतोषी फ़क़ीर की कृति है। नासिख़ के यहाँ ये बातें बहुत कम हैं। इसके अतिरिक्त आतिश ने नासिख़ से बहुत अधिक आध्यात्मिक विषय पर कविता की है।

नासिख़ और आतिश की तुलना

सारांश यह है कि नासिख़ गूढ़ रूपक, सूक्ष्म विचारों और भड़कीले शब्दों में आतिश से बढ़े हुए हैं, पर व्यंजना और ओज में उनसे कम हैं। यह सच है कि उस समय लखनऊ में जैसी हवा फैली हुई थी, जिसे एक प्रकार की सनक कहना चाहिए, उसके शिकार होकर, आतिश ने भी स्त्रियों की रूप-रेखा और उनके बनाव सिंगार की वस्तुओं का वर्णन किया है। निस्संदेह दोनों कवियों ने भाषा की शुद्धता पर अधिक ध्यान दिया है। लेकिन इस मामले में दो राय नहीं हो सकती कि कविता में आतिश, नासिख़ से बढ़े हुए थे।

आतिश के शिष्य

आतिश के बहुत ही प्रसिद्ध शिष्य रिन्द, सबा, ख़लील, दयाशंकर 'नसीम', नवाब मिर्ज़ा शौक़ और आग़ा हज्जू शरफ़ हुए हैं।

आतिश के कविता के कुछ नमूने नीचे दिये जाते हैं:—

आए भी लोग बैठे भी उठ भी खड़े हुए।
मैं जाही ढूंढता तिरी महफ़िल में रह गया॥
अल्ला रे शौक़ अपनी जबीं को ख़बर नहीं।
उस बुत के आस्ताने का पत्थर रगड़ गया॥
बड़ा शोर सुनते थे पहलू में दिल का।
जो चीरा तो इक क़तरए ख़ूं न निकला॥
क़ासिदों के पाँव तोड़े बदगुमानी ने मेरी।
ख़त दिया लेकिन न बतलाया निशाने कूए दोस्त॥
उस बलाए जाँसे आतिश देखिए क्योंकर निभै।
दिल सेवा शीशे से नाज़ुक, दिल से नाज़ुक ख़ूए दोस्त॥
कूचए यार में साए की तरह रहता हूं।
दरके नज़दीक कभी हूं, कभी दीवार के पास॥
ये कैफ़ीअत उसे मिलती है, हो जिसके मुक़द्दर में।
मए उलफ़त न ख़ुम में है, न शीशे में न साग़र में॥
सफ़र है शर्त, मुसाफ़िर निवाज़ बहुतेरे।
हज़ारहा शजरे सायादार राह में है॥
नक़्श पाए रफ़्तगाँ से यह सदा है आरही।
दो क़दम में राह तय है शौक़े मंज़िल चाहिये॥

नवाब सैयद महम्मद ख़ां उपनाम 'रिंद' नवाब सिराजुद्दौला ग़यास महम्मद ख़ां के बेटे थे, जिनका जन्म सन् १७९७ ई० में फ़ैज़ाबाद में हुआ था। यह अवध के नवाबों के निकट संबंधी थे। इसलिये बड़े कुलीन समझे जाते थे। जब यह फ़ैज़ाबाद में थे तब मीर हसन के पुत्र मीर ख़लीक़ से अपनी कविता का संशोधन कराते थे और उस समय इनका उपनाम 'वफ़ा' था। जब सन् १८२४ ई० में यह लखनऊ आए तब आतिश के शागिर्द होगये। इन्होंने अपना पहला

'रिन्द' (१७९७-१८५७ ई०)

दीवान सन् १८३४ में में 'गुलदस्ता इश्क़' के नाम संकलित किया था। उनका दूसरा दीवान उनके मरने के पश्चात् संग्रहीत हुआ। 'रिन्द' का शाब्दिक अर्थ लंपट है। अतः 'यथा नामः तथा गुणः' के अनुसार वह इसी प्रकार का जीवन भी व्यतीत करते थे, दरबार के भोग-विलास में लिप्त रहते थे। उन्होंने अपने उस्ताद आतिश के मरने के बाद शराब-कबाब और वेश्या-गमन इत्यादि छोड़ दिया था और हज करने के लिये मक्का को प्रस्थान किया, परन्तु ग़दर के कुछ पहले बम्बई पहुँच कर रास्ते ही में मर गए।

इनकी कविता की शैली सरल, सुगम और स्पष्ट है मुहावरों तथा शब्दविन्यास व मधुरता के लिए प्रसिद्ध है। लेकिन विचार बहुत ऊँचे नहीं है और जो चित्र इन्होंने खींचे हैं वे बहुत ही कामुक और अश्लील हैं। पर कविता का स्वाद बुरा नहीं है और भद्र कानों को अरुचिकर नहीं मालूम होता। इनकी कविता में कुछ ऐसे भी शेर हैं, जिनमें अध्यात्मवाद और आचार की झलक पाई जाती है। सारांश यह कि यह आतिश के योग्य शागिर्दों में थे।

ख़लील

मीर दोस्त अली उपनाम ख़लील सैयद जमाल अली के लड़के अवध के अंतर्गत बदौली के निवासी थे। यह भी आतिश के प्रसिद्ध शागिर्दों में थे। इनके पद्य एक समान नहीं हैं। कुछ शेर अच्छे और उच्च कोटि के अवश्य हैं, पर प्रायः अपरिचित शब्दों से भरे हुए हैं। यह शृंगार रस के कवि थे, लेकिन इनकी कविताएँ कामोत्तेजक और अश्लील हैं।

नसीम—
१८११-१८४३ ई०

पंडित दया शंकर कौल, पं० गंगा प्रसाद कौल के पुत्र थे। यह आतिश के प्रसिद्ध शागिर्दों में थे। इनकी ख्याति विशेषतया इनकी विख्यात मसनवी गुलज़ार नसीम से हुई। यह मसनवी तथा मीर हसन की मसनवी 'बद्रे मुनीर' अत्यंत सर्व-प्रिय हुई। नसीम काशमीरी ब्राह्मण थे, जिनका जन्म सन् १८११ ई० में हुआ था।

लेकिन युवावस्था में ही जब केवल ३२ वर्ष के थे सन् १८४३ में इनका देहावसान हो गया। यह फ़ारसी की आवश्यक शिक्षा प्राप्त करके अवध-नरेश अमजद अली शाह की फ़ौज में मुंशी होगए थे। लड़कपन ही से कविता की ओर इनका झुकाव था और उर्दू-फ़ारसी के बड़े-बड़े उस्तादों की रचना अध्ययन करके यह आतिश के शागिर्द होगए, जबकि इनकी अवस्था केवल २० वर्ष की थी। इन्होंने मीरहसन की उक्त मसनवी के जवाब में, जिसका वास्तविक नाम 'सिहरुल-बयान' है, मसनवी 'गुलज़ार नसीम' की रचना की। पहले यह मसनवी बहुत बड़ी थी, लेकिन आतिश के प्रस्ताव से इन्होंने इसको संक्षिप्त कर दिया। इसकी रचना सन् १८३३ ई० में और प्रकाशन कवि के जीवनकाल ही में सन् १८४३ में हुआ था, जिसको पढ़कर जनता ने बहुत पसन्द किया। इसकी विशेषता इसके संक्षेप, इसके प्रवाह, कल्पना की उड़ान, उपयुक्त उपमा और मुहावरों तथा उचित शब्दों के उपयोग से है। ऐसी रचना में कृत्रिमता का होना स्वाभाविक था; इसलिए इस में गर्मा-हट तो नहीं है, पर भावचित्रण, कल्पना, भावुकता और कला की दृष्टि से यह मसनवी अद्वितीय है। इसकी तुलना मसनवी 'सेहरुल-बयान' से व्यर्थ है, क्योंकि दोनों की शैली जुदा-जुदा हैं। यह मसनवी बहुत ही सर्वप्रिय है। इसके बहुत से शेर लोगों को कंठस्थ होगए हैं। उर्दू साहित्य में ऐसी उत्कृष्ट रचना से पं० दया शंकर का नाम अमर हो गया है।

मीर वज़ीर अली लखनऊ के मीर बन्दा अली के लड़के थे, लेकिन इनके चचा अशरफ़ अली ने इनको गोद ले लिया था और उन्हीं ने इनको शिक्षा दिलाई। 'सबा' बड़े मिलनसार आदमी थे। उनके यहाँ मित्रों का जमघट रहता था। उन में से बहुतेरों को अफ़ीम खाने का शौक़ था और इसलिए रात भर में एक सेर के लग-भग

'सबा'— १७९५-१८५४

अफ़ीम ख़र्च हो जाया करती थी। वह बड़े दानशील आदमी थे और अपने निर्धन मित्रों की सहायता किया करते थे। उनको दो सौ रुपया महीना वाजिद अली शाह के दरबार से और तीस रुपया नवाब मुहम्मदुल-मुल्क के यहाँ से मिला करता था। यह आतिश के प्रसिद्ध शागिर्द थे और इनके भी कई प्रसिद्ध शागिर्द हुए। यह नसीम देहलवी के सम कालीन थे। सन् १२७१ हिजरी में घोड़े से गिर कर मरगए। इनका एक बड़ा दीवान शृंगार रस का 'गुंचा आरज़ू' के नाम से और एक मसनवी वाजिद अली शाह के शिकार के बारे में है। इनकी कविता बनावटी, नीरस और लखनऊ शैली के अनुसार बड़े-बड़े कठिन शब्दों से भरी हुई है तथा रिन्द की रचनाओं की तरह अश्लील भी है। अलबत्ता कहीं-कहीं आतिश के रंग में तड़पता हुआ शेर निकल आया है।

आग़ा हज्जू शरफ़

इन्होंने अपनी कविता में फ़ारसी शब्दों का बहुत कम उपयोग किया है और इसलिए कट्टर मुसलमानों को वह पसंद न थी, इन्होंने मूर्ति, मन्दिर, गिर्जा, ब्राह्मण, शंख, जनेऊ, ज़ाहिद (तपस्वी) वाइज़ (उपदेशक), साक़ी (मदिरा पिलाने वाला), प्याला और शराब इत्यादि शब्दों का बहिष्कार किया है। यद्यपि सूफ़ी कवि हाफ़िज़ के समान ऐसे शब्द अन्य कवियों ने द्वयर्थों में उपयोग किया है। पर इन शब्दों से भ्रम होता है। शरफ़ बड़े उत्साही पुरुष थे। ऐसे शब्दों का बहिष्कार उन्हीं तक सीमित था। अन्य उर्दू कवियों ने तो इनको बहुतायत के साथ अपनाया है।

'तज़किरा-जलवा ख़िज्र' और 'शेरुल हिन्द' नामक पुस्तकों में उन परिवर्तनों की एक सूची दी गई है, जिनको नासिख़ और आतिश के

इस काल में भाषा में परिवर्तन

शिष्यों ने उर्दू कविता में किया है और 'शेरुल हिन्द' में उसकी नक़ल की गई है। इनका ब्यौरा यह है कि फ़ारसी और अरबी के कठिन शब्दों तथा फ़ारसी के वाक्यविन्यास का पहले से कम

उपयोग होने लगा। हिन्दी के अनेक शब्द जो छोड़ दिये गये थे, फिर ले लिये गये। वही मुहावरे लिये गये, जिनसे शेरों के सौंदर्य और प्रभाव के बढ़ने की संभावना हो। नायिका के कपोलों के तिल और उस पर केशपात, बुलबुल और गुल (पुष्प), सरो और क़ुमरी संबंधी कविता कम कर दी गई तथा रूपक, अतिशयोक्ति और शब्दों की संगति का उपयोग कम होने लगा।

नवां अध्याय

लखनऊ का दरबार और उसके उर्दू कवि

वाजिद अली शाह 'अख़्तर' का समय

पहले दिल्ली उर्दू कविता के प्रोत्साहन का केंद्र था, पर जब उसका पतन आरंभ हुआ तब वहां के कवि आरज़ू, सोज़ सौदा, मीर, इंशा जुरअत और मसहफ़ी इत्यादि अवध के नवाबों की दानशीलता सुनकर लखनऊ चले आए। यहाँ के शासकों को न केवल दिल्लीनरेशों के समान अपने यहाँ कवियों के एकत्र करने का शौक़ था वरन् यह स्वयं भी कविता किया करते थे।

नवाब आसफ़ुद्दौला साहित्य के बड़े गुणग्राहक थे और प्रचुर दान-दक्षिणा देने के लिए प्रसिद्ध थे। उनकी उदारता की लोग कहावतें अब तक कहा करते हैं। उन्होंने फ़ैज़ाबाद से उठकर लखनऊ को अपनी राजधानी बनाई और वहाँ सुन्दर-सुन्दर इमारतें बनवाईं। वह भवन-निर्माणकला में बड़े दक्ष थे तथा कविता के भी बड़े प्रेमी थे। वह स्वयं 'आसफ़' के नाम से कविता करते थे। वह 'सोज़' से अपनी कविता का संशोधन कराते थे। उनकी कविता सरल, प्रभावशाली है और उसमें उस तरह की बनावट नहीं है जिसका प्रचार नासिख़ के समय में लखनऊ में हुआ था। इनके उर्दू ग़ज़लों का एक दीवान, रुबाइयाँ और मुख़म्मस हैं और एक मसनवी है। इन्हीं के समय में 'मीर' और 'सौदा' लखनऊ आए और उनकी अच्छी तनख़्वाह मुक़र्रर हुई। उस समय दरबार का आचार भ्रष्ट नहीं हुआ था। अतः मीर और सौदा का बहुत आदर सत्कार हुआ।

आसफ़ुद्दौला 'आसफ़'
१७७५-१७९७ ई०

आसफ़ुद्दौला के पश्चात् उनके भाई सआदत अली खां स्थायी

सआदत अली खां (१७९८-१८१४ ई०)

रूप से आप की गद्दी पर तत्कालीन गवर्नर जनरल सरजान शोर द्वारा बैठाये गए जब कि आसफ़ के दत्तक पुत्र वज़ीर अली खां राज्य-च्युत कर दिये गये थे। आसफ़ुद्दौला के बाद सन् १७९७ ई० में उनके बेटे वज़ीर अली खां, गद्दी पर बैठे थे। लेकिन चार महीनेके पश्चात् इसलिये गद्दीसे उतार दिये गये थे कि वह आसफ़ुद्दौला के वीर्य से पैदा नहीं हुए थे। इसके पश्चात् वह बनारस भेजे गए, जहाँ उन्होंने क्रोध में आकर मि० चेरी रेज़ीडेंट को मार डाला और जयपुर भाग गये। वहाँ से पकड़ कर आए और फ़ोर्ट विलियम क़िले में क़ैद कर दिये गये। वह भी 'वज़ीरी' के नाम से कविता करते थे।

सआदत अली खां के दरबार में इंशा का, उनकी हँसी-दिल्लगी और चुटकुलों से बहुत आदर-सत्कार हुआ और उनको ख़ूब इनाम-इकराम मिला इन्हीं के समय में इंशा और मसहफ़ी में गाली-गलौज हुई, जिसको नवाब सुनकर बहुत प्रसन्न होते थे। सआदत अली ख़ां भी कुछ कविता करते थे, पर उनका कोई दीवान उपस्थित नहीं है। वह कवियों के बड़े उदार सहायक थे।

ग़ाज़ीउद्दीन हैदर (१८१४-१८२७)

सआदत अली ख़ां के पश्चात् उनके पुत्र ग़ाज़ीउद्दीन हैदर अवध के नवाब हुए और पांच वर्ष के पश्चात् लार्ड हेस्टिंग्ज़ के समय में उनको बादशाह की उपाधि मिली। सन् १८१९ में अपने अभिषेक के समय उन्होंने ख़ूब रुपये और मोती लुटाये। यह भी एक साधारण कवि थे। इनकी कविता में कुछ रेख़्ता और अधिकांश शिया इमामों की प्रशंसा है। डाक्टर स्प्रिङ्गर ने लिखा है कि उनकी रचना ऐसी निकृष्ट है कि सचमुच किसी बादशाह की लिखी हुई मालूम होती है।

ग़ाज़ीउद्दीन के मरने पर उनके पुत्र नसीरुद्दीन हैदर बादशाह हुए।

इन्होंने भी इमामों की स्तुति में 'अली' के नाम से क़सीदे लिखे हैं और कुछ शृंगाररस की कविता 'बादशाह' के नाम से की है।

नसीरुद्दीन हैदर (१७३७-१८२७)

नसीरुद्दीन के पश्चात् पहले महम्मद अली शाह (१८३७-१८४२) और फिर अमजद अली शाह (१८४२-१८४७ ई०) गद्दी पर बैठे। ये लोग भी साहित्यप्रेमी थे और कवियों को खूब इनाम इकराम देकर उनका उत्साह बढ़ाते थे। इनके पीछे वाजिदअलीशाह अवध के बादशाह हुए, जो भोग-विलास में लिप्त रहने के लिए बदनाम हैं और इसी कारण उनके राज्य में कुप्रबंध फैल गया। यह बीस वर्ष की अवस्था में तख़्त पर बैठे। उनके मुसाहबों ने उनको कुमार्गगामी बना दिया और उसी से उनका सर्वनाश होगया। उन्होंने दो करोड़ रुपया लगा कर क़ैसर-बाग बनवाया, जिसमें सुरापान और नाच-रंग हुआ करता था। उनके यहाँ हज़ारों वेश्यायें थीं जो उनको विषयवासना को उत्तेजित करती थीं और उनको विशेष ढंग का नाच सिखलाया जाता था। उनकी विलास प्रियता ने उनको हतबुद्धि बना दिया, यहाँ तक कि अन्त में वह कलकत्ता में निर्वासित कर लिए गए। वहाँ जाकर मटिया बुर्ज को उन्होंने छोटे पैमाने पर सुशोभित किया। जिन लोगों ने उस समय उस स्थान को देखा था, उनका कहना है कि वह छोटा लखनऊ बन गया था। उन्होंने लखनऊ से कलकत्ते की यात्रा का वर्णन एक मसनवी 'हुज़्ने अख़्तर' में किया है। वहीं उनकी मृत्यु सन् १८८७ ई० हुई।

वाजिदअली शाह १८४७-१८५६ ई०

वाजिद अली शाह की रुचि बहुमुखी थी। वह विविध कला के बड़े प्रेमी थे। पक्षियों और पशुओं से उनको बहुत अनुराग था। लखनऊ और कलकत्ते में उन्होंने जो चिड़ियाघर बनवाए थे, उनको देखने के लिए योरप तक से दर्शक आया करते थे। वह संगीत-कला में भी बड़े प्रवीण थे। वह बड़े कवि और उर्दू कवियों के बहुत बड़े संरक्षक थे। लेकिन

सच पूछिए तो इन्हीं बातों में लिप्त रहने के कारण उनका पतन भी हुआ। भवननिर्माण का भी उनको शौक़ था और लखनऊ में उन्होंने बड़ी-बड़ी सुन्दर इमारतें बनवाईं। उनके दरबार की उर्दू कविता बड़ी अश्लील और कामोत्तेजक है, जिसमें स्त्रियों के सौंदर्य और उनके बनाव-सिंगार का वर्णन बड़े नग्न शब्दों में किया गया है, फिर जब वह बनी-ठनी श्याओं से गवाई जाती थीं तो वह बादशाह के आचारभ्रष्ट होने का सहज ही में साधन बन जाती थीं। वह लखनऊ में 'जाने-आलम-पिया' कहलाते थे और उनकी सब से प्रिय भेंट सुन्दर स्त्रियां थीं।

वाजिद अली शाह का कविता में नाम 'अख़्तर' (तारा) था। उन्हों ने कई पुस्तकें लिखी हैं, जिनमें हर प्रकार की कविता अर्थात् क़सीदा, ग़ज़ल, मसनवी, सलाम, क़िता, रुबाई और मरसिया इत्यादि हैं। उनकी रचनाओं की सूची इस प्रकार है :—

१ ग़ज़लों के छः दीवान, 'शुआ-फ़ैज़, 'क़मर-मज़मून, 'सख़ुनेअशरफ़,' 'गुलदस्ता आशिक़ां' 'अख़्तरे मुल्क' और 'नज़्मे नामवर' के नाम से हैं।

२. अनेक मसनवी, जिनमें मुख्य ये हैं :—

(१) 'हुज़्ने अख़्तर' (कलकत्ते की यात्रा और वहां के कष्ट का वृत्तांत) (२) 'ख़िताबात महल्लात' – इस में इनके बेग़मों की उपाधि का विवरण है और एक सूची विवाही और मुताई[1] स्त्रियों की है, इस में यह भी लिखा है कि किन-किन से लड़के या लड़कियां उत्पन्न हुईं और किन-किन को तलाक़ दिया गया, यह पुस्तक कलकत्ते के फ़ोर्ट विलियम क़िले में ग़दर के समय लिखी गई थी। (३) बानी (४) नाजू (५) दुलहिन (६) दरफ़न मौसीक़ी (संगीत के संबंध में) और (७) दरियाय-तअश्शुक़ (प्रेम सागर)

---

[1] शिया मुस्लिमों में यह प्रथा है कि एक निश्चित समय के लिए किसी स्त्री से वैवाहिक सम्बन्ध कर लेते हैं। इसी का नाम 'मुता' है। (हिन्दी अनुवादक)

३. मरसिये-इस के तीन खंड (१) जिल्द मरासी (२) दफ़्तर ग़मो बह्रे अलम और (३) सरमाये-ईमान के नाम से हैं। पहले में २५ मरसिये हैं, जिन में २१११ बन्द हैं। दूसरे में १२ और तीसरे में २३ मरसिये हैं।

४. उर्दू और फ़ारसी के क़सीदे 'क़सायदुल मुबारक' के नाम से।

५. 'मुबाहसा बैनुल नफ़्स उल अक़्ल' (वासना और बुद्धि का वाद-विवाद)

६. सहीफ़ा सुलतानी (इस में क़ुरानी स्तुति लिखी गई है)।

७. नसायह अख़्तरी (अख़्तर के उपदेश)।

८. इश्क़ नामा (प्रेम पत्र)।

९. रिसाला ईमान।

१०. दफ़्तर परेशान।

११. मक़तल मोतबर।

१२. दस्तूरे वाजिदी।

१३. सौतुल मुबारक।

१४. जौहर-अरूज़।

१५. इर्शादे ख़ाक़ानी (अनुप्रास और पद्यरचना के विषय में)

इनकी रचना लग-भग ४० पुस्तकों में है। इन्हों ने कुछ ठुमरियाँ भी बनाई हैं, जिन को लोगों ने बहुत पसंद किया था। इनकी कुछ रचना अवध की ग्रामीण भाषा में भी है, जो भाषाविज्ञान की दृष्टि से बड़ी रोचक है। यह अपनी कविता मुज़फ़्फ़र अली 'असीर' और फ़तहुद्दौला बर्क़ को दिखलाते थे, जो नासिख़ के प्रसिद्ध शिष्य थे। ये लोग उनके मुसाहब भी थे। बर्क़ का शासन-विधान में भी बड़ा प्रभाव था और अपने मालिक के बड़े शुभचिंतक थे। बादशाह के साथ कलकत्ता गए और वहीं सन् १८५७ में उनकी मृत्यु हुई। लेकिन

असीर ने अपने स्वामी की विपत्ति में उनका साथ नहीं दिया और लखनऊ ही में रह गए। इस से वाजिदअलीशाह को बहुत दुख हुआ था।

असीर और बर्क़ के सिवा वाजिदअली शाह के दरबार में अमानत, क़लक़, बह्र, तसलीम सहर, ज़की, दरख़शाँ, क़बूल, शफ़क़, बेख़ुद हुनर, उतारद, हिलाल और ग़रूर इत्यादि अनके कवि थे।

बादशाह के लड़के भी 'कौकब' और 'बिर्जीस' के नाम से कवि थे।

अख़्तर बड़े उपज के लेखक थे, पर उनकी प्रतिभा निम्नश्रेणी की थी, उनके शेरों में ऊँचे विचार और मौलिक भावुकता नहीं है और वही लखनऊ-स्कूल का रंग है। अलबत्ता उनकी मसनवी 'हुज़्ने-अख़्तरी' बहुत ही रोचक, मर्मस्पर्शी और ऊँचे दर्जे की कविता में है। उसके शेरों की ध्वनि सच्ची और दुख की गाथा असली है, जिस में बनावट का नाम नहीं है उसके पद्य प्रवाहयुक्त और बहुधा मार्जित हैं। उसकी वर्णनशैली बहुत ही रोचक और हृदयग्राही है।

उन्होंने कलकत्ते के अनेक पत्र अपनी प्यारी बेग़म ज़ीनत महल के नाम लिखे थे, जो लखनऊ में रहगई थीं और जिनकी उपाधि 'अकलैल महल' (अंतःपुर की मुकुट) या 'मुम्ताज़े जहाँ' (संसार में प्रतिष्ठित) की थी। इनका संग्रह बादशाह की आज्ञा से उनके एक सेक्रेटरी अकबर अली ख़ां 'तौकीर' ने किया है। इसकी भूमिका अनुप्रासिक और अलंकृत गद्य लिखी गई है। अपनी प्यारी बीबी के बिरह में बादशाह की सांत्वना के लिये इसका संकलन किया गया था। यह चिट्ठियां कालक्रम के अनुसार सन् १८८६ ई० में एकत्र की गई थीं। इन में बादशाह ने अपनी विरह-वेदना का उद्गार बड़े मर्मभेदी शब्दों में किया है और अपनी राजधानी में फिर अपने सिंहासन पर बैठने की अभिलाषा प्रकट की है।

बर्क़ के विषय में पिछले अध्याय में लिखा जा चुका है।

अमेठी निवासी सैयद मुज़फ़्फ़र अली ख़ां सैयद मदद अली के लड़के कविता में मसहफ़ी के शिष्य थे। इन्होंने फरङ्गी महल के आलिमों से फ़ारसी-अरबी की शिक्षा पाई थी। यह नसीरुद्दीन हैदर के समय में नौकर हुए और अमजद अली शाह के समय में इनकी बहुत उन्नति हुई। आठ-नौ वर्ष तक यह वाजिदअली शाह के मुसाहब रहे, जो कभी-कभी इनको अपनी कविता दिखलाया करते थे। उन्होंने इनको तदबीरुद्दौला-मुदब्बिरुलमुल्क बहादुर जङ्ग की उपाधि से विभूषित किया था। यह बादशाह के साथ कलकत्ता नहीं गए, जिससे वह दुखी हुए थे।

असीर
(१८००-१८८१ ई०)

इन्होंने बहुत सी रचनाएँ की हैं। छः दीवान तैयार किए, जिन में चार प्रकाशित हो चुके हैं। इनके अतिरिक्त उन्होंने फ़ारसी ग़ज़लों का एक दीवान, एक मसनवी 'दुर्रतुल ताज' और एक प्रबन्ध छंदशास्त्र पर लिखा है, जिसके वह बड़े ज्ञाता समझे जाते थे। इन्होंने बहुत से क़सीदे और मरसिये भी लिखे हैं। यह रचना-प्रणाली की कला में बड़े उस्ताद समझे जाते थे और भाषा पर इनका आश्चर्य-जनक अधिकार था। लेकिन लखनऊ-स्कूल का प्रभाव इन पर भी पड़ा था, अलवत्ता कभी कभी उससे पृथक होकर इन्होंने अच्छे-अच्छे शेर कहे हैं। इनके बड़े बड़े नामी शागिर्द हुए हैं, जिनमें 'अमीर-मीनाई' का नाम विशेषता उल्लेखनीय है। इनके और शागिर्दों में इनके दो बेटे हकीम और अफ़ज़ल, तथा शौक़ और वास्ती प्रसिद्ध हुए हैं।

ग़दर के पश्चात् यह रामपुर के नवाब यूसुफ़ अली ख़ां के दरबार में चले गए और वहीं ८४ वर्ष की अवस्था में सन् १८८१ ई० में इनकी मृत्यु होगई।

सैयद आग़ा हसन उपमान 'अमानत' सैयद अली आग़ा रिज़वी

के पुत्र थे जो सैयद अली रिज़वी के वंश से थे। पहले ये मरसिये लिखते थे और लखनऊ के प्रसिद्ध मरसिया लेखक, मियां दिलगीर को दिखलाया करते थे। फिर इन्हों ने ग़ज़लें लिखनी आरम्भ की, लेकिन दिलगीर ने उनको देखने से इन्कार कर दिया इसलिये यह स्वयं उनका संशोधन करने लगे। सन् १८३५ ई० में यह गूंगे हो गए और ६ वर्ष तक इनकी यही दशा रही। इस बीच में वह करबला गए जहाँ, कहाजाता है, उनकी ज़बान खुल गई थी। इन्हों ने बुझौली और पहेलियाँ बहुत लिखी हैं। इनका एक दीवान ख़ज़ायनुल फ़साहत, एक स्फुट कविता का संग्रह 'गुलदस्ता-अमानत', 'इन्द्रसभा' और अनेक मरसिये हैं। इनकी कविता में जो त्रुटियाँ है वह नासिख़ के अनुकरण से हुई हैं। अलबत्ता उनकी दो पुस्तकें अधिक प्रसिद्ध हैं। एक तो वासोख़्त जो विषय-वासना की विडम्बना से भरा हुआ है, दूसरा 'इन्द्रसभा', जिस में स्वर्गीय अप्सरा और पृथ्वीवासी एक शहज़ादे के प्रेम का वर्णन किया गया है। यह उर्दू का सब से पहला नाटक है। अमानत के दो लड़के लताफ़त और फ़साहत भी लखनऊ की कवि-मण्डली में बहुत प्रसिद्ध हुए हैं।

अमानत (१८१५—१८५८)

'क़लक़' कविता का नाम था। असली नाम ख़्वा ा अरशद अली ख़ां उपनाम ख़्वाजा असदुल्ला था जिनकी उपाधि आसफ़ुद्दौला की थी। यह अपने चचा वज़ीर के शिष्य थे। लेकिन अपने को चापलूसी से वाजिद अली शाह का शागिंद बतलाते थे। लखनऊ स्कूल की त्रुटियाँ इनकी कविता में भी भरी हुई हैं, जो अश्लीलता और अभद्रता से ओत-प्रोत है। अलबत्ता कहीं-कहीं इस दोष से मुक्त होकर कुछ अच्छे शेर कहे हैं, जिनको वास्तविक कविता कहा जा सकता है। निस्सन्देह यह अपनी रचना की शुद्धता और भाषा पर अधिकार रखने के लिये प्रसिद्ध

क़लक़

थे। क़ैसर बाग़ पर इनकी ग़ज़ल और इनकी मसनवी तिलिस्म उल्फ़त बहुत रोचक है। वाजिद अली शाह की प्रशंसा में इनका क़सीदा बहुत उत्तम है तथा जो मुख़म्मस उनके निवासन पर इन्हों ने लिखा है वह बहुत ही हृदय-बेधी है। परन्तु यह याद रखना चाहिये कि इसको बादशाह की सहानुभूति और समवेदना में इन्हों ने नहीं लिखा था, बल्कि अपने स्वार्थ के लिये, क्योंकि उनके चले जाने से इनके आमोद-प्रमोद की समाप्ति हो गई थी।

तसलीम

तसलीम यद्यपि अवध दर्बारके आश्रित थे लेकिन अधिकांश यह रामपुर ही में रहे। इनके विषय में अगले अध्याय में लिखा जायगा।

'ज़की' मृत्युकाल १८६४ ई०

महदी अली ख़ाँ उपनाम 'ज़की' शेख़ करामत अली ख़ाँ के लड़के थे। यह यद्यपि लखनऊ के निवासी थे, पर मुरादाबाद में रहते थे। यह ग़ाज़ीउद्दीन हैदर के समय में लखनऊ आकर नासिख़ के शागिर्द हो गये और उक्त नवाब की प्रशंसा में एक क़सीदा पढ़ा, जिस पर इनको ख़ूब इनाम-इकराम मिला। फिर वह पहले दिल्ली गए और वहाँ से दक्षिण को प्रस्थान किया जहाँ उनका बहुत आदर-सत्कार हुआ। वहाँ से लौटकर वह फिर लखनऊ आकर वाजिद अली शाह के दरबार में प्रविष्ट हुए, जहाँ से उनको 'मलिकुश्शोअरा' (कवि-साम्राट्) की पदवी मिली। अवध का राज्य समाप्त हो जाने के बाद यह फिर मुरादाबाद जाकर रहने लगे। वहाँ से रामपुर के नवाब ने उनको बुला लिया। पीछे उक्त नवाब यूसुफ़ अली ख़ाँ की मृत्यु हो जाने पर, वह अंबाला चले गए और वहीं सन् १८६४ ई० मेंउनकी मृत्यु हो गई। वह काव्य शास्त्र के बड़े ज्ञाता थे और इस विषय पर उन्होंने एक प्रबंध भी लिखा है जो सन् १८४८ ई० में प्रकाशित हुआ है।

ज़की बड़े विद्वान, प्रतिभाशाली और विनोदी कवि थे। लखनऊ के द्वितीय श्रेणी के कवियों में उनका स्थान ऊँचा है।

इनका असली नाम सैयद अली ख़ाँ था, जिनकी उपाधि 'महता-बुद्दौला कौकबुलमुल्क-सितारा जंग' की थी। यह कविता में असीर के शागिर्द थे। वाजिद अली शाह के दरबार में इन का प्रवेश हुआ। यह भी बादशाह के साथ कलकत्ता चले गये थे और वहीं मरे। यह ज्योतिष भी जानते थे। लखनऊ-स्कूल के साधारण कवि थे।

दरख़शां

क़ाज़ी महम्मद सादिक़ ख़ां उपनाम 'अख़्तर', क़ाज़ी महम्मद लाल के लड़के थे, जिनका जन्म हुगली में हुआ था। यह ग़ाज़ीउद्दीन हैदर के समय में लखनऊ आये और इनको 'मलिकुल शोअरा (कवि साम्राट्) की उपाधि मिली। अख़्तर क़तील के शिष्य हो गये और मुहसफ़ी, इंशा और जुरअत के साथ लखनऊ के मुशायरों में सम्मिलित होने लगे। वह कुछ दिनों फ़र्रुख़ाबाद में भी रहे थे। कहा जाता है कि वाजिद अलीशाह ने बहुत कुछ इनाम-इकराम देकर इनका तख़ल्लुस (उपनाम) 'अख़्तर' ले लिया था। फिर कुछ दिनों के बाद वाजिद अली शाह इनसे अप्रसन्न हो गए, तब यह लखनऊ छोड़कर इटावा में तहसीलदार होगये और वहीं सन् १८५८ ई० में इनकी मृत्यु होगई। यह बड़े विद्वान् और बहुत बड़े कवि थे। इन्होंने बहुत कुछ, अधिकांश फ़ारसी में, लिखा है, जिनके नाम 'महामिद हैदरियां', 'गुलदस्ता मुहब्बत', जिसमें लार्ड हेस्टिंग्स और ग़ाज़ी उद्दीन हैदर के सम्मेलन का वृतांत है, 'मसनवी सरापा सोज़', 'सुबह सादिक़', (जिसमें उनकी अपनी जीवनी है) आफ़्ताब आलमताब (फ़ारसी कवियों की चर्चा) 'फ़ारसी दीवान', 'बहारे बेख़िज़ाँ' 'बहार इक़बाल', 'हफ़्त अख़्तर' और उर्दू दीवान हैं।

अख़्तर मृत्युकाल
१८५८ ई०

दसवाँ अध्याय

मरसिया और उसके लेखक

मरसिया शोकपूर्ण कविता को कहते हैं, जो मृत-आत्माओं के लिए लिखी जाती है। यह मुसलमान कवियों के लिए बहुत प्रिय है।

मरसिया की परिभाषा

यह क़सीदा के विरुद्ध है, जो जीवित- लोगों की प्रशंसा में लिखा जाता है। लेकिन मरसिया विशेषतया हज़रत इमाम हसन और हुसैन तथा करबला में जिन अन्य मुसलमानों का धर्मार्थ बलिदान हुआ था, उनकी शोक-गाथा है, जो मुहर्रम में ताज़िये के साथ, करुण स्वर से गाया जाता है। आरंभ में इस प्रकार की कविता में केवल ऐसे पद्य होते थे, जिनमें मृत-आत्माओं के गुणों का वर्णन होता था और उनकी शोचनीय मृत्यु पर विलाप किया जाता था। ऐसे मरसिये बहुत संक्षिप्त हुआ करते थे, जिनमें केवल १५ या २० पद्य होते थे और जिनका अभिप्राय केवल ऐसी मृत्यु पर कथा, संताप और वेदना प्रकट करना तथा रोना धोना होता था। यह था शुद्ध शोक प्रकट करने का साधन, पर धीरे-धीरे मरसिया का क्षेत्र बढ़ता गया! उसमें इमामों की प्रशंसा, शत्रुओं की निन्दा, उभय पक्ष की ललकार, रण-क्षेत्र का दृश्य, घोड़े और अस्त्र-शस्त्र की सराहना तथा प्राकृतिक सौंदर्य इत्यादि का वर्णन होने लगा। यहाँ तक कि उर्दू कविता की वह एक विशेष शैली बन गई।

अरबी शायरी मरसिया से आरंभ हुई थी। लेकिन जब कविता स्वार्थ के लिए होने लगी तो मरसिया लिखने का रिवाज घट गया,

मरसिया की प्राचीनता

क्योंकि उसके लिए कोई इनाम-इकराम देने वाला न था। अब उसकी जगह क़सीदा लिखने की परिपाटी चल पड़ी। फ़ारसी कविता प्रशंसात्मक श्रृंगाररसमयी और बनावटी हुआ करती

थी, इसलिए उससे मरसिया को कोई सहायता नहीं मिली। शाहनामा में फ़िरदौसी ने जो सुहराब के मरने पर उसकी माता का विलाप लिखा है, यों तो उसको भी मरसिया कह सकते हैं, तथा फर्रुख़ी ने महमूद ग़ज़नवी के मरने पर मरसिया लिखा है; पर वह ग्यारह शेर से अधिक नहीं है। इसके पश्चात् मरसिये की अवनति हो गई। फिर सादी और मुहतशिम-काशी ने इस प्रकार की कविता की, पर उसकी ओर लोगों की अधिक रुचि नहीं हुई और न उससे दूसरे लोगों को मरसिया लिखने का प्रोत्साहन हुआ। तालिब आमली, ग़ज़ाली मेली, कलीम, सलीम और अन्य उनके समय के फ़ारसी कवियों ने मरसिया लिखने का प्रयत्न नहीं किया, यद्यपि उन्होंने अन्य प्रकार की कविता सफलता के साथ की है। ज़हूरी के मरसिया में केवल उसके संरक्षक आदिल शाह की प्रशंसा है। मक़बल ने अलबत्ता अधिक उत्साह के साथ इस ओर ध्यान दिया, जिसको ईरानी शायरों ने बहुत पसंद किया।

गोलकुंडा और बीजापुर के दरबारों में उर्दू मरसिये का आरंभ हुआ। यहाँ के बादशाह न केवल कवियों के सहायक थे, बल्कि धर्मनिष्ठ होने से स्वयं मरसिये लिखते थे। परंतु उस समय मरसिये का बाल्य-काल था वली ने कोई मरसिया नहीं लिखा, कुछ प्रार्थनात्मक पद्य लिखे हैं। उनको चाहे मरसिया कह लीजिये।

उर्दू में मरसियों का आरंभ

दिल्ली के पुराने कवियों को मरसिया बहुत प्रिय था और कुछ लोगों ने उसको भक्तिभाव से प्रेरित होकर लिखा। लेकिन धार्मिक कविता होने के कारण किसी ने उसकी साहित्यिक त्रुटियों की ओर ध्यान नहीं दिया। मीर तक़ी ने 'नुकातुल-शोरा' और मीर हसन ने अपने तज़किरे में कुछ मरसिया लेखक कवियों की चर्चा की है, जैसे मीर अमानी, मीर आमनी, मीर आले अली, मीर हसन, दरख़्शां, सिकंदर, सब्र, क़ादिर, गुमान और नदीम इत्यादि। मीर और सौदा ने भी पुराने ढंग के

मरसिये लिखे हैं, पर उनमें असली गरमाहट और भावुकता न है; मीर हसन और मीर ज़ाहक के मरसियों में भी कोई विशेषता नहीं है, सिवाय इसके कि वे मीर अनीस के पुरखे थे। सौदा के पहले मरसिया चौपदे के रूप में होता था। लेकिन सौदा ने उसको मुसद्दस (षट्पदी) के रूप में लिखना आरंभ किया और यही ढंग अब आदर्श माना जाता है।

मीर ज़मीर

सौदा की तरह ज़मीर ने भी मुसद्दस मरसिया लिखा, लेकिन इन्होंने नई उपमायें, रूपक, रणक्षेत्र का वर्णन और रोचक अत्युक्ति इत्यादि का मरसिया में समावेश किया, जिसको पिछले लेखकों-अनीस और दबीर-ने पूरा किया। संभवतः ज़मीर ही ने मरसिया को 'तहतुल लफ़्ज़'[1] में पढ़ने का रिवाज दिया, जो पहले सोज़ के समान गाया जाता था।

मीर अनीस के परिवार की मरसिया की सेवा

पहले बतलाया जा चुका है कि मीर हसन के पितामह और स्वयं मीर हसन मरसिया लेखक थे, पर उनके मरसिये अब उपलब्ध नहीं हैं। मीर हसन के चार बेटे थे, जिनमें से तीन ख़ुल्क़, ख़लीक़, और मुहसिन कवि थे। इनमें ख़लीक की प्रसिद्धि अपने पिता से पृथक हुई। ख़ुल्क़ अपने पिता के शिष्य थे। इन्होंने एक दीवान की रचना की और अपने घराने की ख्याति के अनुसार मरसिये लिखे हैं। इनकी मृत्यु सौ वर्ष की अवस्था में हुई थी।

ख़लीक़ ख़ुल्क से छोटे थे। इनकी शिक्षा फ़ैज़ाबाद और लखनऊ में हुई थी। यह सोलह वर्ष की ही अवस्था से कविता करने लगे थे और अपने पिता के आज्ञानुसार मसहफ़ी के शागिर्द हो

[1] एक-एक शेर को अलग-अलग कुछ ठहर कर पढ़ने को तहतुल-लफ़्ज़ कहते हैं। सोज़ भी एक प्रकार की मरसिया है, जो स्वर सहित गाकर पढ़ते हैं। (हिन्दी अनुवादक)

ख़लीक़— गए थे। इस कला में यह बहुत जल्द प्रसिद्ध हो
७०४-१८०४ ई० गए। एक बार फ़ैज़ाबाद में मीर तक़ी के मुशायरे में आतिश निमंत्रित हुए। वहाँ ख़लीक़ की ग़ज़ल सुनकर आतिश ने बहुत प्रशंसा की और अपने ग़ज़ल को उनसे घटिया समझकर फाड़ डाला। कुछ दिनों के बाद जब ख़लीक़ के पिता का देहांत हो गया तब इनकी आर्थिक दशा बिगड़ गई और अपने परिवार के भरण-पोषण के लिए यह अपनी ग़ज़लें बेचने लगे। यह लिखते बाहुल्य से थे। इन्होंने अपना एक दीवान संग्रह किया था पर वह प्रकाशित नहीं हुआ। इन्होंने जीवन-पर्यन्त मरसिया लिखा। यह मीर, ज़मीर, मिर्ज़ा, फ़सीह और दिलगीर के समकालीन थे। दिलगीर नासिख़ के शिष्य थे। यह हकलाने के कारण अपना मरसिया स्वयं नहीं पढ़ते थे। मिर्ज़ा फ़सीह भी नासिख़ के शिष्य थे। यह और दिलगीर मक्का जा कर वहीं बस गए। अब मरसिया का क्षेत्र ख़लीक़ और ज़मीर के हाथ में रह गया, जिन्होंने एक दूसरे से बढ़ने के लिए ख़ूब उद्योग किया। इससे मरसिया-लेखन की बड़ी उन्नति हुई। सलाम[1] गीत के अनुसार लिखा जाने लगा। मरसिया सोज़ और तहतुल लफ़्ज़ दोनों तरह से पढ़ने का रिवाज हुआ। जो कविता 'मुस्तज़ाद' के रूप में की जाती थी वह प्रायः सोज़ या 'नौहा' कहलाती थी। पहले मरसिया में ३०-४० बंद होते थे, लेकिन ज़मीर ने उसको ७० से १०० तक बढ़ा दिया। इस प्रकार से पुराने ढंग का मरसिया जो पहले केवल शोकप्रकाशन के लिए था, अब उर्दू साहित्य में उसकी एक विशेश शैली हो गई। उसके कलेवर में नए जीवन का संचार किया गया और उसकी सूखी हड्डियों पर नया मांस चढ़ाया गया। इस काया-पलट से मरसिया ऐसा सर्व-प्रिय हो गया कि मुसलमानों के सिवा कुछ हिंदू भी उसको शौक़ से सुनने लगे।

---

[1] सलाम उस कविता को कहते हैं, जिसमें इमामों का अभिवादन किया जाता है। (हिन्दी अनुवाद)

ख़लीक़ ने मरसिया की उन्नति की ओर अधिक ध्यान दिया। उसमें सुन्दर मुहावरों और ललित वाक्यविन्यास का उपयोग किया और उसको अधिक करुणापूर्ण बनाया, उनके और ज़मीर के मरसिये में यही भेद है। अनीस ने अपने पिता का अनुसरण किया, लेकिन उसमें प्रासंगिक कथा और भूमिका बढ़ा दिया। इससे उनकी कविता अधिक साहित्यिक होगई है। अनीस अपने पिता के समान मरसिया पढ़ते भी थे, लेकिन उनकी तरह अंगसंचालन नहीं करते थे। केवल आँख और कुछ गरदन हिला देते थे।

मरसिया के विषय में वृद्धि

उर्दू के शुद्ध मुहावरों के लिए ख़लीक़ का घराना प्रमाण माना जाता था। नासिख़ अपने शागिर्दों को हमेशा सलाह दिया करते थे कि शुद्ध उर्दू ख़लीक़ के यहाँ से सीखो।

मीर बबर अली उपनाम अनीस फ़ैज़ाबाद के मुहल्ला 'गुलाब बाड़ी' में पैदा हुये थे, जहाँ उनके पिता रहते थे। पिता की देख-रेखमें उनका पालन-पोषण हुआ। इनके बड़े भाई का नाम 'नफ़ीस' और छोटे भाई का नाम 'उन्स' था जो इनके साथ लखनऊ आए। लेकिन फ़ैज़ाबाद का सम्बन्ध कुछ दिनों तक बना रहा, क्योंकि इनके पिता और बड़े भाई वहाँ रहते थे। पीछे कुछ दिनों के बाद इनका परिवार लखनऊ में आकर स्थायी रूप से बस गया।

अनीस-१२१७-१२९१ हि०(१८०२-१८७४ ई०)

अनीस बहुत बड़े विद्वान् तो न थे, लेकिन उन्होंने काफ़ी शिक्षा प्राप्त करली थी, जिससे वह अच्छे कवि होगए। उन्होंने सहरा (अरबी की पुस्तक) मुफ़्ती महम्मद अब्बास और प्रारम्भिक पुस्तकें मौलवी हैदर अली से पढ़ी थीं। इनको शारीरिक व्यायाम का भी बहुत शौक़ था। शस्त्र-संचालन मीर काज़िम अली और उनके बेटे अमीर अली से उन्होंने सीखा था, जो उस समय इस कला में बहुत प्रसिद्ध थे। अनीस अच्छे

घुड़सवार भी थे। मरसिया में रण-क्षेत्र का दृश्य दिखलाने में यह सब बातें उनकी बहुत सहायक हुईं। वह मनुष्यों और पशुओं के सौंदर्य का बहुत आदर करते थे और प्राकृतिक दृश्य के बड़े प्रेमी थे। उनको अपने घराने की प्रतिष्ठा का बहुत गर्व था तथा उनमें आत्म-सम्मान बहुत था। उनको अपने आचार-विचार का बहुत ध्यान था। और लोगों से मिलने में वह बहुत नियम के पाबंद थे। कोई उनसे बिना पहले सूचना दिए नहीं मिल सकता था, चाहे उनका घनिष्ट मित्र ही क्यों न हो। अमीरों से वह बहुत कम मिलते थे। यहाँ तक कि वाजिद अली शाह के एक मुशायरे में एक प्रतिष्ठित आदमी के आने पर गए थे। वह अपनी कुलीनता और मरसिया लिखने के पेशे को सब से उत्तम समझते थे। वह अपने नियमों का बहुत दृढ़ता से पालन करते थे। उनकी वेश-भूषा और पहनावे का भी अपना विशेष ढंग था। इन सब बातों से उनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। एक बार हैदराबाद के नवाब तहौवर जंग ने उनकी जूतियां उनकी पालकी में उठा कर रखदी थीं। वह बहुत संतोष के साथ अपना जीवन व्यतीत करते थे। उन्होंने कभी लोभ-वश किसी बड़े आदमी की प्रशंसा नहीं की, अलबत्ता मरसिया के नाते से लखनऊ के अमीर-उमरा उनको काफ़ी धन भेंट कर दिया करते थे।

लखनऊ में शिया नवाबों के होने से मरसिया का बहुत आदर हुआ। मुहर्रम में शोक मनाने का समय दस दिन से चालीस दिन बढ़ा

दिया गया। अमीर और धनाढ्य लाग, विशेषतया

मरसिया के सर्व- शिया, श्रद्धा और भक्ति से ऐसी कविता का बड़ा प्रिय होने का कारण आदर करते थे। मुहर्रम में अवध के दरबार का

सब कारोबार स्थगित हो जाता था। जगह-जगह

मजलिसें होती थीं, जिनमें मरसिया में इमाम हसन और हुसेन के बध का वृतांत सुनकर श्रोतागण खूब रोते-धोते और छातियां पीटते थे। नवाब और अमीर लोग हर प्रकार के भोग-विलास की सामग्री त्याग कर

देते थे,क्योंकि इस एक महीनेमें इस प्रकार के सयंमसे यह समझा जाता था कि साल भर के पाप क्षमा हो जाँयगे। कुछ नवाब लोग भी मरसिया, सोज़, सलाम और रुबाइयाँ कहते थे। वाजिद अली शाह, अनीस और दबीर और ग़ाज़ी उद्दीन हैदर दबीर को बुलाकर मरसिया सुना करते थे।

अवध के राज्य के ज़ब्त होजाने के बाद भी अनीस ने लखनऊ नहीं छोड़ा था। उनकी धारणा थी कि इस नगर के बाहर उनकी रचना का यथोचित आदर न होगा।

पटना और हैदराबाद में अनीस की यात्रा

पर परिस्थितियों से विवश होकर सन् १८५९ और १८६० में वह पटना गए। दूसरी यात्रा से लौटते हुए वह बनारस में कुछ दिन ठहरे। फिर सन् १८७१ ई० में वह हैदराबाद गए और वहाँ से वापसी में कुछ दिनों इलाहाबाद में रुके। इन सब स्थानों में उन्होंने हज़ारों आदमियों की भीड़ में अपने मरसिये पढ़े। अनीस जब लखनऊ में मरसिया पढ़ते थे तो हज़ारों आदमी आस-पास के स्थानों से सुनने के लिए आया करते थे।

अनीस सन् १८७४ ई० में लखनऊ में मरे और अपने ही घर में दफ़न हुए।

अनीस पैदायशी शायर थे और शायरी अपने पुरखों से पाई थी। किसी घराने में इतने सिलसिलेवार शायर नहीं हुए और इसलिए यह स्वाभाविक था कि अनीस को अपने वंश पर गर्व था।

अनीस की कविता

वह बचपन ही से फ़ैज़ाबाद में कविता करने लगे थे पहले उन्होंने अपना उपनाम 'हज़ीं' रक्खा था जो एक प्रसिद्ध ईरानी शायर थे, शायद इस वजह से कि उनके पुरखा अली हज़ीं से मित्रता थी लेकिन लखनऊ में आकर नासिख़ के कहने से इन्होंने अपना उपनाम बदलकर 'अनीस' रख लिया। नासिख़ ने उनके होनहार कवि होने की भविष्यवाणी की थी। अनीस ने पहले ग़ज़ल लिखना आरंभ किया था। लेकिन पहले ही से उनका झुकाव मरसिया

लिखने की ओर था, जिसमें उनके पिता ने प्रसिद्धि प्राप्त की थी। अनीस अपने पिता के जीवनकाल ही में मरसिया लिखने में प्रसिद्ध होगये थे। फिर जब ख़लीक़ और ज़मीर का समय समाप्त होगया तब तो मरसिया का क्षेत्र अकेले दबीर और अनीस ही के हाथ में आ गया। फलतः इन दोनों कवियों ने बड़े उत्साह और लगन के साथ सैकड़ों मरसिये लिखे।

अनीस की रचनाएं

अनीस ने कई हज़ार मरसिये, सलाम, रुबाइयाँ और क़िते लिखे हैं। उनका कुल संग्रह प्रकाशित नहीं हुआ। लेकिन कहा जाता है कि उन्होंने २½ लाख पद्य लिखे हैं। उनकी कविता की पाँच जिल्दें छप चुकी हैं और शेष उनके घराने में सुरक्षित हैं। उनकी ग़ज़लों का भी एक दीवान है। उनके पढ़ने का भी ढंग बड़ा रोचक था। वह पहले एक बड़े आइने के सामने बैठकर पढ़ने का अभ्यास करते थे। अधिक लिखने पर भी वह एक बड़े सिद्ध-हस्त लेखक थे। उनकी रचना मसहफ़ी की तरह असम नहीं है, जिससे कविता भोंडी हो जाती है।

अनीस का स्थान उर्दू साहित्य में बहुत ऊँचा है। लोग उनको हिन्दुस्तान का शेक्सपियर, और उर्दू कविता का होमर, वरजिल और वाल्मीकि समझते हैं।

अनीस की सेवा उर्दू भाषा और मुहावरों के संबंध में

अनीस ने उर्दू भाषा की बड़ी सेवा की है। उन्होंने भाषा को माँजकर चमका दिया। उनकी रचना अपनी मिठास, शुद्धता और नवीन वाक्य-विन्यास के लिए प्रसिद्ध है। वह शुद्ध मुहावरों का बहुत ध्यान रखते थे और इस पर उनको बहुत गर्व था। उनका शब्दकोष बहुत विशाल था और वह चुन-चुनकर उपयुक्त शब्दों का उपयोग करते थे। उन्होंने उर्दू के शब्द-भंडार में बहुत से नये शब्दों को बढ़ाया और पुरानों के उचित उपयोग का ढंग बतलाया। आरंभ में उन्होंने कुछ पुराने मुहा-

वरों का इस्तेमाल किया था, लेकिन ज्यों-ज्यों अभ्यास और अनुभव बढ़ता गया, उनको छोड़ते गए। उनकी उर्दू लखनऊ और दिल्ली में प्रामाणिक मानी जाती है। ऐसा ही उनका घराना शुद्ध मुहावरों का रक्षक समझा जाता है। वह कहा करते थे कि लखनऊ वालों की परवाह न करके मैं मुहावरों का अपने परिवार के अनुसार उपयोग करता हूँ।

मीर हसन और मीर ख़लीक़ का संबंध आसफ़ुद्दौला की माता बहू-बेगम से था, जिनका घराना शुद्ध उर्दू का केन्द्र माना जाता था। फ़ैज़ाबाद में एक दफ़्तर था जिसमें बहू बेगम के महल के मुहावरे लेख-बद्ध होते थे और फिर उनका बाहर प्रचार होता था। इस कार्यालय के अध्यक्ष मीर हसन और मीर ख़लीक़ थे, जो शुद्ध मुहावरों के उस्ताद माने जाते थे।

अनीस की साहित्यसेवा

उर्दू साहित्य में अनीस का स्थान अपूर्व है। पहले उर्दू में होमर की इलियड, वरजिल की इनीड, व्यास का महाभारत, वाल्मीकि की रामायण और फ़िरदौसी के शाहनामा के सदृश्य कोई वीर रस की कविता न थी, क्योंकि उर्दू एक नवजात भाषा थी और ऐसी रचना के लिए समय चाहिये, लेकिन अनीस ने इस ओर ध्यान दिया। उन्होंने अपने मरसिये में पुरानी गाथा को लेकर उस पर नया रंग चढ़ाया। मरसियों में उनकी लंबी भूमिका बड़ी रोचक है। उन्होंने उसमें रणक्षेत्र का ब्योरा और युद्ध का ऐसा वृत्तांत लिखा है कि वह फ़िरदौसी के शाहनामा और निज़ामी के सिकन्दरनामा से टक्कर खाता है। उन्होंने घटना-स्थल का चित्र ऐसा खींचा है कि वह उर्दू में बिल्कुल नया है। उनका मनोभावों का चित्रण बहुत ही अपूर्व है जो उर्दू में और कहीं ढूढे से नहीं मिलता।

अनीस प्राकृतिक दृश्य की चित्रकारी में बड़े प्रवीण थे। ऐसा

वर्णन पृथक नहीं है, किन्तु मरसिया से संबद्ध है और इसलिए उसकी शोभा के लिए मानो आवरण-चित्र है, लेकिन बिना किसी हानि के उससे पृथक किया जा सकता है जिसमें उषाकालीन भोर, सूर्यास्त, सूर्योदय, चाँदनी रात तथा पश्चिमीय समीर का मंद-मंद गमन बड़ी सफलता के साथ व्यक्त किया गया है। ऐसे ही तारिकाओं का क्रमशः अस्त, सायंकालीन आकाश का धुंधला होकर अंधकार का प्रसरण, फूलों का विकास, वृक्षों की हरियाली आदि का वर्णन बहुत ही सुन्दर हुआ है।

अनीस का युद्ध-स्थल-वर्णन

अनीस को मानव-वर्ग के मनोभावों का ख़ूब ज्ञान था, जिनको उन्होंने अपनी कविता में दर्शाया है। हर्ष, शोक, क्रोध, प्रेम, स्पर्धा, शत्रुता तथा भय आदि का चित्रण बड़ी सफलता के साथ किया है। अपनी कहानी में उन्होंने जिन पात्रों की चर्चा की है, उनके पद को वह कभी नहीं भूले। बच्चों के विचार और उनकी भाषा को उन्होंने ख़ूब निबाहा है। वह कभी इस सूक्ष्म भेद को नहीं भूले और इस प्रकार से उन्होंने एक नाटककार की कला दिखलाई है। स्त्रियों के विविध संबंध जैसे वह किसी की भार्या, किसी की माता, किसी की बहन और किसी की चाची इत्यादि हैं, इस भेद को भी ख़ूब प्रदर्शित किया है।

आंतरिक मनोभावों का अनीस द्वारा चित्रण

रण-क्षेत्र, युद्ध, सेना का संचालन, एक दूसरे को उनकी ललकार, अस्त्र-शस्त्र और उनके वस्त्र आदि का वर्णन भी बड़े विस्तार के साथ किया गया है। उन्होंने तलवार और घोड़ों की प्रशंसा कई जगह की है और सब जगह नए रूप से वर्णन किया है।

रण-क्षेत्र, घोड़ों और अस्त्र-शस्त्र का वर्णन

अनीस कोई इतिहासकार नहीं थे, इसलिए उनके मरसियों में कुछ

कल्पित घटनाओं का भी समावेश है, पर उनकी भावना-शक्ति से मोहित होकर पिछले मरसिया-लेखकों ने भी उनको दुहराया है। यह सब होने पर भी अनीस की कविता बिल्कुल निर्दोष नहीं है। मौलवी अब्दुल ग़फ़ूर ख़ां 'नस्साख़' ने एक छोटी पुस्तक प्रकाशित करके अनीस और दबीर की कविता संबंधी तथा अन्य प्रकार की अनेक त्रुटियां दिखलाई हैं। इस पर अनीस और दबीर के अनुयाइयों ने पुस्तकें लिखकर उनका समाधान किया है। पर सच पूछिये तो सफ़ाई दोनों के मध्य में है। लेकिन यह भी याद रखना चाहिये कि इन दोनों कवियों के मरसिये मूल के अनुसार प्रकाशित नहीं हुए। पीछे कुछ लोगों ने उनमें परिवर्तन कर दिया है। कुछ प्रेस में कापी लिखने वालों ने भी ग़लतियां की हैं। कहीं पुराने मुहावरे भी हैं जो अब छोड़ दिये गये हैं। लेकिन फिर भी यह मानना पड़ेगा कि उनके मरसियों में समता नहीं है और कुछ पद्य तो ऐसे हैं जो इस प्रकार के परिपक्व कवियों के दर्जे से गिरे हुए हैं। लेकिन यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। जहाँ उन्होंने लाखों शेर कहे, वहाँ कहीं-कहीं ऐसी शिथिलता का होना कोई असाधारण बात नहीं है।

अनीस की लेखन-शैली

अनीस उपमा, रूपक आदि अलंकारों के बड़े प्रेमी थे, लेकिन उन्होंने निरर्थक अतिशयोक्ति और व्यर्थ बे सिर पैर की बातों का उपयोग नहीं किया, जो उस समय लखनऊ स्कूल की कविता में प्रचलित थी। यह सच है कि ऐसी बातों के लपेट से वह बिल्कुल बच भी नहीं सके, फिर उनके अलंकार मूल विषय के अनुसार हैं, जिनसे पद्य की शोभा बढ़ गई है। उनकी उपमायें सुन्दर, उच्चकोटि की और सुबोध हैं और उनका उपयोग उन्होंने ऐसे ढंग से किया है, कि उनका प्रभाव बड़ा चित्ताकर्षक हो गया है। बड़ी चीज़ों का उदाहरण छोटी चीज़ों से नहीं दिया गया। उपमायें मामूली और सड़ी-गली नहीं हैं। उन्होंने कभी ऐसे रूपक वा अलंकार का उपयोग नहीं किया, जो उनकी

योग्यता के अनुसार न हो उनकी रचना-शैली यथा-अवसर कहीं सरल और कहीं अतिरंजित है, पर हर जगह मार्जित और स्वच्छ है। भाषा का प्रवाह आश्चर्यजनक है। ओज, भावप्रवाह, सुन्दर वर्णन-शैली और शुद्ध मुहावरे उनके पद्यों के विशेष अंग हैं। उनका निर्दोष शब्द-विन्यास और स्वर माधुर्य दर्शनीय है। उनके पद्य साँचे में ढले हुए और मँजे हुए हैं और सहज ही समझ में आजाते हैं लेकिन यह सरलता कभी पद्य के सूक्ष्म भावों को छिपा भी देती है जैसे स्वच्छ जल गहरा हो जाता है तो ऊपर से देखने में उसकी गहराई का अनुमान नहीं होता। अनीस की शैली विषम नहीं है। उन्होंने एक ही बात को अनेक जगह वर्णन किया है, पर हर जगह उसमें नवीनता मालूम होती है।

उर्दू साहित्य के क्षेत्र में अनीस का बहुत ऊँचा स्थान है। उन्होंने लखनऊ स्कूल की बनावटी और परम्परागत कविता के वातावरण में सच्ची और मौलिक कविता की रचना की। उर्दू कविता के क्षेत्र में सच पूछिये तो हाली और आज़ाद की शैली

अनीस का स्थान

का उन्होंने सूत्रपात किया था। उन्होंने अपना मरसिया शस्त्र के रूप में छोड़ा, जिसका हाली ने बड़ी ख़ूबी के साथ इस्तेमाल किया। सबसे बड़ी विशेषता यह है कि अंगरेज़ी पढ़े लिखे लोगों में भी उनकी कविता बहुत प्रिय है, जो पुराने ढर्रे की लच्छेदार बनावटी उर्दू से ऊब गए हैं। उन्होंने अनीस के मरसियों में अकृत्रिम और शुद्ध कविता की झलक पाई जो सच्ची गर्माहट और वास्तविक व्यथा-वेदना से भरी हुई है। अनीस की कीर्ति उनके जीवनकाल ही में लखनऊ और दिल्ली में फैल गई थी और अब तक फैली हुई है। जब तक उर्दू साहित्य उन्नत होता जायगा उनका यश बराबर बढ़ता जायगा।

मिर्ज़ा सलामत अली उपनाम 'दबीर' सन् १८०३ में दिल्ली में पैदा

हुए थे। उनके पिता का नाम मिर्ज़ा ग़ुलाम हुसैन था, उनकी कुलीनता के विषय में बहुत वाद-विवाद हुआ और यह सिद्ध करने का उद्योग किया गया कि वह प्रतिष्ठित वंश के थे। लेकिन इसमें संदेह नहीं कि उनके घराने का बड़ा सम्मान था और पिछले ज़माने में उसका बड़ा प्रभाव था। उनके पिता दिल्ली के उजड़ने के बाद लखनऊ चले आये और यहीं विवाह करके बस गये। पीछे जब वहाँ कुछ शांति हुई तब फिर दिल्ली चले गये। लेकिन दबीर सात वर्ष की अवस्था में लखनऊ आये और यहीं उनकी भरपूर शिक्षा हुई और वह पठनपाठन तथा विद्वानों के साथ वाद-विवाद के बड़े प्रेमी थे, इससे उनकी बुद्धि बहुत प्रखर हो गई। उनको मरसिया लिखना बहुत प्रिय था, अतः इस कला के सीखने के लिये वह मीर ज़मीर के शार्गिद हो गये, जो ख़लीक़ के समकालीन थे। दबीर अपनी प्रखर प्रतिभा से थोड़े ही दिनों में मर-सिया लिखने में बहुत प्रवीण हो गए, जिसकी उनके उस्ताद तथा अन्य कवियों ने भूरि-भूरि प्रसंशा की। कालांतर में वह मरसिया लिखने में बहुत प्रसिद्ध हो गये। मिर्ज़ा रजबअली बेग सुरूर ने 'फ़िसाना अजायब' में उस समय के नामी मरसिया लेखकों में दबीर की भी चर्चा की है। दबीर की कीर्ति बराबर बढ़ती गई, यहाँ तक कि नवाब ग़ाज़ीउद्दीन हैदर और वाजिदअली शाह उनको मरसिया पढ़ने के लिये निमंत्रित करते थे। बहुत अमीर उनके शिष्य बने और अंतःपुर की महिलायें उनकी शिष्या हो गईं। अब वह उर्दू-भाषा के बड़े उस्ताद प्रसिद्ध हो गये। एक बार नवाब इफ़्तख़ारुद्दौला की मजलिस में मरसिया पढ़ते समय उन कवियों ने, जिनका सम्मान इनके समान न था, डाह के मारे, इनके और इनके उस्ताद के बीच में कुछ वैमनस्य उत्पन्न कर दिया था, लेकिन मामला अधिक नहीं बढ़ा, जल्दी ही शांत हो गया। वह अपने उस्ताद का बड़ा सम्मान करते थे और किसी को उनके विरुद्ध बोलने नहीं देते थे।

दबीर (१८०३-१८७५)

अनीस जब फ़ैज़ाबाद से आए तब उसके पहले दबीर का रंग लखनऊ में जम चुका था, अब दोनों कवियों में प्रतिस्पर्द्धा उत्पन्न हुई, जिससे उनकी कविता और जग उठी। इस लाग-डाट में उन्होंने मसहफ़ी और इंशा की तरह कभी सभ्यता की सीमा का उलंघन नहीं किया। दोनों में मित्रभाव था और एक दूसरे का आदर करते और कभी-कभी एक ही मजलिस में दोनों मरसिया पढ़ते थे।

सन् १८७४ ई० में मिर्ज़ा दबीर अंधे हो गए थे। लेकिन वाजिद अली शाह ने उनको कलकत्ते में बुलाकर इलाज कराया, जिससे वह फिर देखने लगे। अनीस की तरह उन्होंने भी अवध की ज़ब्ती के बाद लखनउ नहीं छोड़ा वह सन् १८५८ में मुर्शिदाबाद और उसके दूसरे वर्ष पटना गए थे। उसके पश्चात् लखनऊ में सन् १८७५ में उनका देहांत होगया और अपने ही घर में दफ़न हुए।

मिर्ज़ा दबीर मरसिया लिखने में बड़े उस्ताद थे और जीवन पर्यंत वही लिखते रहे। उन में अनीस के बहुत से गुण थे, लेकिन वह भड़कीले शब्दों के बड़े प्रेमी थे। उनके पद्य ख़ूब प्रवाहयुक्त, ओजपूर्ण और कर्ण-प्रिय हैं। उन्होंने कल्पना की उड़ान और नवीन मुहावरों की ओर अधिक ध्यान दिया लेकिन कभी-कभी विषय को देखते हुए वह अपने इस उद्देश्य में सफल-मनोरथ नहीं हुए। उनकी रचना में एक धुरंधर विद्वान् की झलक दिखलाई पड़ती है। वह अपने मरसियों में बहुधा अरबी के शेरों और क़ुरानी आयतों का पैवंद बड़ी कुशलता के साथ जोड़ देते थे, जिससे उनकी रचना बड़ी प्रभावशाली हो जाती थी। वह आशु कवि भी थे। उनके विचारों की उपज अद्भुत थी। सारांश यह कि वह अपनी सजीव और अनोखी उपमायें, ऊँची उड़ान के रूपक, ध्वन्यात्मक शब्द, सुचारु वर्णनशैली, तीव्र प्रतिभा, विचित्र कल्पना तथा आशु कविता इत्यादि गुणों के कारण अनीस के अतिरिक्त, उर्दू कवियों के शिरोमणि थे।

लखनऊ में इन दोनों कवियों की प्रतिद्वंदिता से 'अनीसिए' और 'दबीरिए' के नाम से दो पृथक-पृथक दल बन गए थे। इनका परस्पर वाद-विवाद बहुधा हास्यप्रद और व्यर्थ हो जाता था। लेकिन एक इतिहासकार का यह कर्तव्य नहीं है कि वह उनकी विवेचना में पड़े। दोनों कवियों की तुलना बड़ी रोचक और शिक्षाप्रद है।

अनीस और दबीर की तुलना

दोनों लग-भग एक ही समय में रहे, एक ही समय पैदा हुए और एक ही वर्ष के भीतर दोनों का देहांत हुआ। दोनों ने एक ही विषय पर कविता की और एक ही वायुमडंल में रहे। दोंनों ने विस्तार से लिखा और दोनों माने हुए उस्ताद थे। लेकिन अनीस की कविता उनकी पैतृक संपत्ति थी। दबीर को ऐसा सौभाग्य प्राप्त नहीं था। दोनों अपनी अपनी कला के उस्ताद थे। अनीस ने भाषा की स्वच्छता, माधुर्य, प्रवाह, वर्णनशैली में पटुता तथा मुहावरों की चारुता की ओर अधिक ध्यान दिया है। दबीर के यहाँ नई-नई सूझ, कल्पना की उड़ान, विलक्षण उपमायें और शब्दाडंबर बहुत हैं। मार्जन अनीस की ओर और अलंकार दबीर के हिस्से में है। इसमें संदेह नहीं कि अनीस के शेरों में भद्दी पद-योजना और एंच-पेंच के रूपक नहीं हैं, जो मिर्ज़ा के यहाँ बहुत हैं। इसका कारण दबीर की विशाल विद्वत्ता रही होगी, जिससे उन्होंने मौलिकता की ओर अधिक ध्यान दिया है औा मूल शब्दों तथा मुहावरों को अधिक झाड़ा-पोंछा नहीं। दूसरी ओर अनीस को किताबी विद्या की न्यूनता से उनकी रचना अधिक स्पष्ट होगई है।

' सच तो यह है कि एक को दूसरे पर चढ़ाना व्यर्थ है और यह अपनी-अपनी रुचि पर निर्भर है। आजकल कुछ लोगों की यह बान हो गई है कि अनीस के समक्ष दबीर की हीनता सिद्ध की जाय। लेकिन इसका निर्णय इन दोनों कवियों के समकालीन अमीर और असीर ने यह लिखकर दिया है कि दबीर भी अनीस के समान मरसिये के उस्ताद

थे। दबीर की कीर्ति उन्हीं के समय में फैल गई थी और उनका महत्व इसीसे प्रकट है कि वह 'उस्ताद' के नाम से विख्यात थे।

मरसिया से उर्दू-कविता में क्या सुधार हुआ ?

यह पहले बतलाया जा चुका है कि सब से पहले मीर ज़मीर द्वारा मरसिया में अनेक नई-नई बातों का समावेश हुआ, जैसे रण-क्षेत्र का विस्तृत वर्णन, घोड़े और तलवार इत्यादि की प्रशंसा। उन्होंने भद्दे शब्दों और पद-योजना को छोड़ दिया, जिनको पुराने मरसिया-लेखक व्यवहार में लाते थे। अनीस और दबीर ने इस कला को अधिक उन्नत किया। एक विशेष परिवर्तन यह हुआ कि मरसिया मुसद्दस (षट्पदी) में लिखी जाने लगी। मौलाना आज़ाद, हाली और मु० दुर्गा सहाय सुरूर ने मरसियों के इसी ढंग का अनुसरण किया है।

उर्दू कविता में सबसे बड़ा सुधार यह हुआ कि लखनऊ की पुराने ढंग की बनावटी और अश्लील कविता में मरसिया ने वही काम किया जो मरुभूमि में हरयाली करती है। मरसिया में उस सच्ची कविता की झलक है, जो ऊँचे भावों को उत्तेजित करती है। मरसिया चाहे कला की दृष्टि से कितनी ही गिरी हुई हो, फिर भी उसका विषय ऊँचा और पवित्र होगा और इसलिए उर्दू कविता के सुधार के लिए उसकी बड़ी आवश्यकता थी। कवि ग़ज़ल लिखने में चाहे जो कुछ ऊटपटांग कह जाय, परन्तु मरसिया लिखने में वह अवश्य गंभीर और सदाचारी होने के लिए विवश होजायगा, क्योंकि उसमें वीर रस का प्रतिपादन करना पड़ेगा, जिसकी विस्तृत व्याख्या पीछे की जा चुकी है। उर्दू साहित्य में ऐसी वीर रस-पूर्ण कविता की बड़ी आवश्यकता थी। उर्दू मरसियों ने वीरता का ऐसा चित्र उपस्थित किया है कि संसार की ऐसी रचनाओं से उसकी तुलना हो सकती है। उर्दू भाषा की भी मरसिया ने बड़ी सेवा की है। अनीस और दबीर के पाँच लाख शेरों से उर्दू के शब्दभंडार में बहुत

से नए नए शब्द और मुहावरों की वृद्धि हुई है, तथा बार बार उनके उपयोग से बहुत से प्रचलित शब्द धुल-मँज कर स्वच्छ होगये हैं।

मरसिया एक आदर्श कविता है, जिससे उर्दू का साहित्य संकुचित क्षेत्र बहुत विस्तृत होगया है, बल्कि यों कहिये कि उर्दू के शस्त्रागार में यह एक बहुत बड़ा हथियार है।

प्रसंगवश उस समय के अन्य मरसिया लेखकों की चर्चा की जाती है। दिलगीर और फ़सीह के विषय में ऊपर लिखा जा चुका है। 'मिस-

अन्य मरसिया लेखक

कीन' भी एक लोक-प्रिय मरसिया-लेखक थे, परंतु उनके जीवन के विषय में बहुत कम जानकारी है सिवा इसके कि उनका नाम मीर अब्दुल्ला था। बात यह है कि अनीस, दबीर और इश्क़ के प्रज्व-लंत कविता के सामने अब्दुल्ला की कीर्ति मंद पड़ गई थी। उस समय के अन्य मरसिया लेखकों में अफ़सुरदा, नाज़िम, सिकंदर, गदा और अहसन का नाम लिया जा सकता है।

यह बात उल्लेखनीय है कि विद्या और कविता अनीस के घराने में परंपरा से चली आती थी और अब तक वह आग बुझी नहीं।

अनीस का परिवार

कविता का दीपक पिता से पुत्र को निरंतर मिलता रहा और वह अब तक प्रज्वलित है। मीर अनीस का वंश-वृक्ष इस प्रकार है:—

मीर इमामी
|
मीर अज़ीज़ुल्ला
|
मीर ज़ाहक
|
मीर हसन
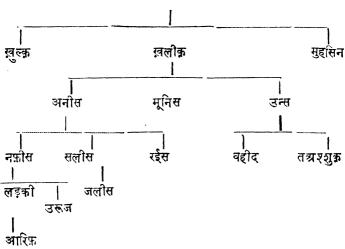
अब इनमें से निम्नलिखित लोगों का संक्षेप से वर्णन किया जाता है।

मीर मूनिस

अनीस के छोटे भाई, मीर महम्मद नवाब मूनिस भी अच्छे मरसिया-लेखक थे। लेकिन अनीस के विख्यात होने से उनकी कविता दब गई और उन्होंने विश्राम ले लिया। वह मरसिया बहुत ही अच्छा पढ़ते थे। महमूदाबाद के राजा अमीर हसन खां मरसिया में मूनिस के शिष्य थे, और उनको अच्छी तन्ख़ाह देते थे। सन् १२९२ हिजरी में वह निस्संतान मर गए।

मीर नफ़ीस

मीर ख़ुरशेह अली 'नफ़ीस' भी मीर अनीस के योग्य पुत्र थे। वह अपने भाइयों सलीस और रईस से अधिक प्रसिद्ध हुए। अपने पिता के शिष्य थे। अपने परिवार की प्रथानुसार उन्होंने बहुत नाम पैदा किया। वह बड़े साहित्यिक थे। उन्होंने बहुत से मरसिये और अन्य प्रकार की कविता लिखी। सन् १९०१ ई० में पचासी वर्ष की अवस्था में उनका शरीरपात हुआ।

सैयद अली महम्मद 'आरिफ़', सैयद महम्मद हैदर के लड़के थे, जिनके पिता ने मीर नफ़ीस की पुत्री से विवाह किया था। इनका जन्म सन् १८५६ ई० में हुआ था। नफ़ीस ने इनको शिक्षा दिलाई और कविता सिखलाई। महमूदाबाद के महाराजा सर महम्मद अली महम्मद ख़ां इनके शिष्य थे और इन्हें एक सौ पच्चीस रुपया वेतन दिया करते थे। यह मरसिया लिखने में बहुत प्रसिद्ध थे और लखनऊ के साहित्य मंडल में इनका बड़ा मान था। उर्दू-भाषा के यह एक प्रमुख कवि माने जाते थे। इनके मरसिये बड़े प्रभावशाली और चित्ताकर्षक हैं। इनके मरसियों में मूल कथा की ओर अधिक ध्यान दिया गया है। प्यारेसाहब ने रशीद के समान भूमिका और वसंत ऋतु इत्यादि का वर्णन छोड़ दिया है। इनका देहांत सत्तावन वर्ष की अवस्था में सन् १३३४ हि० में हुआ था।

आरिफ़

सैयद अबू महम्मद 'जलीस' मीर सलीस के पुत्र और रशीद के शिष्य थे। वह बड़े होनहार थे। लेकिन जल्दी ही सन् १३२५ हि० में दिवंगत हुए। उन्होंने मरसिये और ग़ज़लें लिखी हैं, जिनसे उनका नाम चल रहा है। अन्य मरसिया लेखक इस घराने के 'उरूज', 'फ़ायक़', 'हसन' और 'क़दीम' हैं।

मीर जलीस

दूसरा घराना प्रसिद्ध मरसिया लेखकों का सैयद मिर्ज़ा उन्स का है। अतः उनके यहां के कुछ व्यक्तियों का वर्णन किया जाता है।

सैयद मिर्ज़ा उन्स इस परिवार की वंशावली इस प्रकार है।
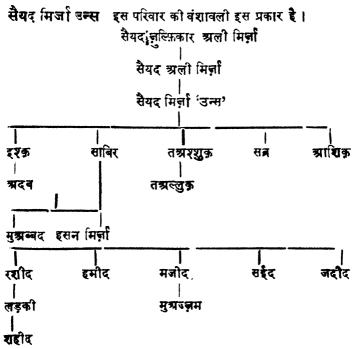
उन्स का दीवान प्रकाशित नहीं हुआ, उनके घराने में सुरक्षित है। वह प्रति रविवार के दिन अपने घर पर मुशायरे करते थे, जिसमें बड़े-बड़े शायर जमा होते थे, जैसे क़लक़, बह्र, असीर, मीर कल्लू, अर्श, फ़लक इत्यादि। उन्स को नवाबी दरबार से एक सौ रुपया महीना वेतन मिला करता था। सन् १८५७ के ग़दर के बाद उन्स को अपनी जीविका की चिंता हुई। अतः अपने मित्र मुनौवरुद्दौला के द्वारा, महम्द अली शाह की बेगम नवाब मलका जहान की ड्योढ़ी के दारोग़ा हो गए, जहां उन्हों-ने बड़ी मुस्तैदी के साथ अपना कर्तव्य पालन किया और इसलिए वहां उनका बहुत आदर था। पीछे सन् १२७५ हि० में रामपुर के नवाब

कल्बअली ख़ां ने अपने उस्ताद अमीर मीनाई को भेजकर, उन्स को अपने यहां बुला लिया। तदनुसार उन्स वहां गए, लेकिन बहुत थोड़े दिन ठहरे। सन् १३०२ हि० में ९५ वर्ष की अवस्था में उनकी मृत्यु हो गई।

उनकी कविता के विषय में बहुत कम जानकारी है, क्योंकि उनकी इच्छानुसार दीवान प्रकाशित नहीं हुआ। वह बड़ी सुविधा के साथ ओजपूर्ण कविता करते थे।

यह भी अपने समय के प्रसिद्ध मरसिया लेखक थे। यह अनीस और दबीर के समकालीन थे और उन्हींके समान इनका भी बहुत आदर-सत्कार था। यह अपनी कला के उस्ताद थे और इनकी

हुसैन मिर्ज़ा इश्क़

कविता निर्दोष है, परंतु आश्चर्य यह है कि इनकी रचना के अनुकूल इनकी प्रसिद्धि नहीं हुई। इनके पौत्र असकरी मिर्ज़ा मुअद्दब भी अच्छे मरसिया-लेखक थे और अपने चचा रशीद के शिष्य थे।

यह मरसिया और ग़ज़ल के उस्ताद थे। यह लखनऊ में सैयद साहब के नाम से प्रसिद्ध थे। तअश्शुक़ बहुत दिनों तक करबला में रहे, क्योंकि अपने भाई इश्क़ के यह प्रतिद्वंद्वी

सैयद मिर्ज़ा तअश्शुक़

कहलाना पसन्द नहीं करते थे। वह दो बार करबला गए और अपने भाई की मृत्यु पर लौटे। लोगों ने उनकी उत्तम कविता की भूरि-भूरि प्रशंसा की। उन्होंने मरसिया और ग़ज़लें खूब लिखीं। वह यों तो नासिख़ के शिष्य थे, लेकिन उनके पद्य विचारों की क्षमता, लेखन-शैली के सौंदर्य और भावुकता में बहुत ऊँचे दर्जे के हैं। तअश्शुक़ के पक्षपातियों ने बहुत बढ़ा-चढ़ाकर उनकी सराहना की है, पर बाद के लोग उनकी कविता से अधिक प्रसन्न नहीं हुए। लेकिन यह मानना पड़ेगा कि वह एक जन्म-सिद्ध कवि थे और उनके पद्य गरमाहट और कथा-वेदना

से भरे हुये हैं और इसलिए मरसिया और ग़ज़ल लिखने में वह अपने समय के कवियों में बहुत बढ़े-चढ़े थे। मीर अनीस के वह बहुत बड़े मित्र थे। सन् १३०६ हि० में वह सत्तर वर्ष के होकर मरे।

जैसा कि वंशवृक्ष से प्रकट है यह प्यारे साहब रशीद के पिता थे, जिनकी चर्चा आगे आयेगी। साबिर का विवाह सन् १२६३ ई० में अनीस की कन्या से हुआ और इस प्रकार से

अहमद मिर्ज़ा साबिर

अनीस और उन्स का घराना संयुक्त हो गया। वाजिद अलीशाह के यहाँ से उनको पेंशन मिलती थी और वह नवाब मलका जहान की ड्योढ़ी के दारोग़ा थे। वाजिद अलीशाह उनका बहुत आदर करते थे और उनकी बेगम ज़ुहरामहल के घरेलू कारोबार का अफ़सर बना दिया था। साबिर वाजिद अलीशाह के पद्य-बद्ध प्रेम-पत्र का उसी ढंग से उनकी बेगम की ओर से उत्तर लिखा करते थे। सन् १३११ हि० में बहत्तर वर्ष की अवस्था में उनकी मृत्यु हो गई।

सैयद मुस्तफ़ा मिर्ज़ा उपनाम प्यारे साहब, जिनका कवि नाम 'रशीद' था सन् १२२३ हि० में पैदा हुए थे। उस समय के अनुसार उनकी शिक्षा हुई। मीर अनीस के पुत्र, मीर

प्यारे साहब 'रशीद'

असकरी के कन्या से उनका विवाह हुआ। वह शिया संप्रदाय के थे। कविता में वह अपने चाचा इश्क़ के शिष्य थे, लेकिन कभी-कभी वह अपनी ग़ज़लें मीर अनीस को भी दिखलाया करते थे। इश्क़ की मृत्यु के बाद वह अपनी कविता के संबंध में तअश्शुक़ से सलाह लिया करते थे। अतः ग़ज़ल और मरसिया में रशीद और तअश्शुक़ की शैली से बहुत प्रभावित हुए। रशीद ने भाषा की ओर अधिक ध्यान दिया और अनीस के मार्ग का अनुसरण किया। उन्होंने मरसिये, ग़ज़लें, सलाम और रुबाइयां बहुत लिखीं। उन्हों ने कसीदे भी लिखे, लेकिन बहुत कम। उनकी ग़ज़लें

माधुर्य, प्रवाह और मुहावरों की शुद्धता की दृष्टि से बहुत अच्छी हैं, लेकिन भावुकता की गहराई नहीं है और न नये विचार हैं। उन्हों ने फ़ारसी शब्द-संगठन को पसंद नहीं किया। उन्हों ने ग़ज़लों के सांचे में सलाम लिखे हैं। वह रुबाइयों के लिखने में निपुण थे। उनकी रूबाइयों का संबंध अधिकांश पुराने समय से है और वह बड़ी प्रखर और करुण-रस से परिपूर्ण हैं। वह मरसिया लिखने में अग्र-गण्य थे। इसकी कला उन्हों ने दाय भाग में पाई थी। उन्हों ने मरसिया में 'साक़ीनामा' और 'बहार' यह दो विषय और बढ़ाये। इस से मरसिया अधिक साहित्यिक बन गया, लेकिन इससे मरसिये का भक्ति भाव नष्ट नहीं होने पाया। यह मानना पड़ेगा कि अनीस, दबीर और नफ़ीस ने इस प्रकार का वर्णन अपने मरसियों में कहीं-कहीं थोड़ा-बहुत किया है, परन्तु रशीद ने उसको बहुत बढ़ाकर लिखा है।

सन् १८९४ ई० में रशीद ने नवाब रामपुर के सामने मरसिया पढ़ी थी। वह पटना भी गए थे, जहां उनके मरसिया पढ़ने पर ख़ूब वाह-वाह हुई। नवाब बहरामुद्दौला के निमंत्रण पर वह हैदराबाद भी गए थे, जहां उनको निज़ाम के सामने मरसिया पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। निज़ाम ने बहुत प्रशंसा की और रशीद का बहुत आदर-सत्कार किया। रशीद कलकत्ता, सलीमपुर और कानपुर भी गए थे। अंत में सन् १३३८ ई० में चौहत्तर वर्ष के होकर शरीर का त्याग किया। उन्हों ने अनेक शागिर्द छोड़े, जिनमें से प्रसिद्ध उनके भाई सैयद बाक़र साहब हामिद जो सन् १३३९ हि० में मरे, तथा मुअद्दब, प्रोफ़ेसर नासरी, जलीस, और अशहर थे, जिन्होंने रशीद, शदीह, नाज़िम और फ़रहाद की जीवनी लिखी है।

रशीद का स्थान लखनऊ के साहित्यिक जगत् में सब से ऊँचा था और वह उर्दू-भाषा के अधिकारी कवि माने जाते थे। उन्हों ने मरसिया

और ग़ज़ल दोनों की रचना बड़ी प्रशंसनीय और सफलता के साथ की है।

दबीर ने एक योग्य पुत्र छोड़ा, जिनका नाम मिर्ज़ा महम्मद जाफ़र उपनाम 'औज' था। उन्होंने मरसिया लिखने में अपने पिता का अनुकरण किया। उनको पटना, हैदराबाद और रामपुर के दरबारों तथा अवध के शिया अमीरों से बहुत इनाम-इकराम मिला। वह बड़े विद्वान् थे और छन्द-शास्त्र में पारंगत थे। इस विषय पर उन्हों ने एक प्रबंध भी प्रकाशित किया है। उन्हों ने भी जहीद, आरिफ़ और रशीद के साथ निजाम हैदराबाद के सामने मरसिया पढ़ा था।

दबीर का घराना। 'औज'

मरसिया की तरह एक दूसरे विषय की कविता 'नआत' कहलाती है। इसमें मुहम्मद साहब की प्रशंसा होती है। बहुत-से कवियों ने भक्ति-भाव से प्रेरित होकर इस विषय पर पूरा दीवान लिखा है, जिनमें से अमीर मीनाई और मुहसिन का कोरवी के नाम विशेषतया उल्लेखनीय हैं।

नआत

ग्यारहवाँ अध्याय

नज़ीर अकबराबदी और शाह नसीर देहलवी

इनका सम्बन्ध कवियों के विशेष काल से नहीं है और उनकी नज़ीर अकबराबादी रचना की भी एक विशेष शैली है। अतः इनकी चर्चा अलग की जाती है।

नज़ीर दिल्ली नरेशमहम्मदशाह द्वितीय के राज्यकाल में लगभग उस समय पैदा हुये थे जब नादिरशाह ने दिल्ली पर आक्रमण किया था। इसलिए वह मीर और सौदा के समकालीन कहे जा सकते हैं। लेकिन वह बहुत दिनों तक जीवित रहे। इसलिए उन्होंने इन्शा, जुरअत और नासिख़ का समय देखा। यह उनकी विशेषता है कि दीर्घजीवी होने के कारण उन्होंने विविध काल के कवियों को देखा। उनकी रचना-शैली भी विचित्र है। पुरानों में उनकी गिनती इसलिये नहीं हो सकती कि उनकी बहुधा कविता आधुनिक काल की मालूम होती हैं। वह दिल्ली के मध्य कालीन कवियों में भी नहीं लिए जा सकते, क्योंकि इनकी कविता में स्वतंत्रता अधिक है और इनके और उनकी रचनाओं में आकाश-पाताल का अन्तर है। लखनऊ की पुरानी शैली तो इनकी कविता में छू तक नहीं गई, क्योंकि उस में बनावट और रंगीनी तनिक भी पाई नहीं जाती। इसी प्रकार आधुनिककाल के कवि ग़ालिब, ज़ौक़ और मोमिन इत्यादि से यह बिलकुल अलग हैं, इसलिए कि उनके यहां अत्यन्त सादगी है। फ़ारसी शब्दों और उनके संगठन की ओर उनकी रुचि न थी।

नज़ीर का असली नाम वलीमहम्मद और पिता का नाम महम्मद फ़ारूक़ था। नज़ीर दिल्ली में पैदा हुए थे, अपने पिता की बारह संतानों में केवल यही बचे थे। इसलिए पिता का इन पर बहुत स्नेह था। अहमद-शाहअब्दाली के हमले के समय नज़ीर अपनी माता और नानी को लेकर

आगरे चले आए और वहां ताजगंज में बस गए। वहीं इनका विवाह तहव्वर बेगम नामक एक स्त्री से हुआ, जिसके पिता का नाम महम्मद रहमान था। उससे एक लड़का ख़लीफ़ा गुलज़ार अली और एक लड़की इमामी बेगम पैदा हुई।

नज़ीर साधारण फ़ारसी और कुछ अरबी जानते थे तथा सुलेखक भी थे। सुन्दर लेखन-कला का उस समय बहुत आदर था। नज़ीर में संतोष की मात्रा इतनी अधिक थी कि उन्होंने लखनऊ के नवाब सआदत अली खां के निमन्त्रण आनेपर और इसी प्रकार भरतपुर जाने से इन्कार कर दिया था। पहले वह मथुरा गए थे, जहाँ किसी के यहां पढ़ाने की नौकरी करली थी, लेकिन जल्दी ही आगरा लौट आए, जहां लाला विलास राम के लड़के को सत्रह रुपये पर पढ़ाने लगे।

अंत में उनपर फ़ालिज गिरा, जिससे १६ अगस्त १८३० ई० को उनका देहांत हो गया, जैसा कि उनके एक शिष्य की तारीख़ (काल-सूचक पद्य) से मालूम होता है। लायल साहब उनका मृत्यु-काल सन् १८३२ बतलाते हैं, लेकिन इसका कोई प्रमाण नहीं देते।

नज़ीर बड़े मिलनसार आदमी थे। विविध प्रकार के लोगों से ख़ूब मिलते जुलते थे। उनका अनुभव बहुत विशाल था, जिससे उन्होंने अपनी कविता में बहुत लाभ उठाया। वह संगीत और सैर-तमाशे के बड़े प्रमी थे तथा बहुत ही सहन-शील और नम्र आदमी थे। साथ ही बड़े हंसमुख और विनोद-प्रिय भी थे। किसी से उनको द्वेष न था। फलतः हिन्दू-मुसलमान सब उनको मानते थे तथा उनसे प्रेम रखते थे।

युवावस्था में अलबत्ता वह बड़े रसिया थे। कहा जाता है कि उनकी रचना में जितनी अश्लीलता है, वह उसी समय की है। यह भी प्रसिद्ध है कि उस समय मोती नामक एक वेश्या से उनका संबंध हो गया था। अतः उसी समय के चित्र होंगे जो उनकी रचना में पाये

जाते हैं। यदि विचार-पूर्वक देखा जाय तो अश्लीलता को पृथक् करके उनकी कविता में उस समय के समाज का सच्चा चित्र मौजूद है, जिसमें वह मिलते-जुलते थे। लेकिन बुढ़ापे में यह सब बातें बदल गई थीं और वह पिछले पापों से पश्चात्ताप करके ख़ासे 'सूफ़ी' बन गए थे। उनकी उस समय की कविता बहुत ही प्रशंसनीय और प्रभावशाली है। उन्हों ने लिखा बहुत है। कहा जाता है दो लाख से अधिक शेर उन्हों ने बनाये थे, लेकिन वह सब नष्ट हो गए। इस समय जितना है वह कोई छः हज़ार से अधिक नहीं है जो लाला विलास राम की कापियों से उतार लिए गए हैं, क्योंकि स्वयं नज़ीर को अपनी रचना सुरक्षित रखने की परवाह न थी।

नज़ीर उपदेशक के रूप में

यदि नज़ीर की कविता में से साधारण और ख़ुराफ़ात पद्य निकाल डाले जांय तो उनकी गिंती बड़े-बड़े दार्शनिक और उपदेशक कवियों में हो सकती है। उनके शेरों से ऐसा जान पड़ता है कि कोई सिद्ध संत संसार की असारता पर बल-पूर्वक व्याख्यान दे रहा है और परलोक के जीवन की हमको शिक्षा दे रहा है, जो सर्वथा निर्दोष है। उनके दस-ग्यारह पद्य ऐसे रोचक और प्रभावशाली हैं जिनको बहुधा साधु और फ़क़ीर लोग स्वर के साथ पढ़कर हमारे हृदय को विचलित कर देते हैं। इस प्रकार के पद्यों में नज़ीर संसार के क्षण-भंगुर होने का पूरी तरह से उपदेश देते हैं। वह दान-दक्षिणा को अच्छा समझते हैं और इह लोक को परलोक की खेती समझते हैं। उनकी उपमाएं बड़ी रोचक और चित्ताकर्षक हैं। उनके पद्य 'मौत पर' और 'बंजारा नामा' घमंडी लोगों के लिए कोड़े के समान हैं। वह उनको सचेत करता है कि दुनिया नश्वर है, परलोक की चिंता करो। नज़ीर की तुलना इस विषय में शेख़ सादी से ख़ूब हो सकती है, क्योंकि दोनों की रचना स्पष्ट, सरल और दोनों में अध्यात्मवाद की छटा है। दोनों श्रृंगार

रस के उत्साह और अपनी-अपनी जगह पर अपने रंग में नीति के उपदेशक भी हैं। नज़ीर सूफ़ी विचार के थे, अतः साम्प्रदायिक भेद-भाव और धार्मिक नियमों से मुक्त थे। उनका सूफ़ियाना कविता बहुत ही उच्च कोटि की हैं और इसलिए उनकी तुलना अन्य भाषा के अच्छे-से अच्छे किसी ऐसे कवि से हो सकती है। वह 'एक से अनेक' के सिद्धांत को हृदय से मानने वाले थे और 'बा मुसलमां अल्लः अल्लः, बा बरहमन राम राम' के अनुसार उनका व्यवहार था। इसी कारण से हिंदू और मुसलमान दोनों को उनसे प्रेम था और दोनों उनको अपना गुरू समझते थे। जब उनकी मृत्यु हुई तो उनकी अरथी के साथ हज़ारों हिंदू भी गए थे। नज़ीर गुरु नानक जैसे त्यागी साधुओं के कवि थे जो लोगों को सांसारिक बंधनों में अधिक न फंसने की शिक्षा देते थे। अंग्रेज़ी कवियों में यही हाल वर्ड्स वर्थ का था।

नज़ीर के स्वतंत्र विचार, विशाल अवलोकन, और सङ्कीर्णता से घृणा इत्यादि ऐसे विशेषण हैं, जिन्होंने उनकी कविता को ऐसा चित्ताकर्षक बना दिया है कि अन्य कवियों के यहां मिलना कठिन है।

नज़ीर की सहानुभूति और प्रेम मनुष्य मात्र ही तक सीमित नहीं है, किंतु वह पशुओं, पक्षियों और निर्जीव वस्तुओं से भी प्रेम रखते हैं।

नज़ीर वस्तुतः एक हिंदुस्तानी कवि के रूप में

उनके पद्य जैसे 'रीछ का बच्चा' 'गिलहरी का बच्चा' 'पशुओं की लड़ाई' 'हिरण का बच्चा' और 'बुलबुलों की लड़ाई' आदि ऐसे रोचक और विस्तार से पूर्ण हैं कि पाठक को उनकी साधारण जानकारी और विस्तृत ज्ञान पर आश्चर्य होता है तथा उनकी कविता 'कबूतर बाज़ी' 'पंतग बाज़ी और 'तरबूज़' (क्या वक्त था वह जब थे हम दूध के चटोरे) और (क्या दिन थे वह भी यारो जब हम थे भोले भाले) तथा होली, दीवाली बसन्त और ईद इत्यादि को पढ़कर लोग आनंदित हो जाते है। नज़ीर जीवन के आनंद को ख़ूब भोगते थे।

वह हिन्दू-मुसलमानों के त्यौहारों में सम्मिलित होते थे और उनके मेले-ठेले की ख़ूब सैर करते थे। यह सच है कि ऐसे सैर-तमाशों में वह कभी सभ्यता की सीमा उलंघन कर जाते थे, फिर भी वह उन चीज़ों से लाभदायक तत्व और नीति विषयक परिणाम निकाल लिया करते थे, जैसा कि शेक्सपियर का कथन है कि 'पत्थर से उपदेश सुनते हैं और हर चीज़ में अच्छाई देखते हैं।' उन में यह विशेषता थी कि दुनिया के विविध व्यापार और खेल तमाशों का वृत्तांत इस मज़े से उन्मत्त होकर लिखा है, मानों बच्चों की तरह स्वयं उनमें सम्मिलित होकर रहे हों तथा साधारण चीज़ों का ऐसे रोचक विस्तार के साथ वर्णन किया है कि बिना प्रशंसा किये नहीं रहा जाता। उनका ज्ञान विस्तृत, उनका शब्द-कोष विशाल तथा उनकी वर्णन-शैली बड़ी रोचक है। उनके स्वभाव में धर्मांधता तथा असहिष्णुता न थी बल्कि कट्टरपन को वह बहुत घृणा से देखते थे। हिन्दुओं से उनका बहुत मेल-जोल था। उनके रस्मोरिवाज़, उनकी भाषा, उनके विचार, उनके व्यवहार और मंतव्य को ऐसे रोचक ढंग से और इतना ठीक-ठीक वर्णन किया है कि इनकी विशाल जानकारी पर आश्चर्य होता है। वह दूसरे धर्मावलंबियों के मंतव्यों की कभी हंसी नहीं उड़ाते और न उनको हीन-दृष्टि से देखते हैं। फलतः उनकी रचना में स्थानीय रंग है जो बहुधा हमारे उर्दू कवियों में नहीं के बराबर है। अलबत्ता सौदा और इन्शा की कविता में कुछ ऐसी झलक दिखाई पड़ती है।

सारांश यह कि नज़ीर एक निरे हिन्दुस्तानी कवि थे, क्योंकि उनके विचार, उनकी भाषा तथा उनका विषय सब स्थानीय रंग में सराबोर हैं।

उनकी सेवा भाषा के प्रति सराहनीय है। उन्होंने ऐसे शब्दों से बहुत लाभ उठाया, जिनको कविगण हेठा और बाज़ारी समझ कर

नज़ीर की भाषा के प्रति सेवा

छोड़ देते हैं, इसलिये कि ऐसे शब्द प्रचलित विषय से मेल नहीं खाते थे। उनको साधारण और भोंडा समझ कर निकाल देते हैं और उनके पद्य में प्रवेश करने में अपनी हतक समझते हैं। लेकिन नज़ीर ने बड़ी कुशलता दिखलाई कि ऐसे ही शब्दों को अपना कर दुनिया को दिखला दिया कि इनमें वह गुण छिपे हुए हैं, जिनको ऊपरी दृष्टि देख नहीं सकती। अलबत्ता यह सच है कि इस प्रकार के सब शब्द उस आदर के योग्य नहीं हैं, जो उनको प्राप्त हुआ है, फिर भी बहुत से उनके शब्द विरोध होने पर भी साहित्यिक जगत् में प्रविष्ट हो गए। उनके शब्द तीन श्रेणियों में विभक्त किए जा सकते हैं·

१ ऐसे शब्द जो प्रारंभिक कविता में बहुधा पाए जाते हैं और अब वह असभ्य समझे जाते हैं।

२ ऐसे शब्द जो कविता के लिये उपयोगी हैं, पर सुन्दर नहीं है।

३ वह रत्न के कण, जिनसे कविता चमक उठती है और भाषा का भंडार परिपूर्ण हो जाता है।

नज़ीर पर यह आक्षेप किया जाता है कि वह पढ़े-लिखे न थे, बल्कि एक मामूली अशुद्ध लिखने वाले शायर थे, जो अपने शेरों से बाज़ारी लोगों को खुश किया करते थे, उनकी रचना अशिष्ट और अश्लील है और उन्होंने अपने खोटे और गँवारू शब्दों के सम्मिश्रण से हमारी भाषा को नष्ट कर दिया है। इन बातों के विषय में हम आगे लिखेंगे। यहां पर यह कहना आवश्यक है कि जो चीज़ नज़ीर की निकम्मी समझी जाती है वही हमारी राय में उनकी विशेषता और गुण है, जैसे वह ऐसी साधारण चीजें और दृश्य तथा मेले-ठेले जिनको साधारण लोग बहुत पसंद करते हैं, वह देखने के बहुत इच्छुक थे और उनके वर्णन के लिए सीधे-सादे शब्दों की जरूरत थी। यही उनका बड़ा कौशल है कि वह जनता के भावों और उनकी बोल-चाल को उन्हीं की भाषा द्वारा प्रकट

करते हैं। यह बात भी विचारणीय है कि वह इन चीजों को दार्शनिक दृष्य से या दूर से खड़े होकर तमाशा की तरह देखना नहीं चाहते, न उनमें कोई त्रुटि निकालना चाहते हैं, किन्तु उनका ज्यों का त्यों चित्र खींच देते हैं। इसीलिये उनका वर्णन रोचक और स्वाभाविक है। उसमें कहीं बनावट का नाम नहीं है। हाली ने शायद ऐसे ही शब्दों के महत्व से नज़ीर को मीर अनीस से बढ़कर माना है।

नज़ीर में यह भी विशेषता थी कि उन्होंने किसी की निंदा नहीं की और न किसी की प्रशंसा में कोई कसीदा लिखा। यह उनकी रचना का बहुत बड़ा गुण है और इससे वह गिरावट दूर हो जाती है जो आरंभ में उनके जीवन में पाई जाती है।

यह बात भी विचारणीय है कि वर्तमान-काल की स्वाभाविक और जातीय-कविता, जिसका आरंभ मौलाना आज़ाद और हाली से कहा जाता है, उसके पथ-प्रदर्शक बल्कि प्रचारक नज़ीर ही कहे जा सकते हैं। जिस तरह अनीस और दबीर ने विद्वत्ता के साथ युद्ध-क्षेत्र और प्राकृतिक दृश्यों का अनुपम चित्र खींचे हैं, उसी तरह नज़ीर ने भी मामूली चीजों के तदनुसार चित्र सीधे-सादे शब्दों में खींच दिये हैं, जिसका उस प्रकार की कविता में स्थान न था। यही कारण है कि सर्व-साधारण में उनकी कविता बहुत प्रिय हुई। दूसरा कारण यह है कि फ़ारसी के क्लिष्ट शब्द, उनके वाक्य-विन्यास तथा पेंचदार रूपक और उपमा से उनकी कविता उलझी हुई नहीं है। उनका वर्णन सीधा-सादा, स्पष्ट और यथार्थ है। लेकिन केवल प्रकृति की भी उन्होंने पूजा नहीं की। जंगलों और पर्वत श्रेणियों का वर्णन उनके यहां नहीं है। प्राकृतिक दृश्य का चित्र उन्होंने उसी दशा में खींचा है जब उसका सम्बन्ध मनुष्य से होता है। जैसे बाग़ों में उन्होंने ताजगंज के रौज़े को चुना है। उनके पद्य अन्य उर्दू कविता के विरुद्ध शृंखला बद्ध हैं। अलबत्ता उनकी रचना

नज़ीर नवीन-प्रणाली के पथ प्रदर्शक थे

विशाल अवलोकन और गहराई नहीं है, जो दिल्ली के पिछले कवियों की कविता में है। सारांश यह कि अपने अचिंतित शब्दों द्वारा सादा वर्णन, और सर्व साधारण रुचि के अनुसार, चित्ताकर्षक पद्यों से, जिन में बनावट और इकरंगी नाम मात्र नहीं है। नज़ीर एक ऐसी शैली की नींव डाल गए हैं, जो आगे चल कर हमारी भाषा और साहित्य की उन्नति बल्कि हमारे जातीय जागृति के पुनर्जीवन का बहुत बड़ा कारण हुई।

नज़ीर का हास्य रस और इन्शा से उसकी तुलना

नज़ीर का हास्य-रस विचित्र और विशेष प्रकार का है। इसका कारण जनता के साथ उनका मेल-जोल है। वह सब लोगों से निस्संकोच मिलते थे और उनके हर्ष और शोक में सम्मिलित होते थे, अतः उनको मानव-समाज की प्रकृति के निरीक्षण का पर्याप्त अवसर मिलता था और उसके ज्ञान से उनके हास्य-रस में वृद्धि होती थी। वह दरिद्रता के कष्ट को बड़े आनंद के साथ सहन कर लेते थे तथा सांसारिक कष्ट और क्लेशों के झोंकों को हँसी में उड़ा देते थे। उनकी हँसी-दिल्लगी न किसी के लिए कष्ट दायक है और न उसमें छिछोरापन है। निस्संदेह नज़ीर और इन्शा दोनों हास्य-रस के उस्ताद थे। लेकिन इन दोनों की हँसी-दिल्लगी में बड़ा अंतर है। इन्शा का विनोद दरबार के अधीन है, जो चुट-पुटे चुट-कुलों से अपने स्वामी को प्रसन्न करना चाहता है और इस उद्योग में वह भांड़ों की तरह अपने और दूसरों के निरादर की परवाह नहीं करता। विपरीत इसके नज़ीर एक स्वतंत्र विनोद-प्रिय है, जो अपने प्रहसन से किसी को कष्ट देना नहीं चाहता और न किसी की मान-मर्यादा पर आक्रमण करता है, किन्तु सब को प्रसन्न रखता है। सारांश यह कि इन्शा की हँसी-दिल्लगी में चापलूसी और भड़ैती की गंध आती है और नज़ीर इन दोषों से मुक्त है। फिर भी इन्शा और नज़ीर में कई बातों में सादृश्य पाया जाता है।

दोनों कवियों ने कठिन से कठिन तुक और तुकांत में कविता करने का प्रयत्न किया है। कुछ ग़ज़लें तो दोनों ने एक ही तुक में लिखी हैं। दोनों ने अपने शेरों में कहीं-कहीं अरबी के मिसरे जोड़ दिए हैं, दोनों की रचना में स्थानीय रंग अर्थात् हिन्दी शब्द और हिन्दी रसमोरिवाज़ इत्यादि का बहुधा सम्मिश्रण है। दोनों ने विविध भाषाओं के पद्य लिखे हैं। दोनों की कविता में अध्यात्मवाद के सुनहले रंग की छटा है। भाषा के विषय में दोनों स्वतंत्र हैं। लेकिन फारसी-अरबी शब्दों के उपयोग में इन्शा अधिक अभ्यस्त हैं और नज़ीर की अपेक्षा इन्शा के यहाँ, अप्रचलित शब्द कम हैं और उनके प्रहसन का रंग अधिक गहरा है।

नज़ीर चित्रकार के रूप में

नज़ीर को संगीत से अधिक प्रेम था, इसलिए उनको शब्द-संचय में इस कला से अधिक सहायता मिली। वह एक कलाकार और बहुत बड़े चित्रकार थे। उनको अपने शेरों के लिए शब्द चुनने की वही धुन थी जो अंग्रेज़ी कवि टेनीसन को थी। वह सानुप्रासिक शब्दों के बड़े प्रेमी थे और उन्होंने बहुधा ऐसे शब्दों का उपयोग किया है, जिनके ध्वनि ही से उनका आशय प्रकट हो जाता है। जैसे लड़ाई-भिड़ाई के अवसर पर वह कठोर शब्द लाते हैं। विवाह और हँसी-खुशी के उत्सवों और त्योहारों के वर्णन में प्रसंगानुसार सुरीले और चित्ताकर्षक शब्दों का उपयोग करते हैं। क्लिष्ट उपमायें उनकी रचना में बहुत कम हैं तथा अन्य प्रकार के अलंकार भी उनके यहां बहुत थोड़े हैं।

उर्दू का शेक्सपियर हमारा कौन कवि हो सकता है?

यह प्रश्न बड़ा रोचक है। बात यह है कि ईरानियों में तो नाटक का रिवाज़ था ही नहीं और न उर्दू कवियों ने इस विषय को संस्कृत से लिया। सौदा अपनी उच्च प्रतिभा, शक्तिशाली व्यक्तित्व, सामान्य जानकारी और भाषा पर अधिकार रखने के कारण इस योग्य अवश्य थे। उन्होंने अपूर्व हजो व्यंगा-

त्मक निदाएँ, लिखी है और इसलिए वह एक अच्छे कमेडी अर्थात् प्रहसन-लेखक हो सकते थे,लेकिन उनमें ट्रेजडी (दुःखांत रचना) लिखने की योग्यता न थी। अर्थात् मनुष्यों के मनोभावों के साथ सहानुभूति और उसका विस्तृत ज्ञान बहुत सीमित था। मीर के यहां व्यथा-वेदना तो बहुत है, पर चरित्र-चित्रण से वह अनभिज्ञ हैं। सिवा ग़ज़ल और मसनवी के अन्य प्रकार की कविता की जानकारी उनको बहुत कम है। इन्शा के यहां हंसी-दिल्लगी तो बहुत है और वह स्वांग बनने की सामर्थ्य रखने तथा भाषा पर अधिकार के कारण अभिनेता बनने के अधिक योग्य थे, लेकिन दरबार के संबन्ध से वह दूसरे मार्ग पर चले गये और विचारों की गहराई भी उनकी बहुत कम थी। अनीस और दबीर यद्यपि स्वाभाविक कवि थे, भाषा पर भी उनका असाधारण अधिकार था, चरित्र-चित्रण में भी अभ्यस्त थे। लेकिन उनकी कविता का क्षेत्र सीमित था। अर्थात् वह केवल मरसिया लेखक थे और यही विशेषता उनकी शक्ति और निर्बलता दोनों का कारण थी। ईरानी पैशनप्ले (ताज़ियादारी इत्यादि) की तुलना चमत्कार पूर्ण घटना-चक्र तथा आध्यात्मिक रहस्य से, नियमानुसार नाटक से निकटतम है और यही अनीस और दबीर का विषय था। लेकिन धार्मिक-भावना के कारण वह साधारण मनुष्यों के मनोंभावों का चित्रण नहीं कर सके। नज़ीर को भी सौदा, इन्शा और अनीस के समान भाषा पर अधिकार था। उनको मनुष्यों की प्रकृति का ज्ञान बहुधा प्रसिद्ध कवियों से अधिक था। वह हिन्दू, मुसलमान, बच्चे, बूढ़े, अमीर, ग़रीब, सर्वसाधारण, दुनियादार और त्यागी सभी से वे मिलते-जुलते थे। सब के मित्र और शुभ चिन्तक थे। स्त्रियों के विषय में भी उनकी जानकारी थी। यद्यपि उनके यहां ऐसे चित्र नहीं हैं जैसे शेक्सपियर की इमोजन,डेसडेमोना,पोरशिया और ओफ़ीलिया में हैं, जिसका कारण यह होगा कि हिन्दुस्तानी समाज में परदे का रिवाज है जिसके कारण स्त्रियां स्वतंत्रता के साथ पुरुषों से नहीं मिल सकतीं। इस

लिये नज़ीर को भद्र महिलाओं से मिलने-जुलने और उनके मनोभावों के परखने का अवसर नहीं मिला था। उनको केवल रंडियों का अनुभव था। इसलिये उनके शेरों में उन्हीं की ओर संकेत पाये जाते हैं। उनमें चरित्र-चित्रण की योग्यता थी और वर्णन-शैली भी बड़ी प्रखर थी। लेकिन शेक्सपियर की तरह उनके विचार गहरे न थे और उसकी तरह उनकी प्रतिभा भी न थी। नज़ीर के दो पद्य ऐसे हैं, जिनमें नाटक की कुछ झलक पाई जाती है, पर उनको पूरा नाटक नहीं कहा जा सकता। अलबत्ता एक 'लैला-मजनू' जो 'ट्रेजेडी' अर्थात् दुखांत है, दूसरा 'महादेव का ब्याह' जिसको कोमेडी (सुखांत) कह सकते हैं। इसी प्रकार 'रीछ का बच्चा' और 'बुलबुलों की लड़ाई' नामक पद्य बड़े मज़े के और उत्कृष्ट हैं।

यद्यपि नज़ीर में सौदा का ओज, मीर की ऊँची उड़ान, इन्शा का विनोद और अनीस-दबीर की प्रखरता पूरे तौर से नहीं है, फिर भी यह सब गुण उनकी रचना में किसी न किसी अंश में अवश्य पाये जाते हैं।

नज़ीर में सब से बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने साधारण चीज़ों का वर्णन ऐसा रोचक बना दिया है, जो दूसरों के यहां ऊँचे दर्जे की रचना में नहीं पाया जाता। जब ग़ज़लों की इकरंगी और कसीदे के शब्दाडंबर से जी ऊब जाता है तब नज़ीर के पद्य बहुत अच्छे लगते हैं। उन्होंने पद्य में नये-नये विषय का समावेश किया है और उर्दू साहित्य को बहुत विस्तृत कर दिया है। यह सच है कि वह कोई धुरंधर विद्वान-कवि न थे और न प्रत्येक वस्तु का वर्णन दार्शनिक दृष्टि से और बहुत गहराई में बैठकर किया है तथा कभी-कभी अश्लील वर्णन भी कर गया है, जिससे सभ्य समाज को चोट लगती है। वह बहुत ऊँचे दर्जे का कवि भी न सही, तथा उनकी रचना में कहीं कहीं अप्रचलित शब्द और अशुद्धियां भी हैं और उसकी भाषा विचार अधिक धुले-मंजे

नहीं हैं,फिर भी वह निस्संदेह एक हिंदुस्तानी शायर थे जिन्होंने हिंदुस्तानी विषयों पर लिखा है, हिंदुस्तानी भावनायें उनके हृदय में हिलोरें मार रही थीं। वह धार्मिक कट्टरपन और सांप्रदायिक झगड़ों से बिल्कुल मुक्त थे। अपनी बहुमुखी प्रतिभा, उपदेशात्मक रचना, विशाल अवलोकन, प्रत्येक समाज के साथ प्रेम और भारतीय विषय को अपनाने तथा एक नवीन शैली के आविष्कार के कारण नज़ीर इस योग्य अवश्य थे कि उनको उर्दू के समाज में एक ऊँची जगह दी जाय।

शाह नसीर देहलवी
मृत्यु १८४० ई०

भाषा और समय की दृष्टि से नज़ीर की तरह, शाह नसीर की गणना पुराने कवियों में हो सकती है, लेकिन उनकी ख्याति मध्यकाल में हुई, इसलिये उनको पुराने और नये कवियों के बीच में समझना चाहिये। इनका नाम नसीरुद्दीन और उपनाम कविता में 'नसीर' था, पर वह बहुत काले रंग के थे, अतः लोग उनको मियां कल्लू कहा करते थे। उनके पिता एक एकांतबासी फ़क़ीर थे। जो आमदनी कुछ गांवों की जागीर से होती थी, वह उसी से निर्वाह करते थे। यद्यपि बाप ग़रीब आदमी थे, पर उन्होंने नसीर को शिक्षा दिलाने में भरसक प्रयत्न किया, लेकिन नसीर ने सिवा कविता के कुछ न सीखा। कविता की ओर उनका झुकाव बचपन से था। पहले वह शाह महमदी मायल के शिष्य हुए जो शेख क़यामुद्दीन क़ायम से अपनी कविता का संशोधन कराते थे। इस प्रकार से नसीर की शागिर्दी का संबंध सौदा और ख़्वाजा मीर दर्द से पैदा होगया था। कुलीन और कवि होने के कारण नसीर की पहुँच शाह आलम के दरबार में होगई। उनका वहाँ बहुत आदर-सत्कार हुआ औद ख़ूब इनाम-इकराम मिला। शाह नसीर ने देशाटन बहुत किया और बहुत से नगरों को देखा। विशेषकर लखनऊ और हैदराबाद में कई बार गए। वह दिल्ली में भी अपने घर बहुधा मुशायरे किया करते थे, जिसमें उस समय के कविगण इकट्ठे

हुआ करते थे। ऐसी सभाओं में उनके शिष्य ज़ौक़ को भी अपनी प्रारंभिक ऊंची उड़ान के चमत्कार दिखलाने का ख़ूब अवसर मिलता था।

जब दिल्ली में तबाही आई और कवि लोग इधर-उधर छिटकने लगे तो शाह नसीर भी आजीविका के लिए बाहर निकले। वह दो बार लखनऊ आए और चार बार हैदराबाद गए। लखनऊ जब पहली बार पहुँचे तो वहाँ मुसहफ़ी, इन्शा और जुरअत का समय था। उनसे शाह नसीर के ख़ूब मुक़ाबले हुए। दूसरी बार नासिख़ और आतिश का लखनऊ में रंग जमा हुआ था। नासिख़ से भी नसीर की मुट-भेड़ हुई और उसमें वह सफल हुए। हैदराबाद जाने का यह अवसर हुआ कि वहाँ के दीवान चन्दूलाल 'शादाँ' दिल्ली के कवियों के बड़े गुण-ग्राहक थे। उनकी उदारता की धूम सुनकर नसीर वहाँ पहुँचे। कहते हैं कि उक्त दीवान महोदय ने नासिख़ और ज़ौक़ को भी वहाँ बुलाया था, परन्तु वे लोग वहां नहीं गए। हैदराबाद में शाह नसीर के बहुत से शागिर्द हुए और वहां शेर-शायरी की ख़ूब चहल-पहल रही। चौथी बार जब यह हैदराबाद गए तो थोड़े ही दिनों में सन् १८४० ई० में उनका देहांत होगया।

नसीर की रचनायें नसीर ने बहुत अधिक कविता की है। साट वर्ष तक इसी काम में लगे रहे। इतने दीर्घ-काल में ऐसे प्रतिभाशाली कवि ने क्या कुछ न लिखा होगा, परन्तु खेद है कि उनकी बहुत सी सामग्री नष्ट होगई है, क्योंकि उनको उसके सुरक्षित रखने की परवाह न थी। उनके एक शिष्य महाराजसिंह ने उनकी कुछ कविता का संग्रह किया था, कहा जाता है कि लग-भग एक लाख शेर हैं। लेकिन कुछ तज़किरा लिखने वालों ने लिखा है कि उनके दीवान का संकलन मीर अब्दुल रहमान ने किया है, जो मोमिन के शिष्य मीर हुसैन तसकीन के लड़के थे, जिसको

एक हस्तलिखित प्रति नवाब साहब रामपुर ने अपने पुस्तकालय के लिए ख़रीद लिया है।

शाह नसीर बड़े सभ्य और गंभीर-स्वभाव के थे। साथ ही हंसमुख भी थे, दिल्ली, लखनऊ और हैदराबाद में उनके सैकड़ों शिष्य हुए। वह हनफ़ी (सुन्नी) संप्रदाय के थे। लेकिन उनमें धर्मांधता न थी। अंत में उनके प्रतिष्ठित शिष्य ज़ौक़ से वैमनस्य हो गया था, क्योंकि अधिक अभ्यास से ज़ौक़ को कुछ अभिमान हो गया था और सौदा और मीर जैसे कलाकारों की बराबरी करने लगे थे।

कविता में नसीर का स्थान

शाह नसीर की विशेषता यह है कि वह दुरूह छंदों और कठिन से कठिन तुक और तुकांत में ग़ज़लें लिखते थे, जिनमें अच्छे पद्य का रचना सब का काम न था। नसीर भड़कीले शब्दों के भी बड़े प्रेमी थे। उनके अनेक रूपक और उपमायें बड़ी अनोखी और रोचक हैं। सायब के उदाहरण और नीति संबंधी बातों को ख़ूब बाँधते थे। आशु कवि भी थे। बहुत विद्वान् न थे। कहीं-कहीं अप्रचलित शब्द भी पद्य-बद्ध कर गए हैं। यद्यपि उनकी कविता ओजस्वी और प्रभावशाली है, लेकिन उनमें ऊँची उड़ान और ऊँचे विचार कम हैं। दूसरी श्रेणी के कवियों में उनका स्थान ऊँचा है। उनकी रचना में कोई विशेष बात नहीं है, अलबत्ता अपने समय के उस्ताद थे और सैकड़ों योग्य शागिर्द छोड़ गए हैं।

— ——

अध्याय १२

दिल्ली के मध्यकालीन कवि

ज़ौक़ और ग़ालिब का समय

पीछे लिखा जा चुका है कि उर्दू कविता का केन्द्र दिल्ली से उठकर लखनऊ आ गया था, लेकिन पुराने कवियों द्वारा किया गया बीजारोपण नष्ट नहीं हुआ, उनका उद्योग सफल हुआ। वह वृक्ष जिसको दिल्ली के पुराने कवियों ने बड़े परिश्रम से सींचा था, अब वह फिर से विकसित होने लगा। दुनिया में ज्वार-भाटा तथा उन्नति और अवनति अथवा उसके विपरीत का नियम सदा से चला आता है। यही हाल दिल्ली का हुआ कुछ दिनों तक मौन रहने के पश्चात् दिल्ली की बुलबुल रूपी कविता ने पुनः सुरीले स्वर से गाना आरम्भ किया और उसने समस्त उर्दू-जगत् को मोहित कर दिया। उस समय के ग़ालिब, ज़फ़र, ज़ौक़ और मोमिन इत्यादि प्रसिद्ध कवि हुए हैं। ग़ालिब की ईश्वर-दत्त प्रतिभा की तुलना संसार के अति श्रेष्ठ कवियों से की जा सकती है। ज़ौक़ और मोमिन यद्यपि ग़ालिब के समक्ष नहीं चमक सके, फिर भी अपने समय के नामी कवि थे। ज़फ़र भी कोई साधारण कवि न थे। राज-काज की उनको कुछ चिंता न थी, मज़े में कविता से अपना दिल बहलाते रहते थे। वह ज़ौक़ और ग़ालिब के शागिर्द थे। उस समय के दिल्ली के कविगण लखनऊ-पथ के अनुगामी न थे, जहां बनावट ढकोसला और शब्दों का एंच-पेंच कविता का प्राण समझा जाता था। दिल्ली के कवियों की रचना सच्ची कविता और वास्तविक मनोभावों से परिपूर्ण है। ग़ालिब और मोमिन के यहां फ़ारसी शब्द और फ़ारसी मुहावरों

दिल्ली की कविता की दुबारा उन्नति

की भरमार है, इसलिये कि वे फ़ारसी भाषा के बड़े ज्ञाता और उसके कवि थे। उन्होंने आरंभ में जो कविता की थी उसमें पुराने कवियों के हिन्दी शब्द-विन्यास को निकाल कर उसके स्थान में फ़ारसी के शब्द रख दिये थे। उस समय की उनकी कविता फ़ारसी शब्दों का समूह प्रतीत होती है। हिन्दी शब्द और मुहावरे वह तब व्यवहार में लाते थे, जब वह किसी फ़ारसी शब्द या फ़ारसी-शब्द-योजना से मेल खाते थे और उससे कविता की शोभा बढ़ जाती थी। मोमिन और ग़ालिब के पश्चात् फ़ारसी की प्रधानता कम हो गई। वाक्य-विन्यास सरल हो गया। शेरों में स्वच्छता और प्रवाह उत्पन्न हो गया। इसी लिये ग़ालिब और मोमिन के शागिर्दों की रचना बहुत साफ़ है। उदाहरण के लिए हाली, सालिक, ज़हीर, अनवर और मजरुह की कविता देखना चाहिए।

मोमिन १८००-१८५१

हकीम मोमिन खां, हकीम ग़ुलाम नबी खां के बेटे थे। इनके पितामह हकीम नामदार खां, काश्मीर के कुलीन वंश के थे, जो मुग़ल राज्य के अन्तिम समय में दिल्ली में आकर बादशाही हकीमों में भरती हो गए। शाह आज़म के समय में उनको कुछ जागीर मिली थी। अंग्रेज़ी राज्य हो जाने पर उनको कुछ पेंशन मिलने लगी, जिसका कुछ हिस्सा मोमिन खां को भी मिलता था। मोमिन खां का जन्म सन् १८१५ हि० में हुआ। बचपन से ही यह बड़े प्रतिभाशाली थे और पद्यरचना की योग्यता रखते थे। इनकी स्मरण-शक्ति बड़ी तीव्र थी। बात सुनते ही याद हो जाती थी। अरबी-फ़ारसी की अच्छी योग्यता थी। हकीमी उनका पैत्रिक व्यवसाय था, जिसको उन्होंने अपने पिता और चाचा से सीखा था। कविता के अतिरिक्त वह ज्योतिष के भी ज्ञाता थे। उनकी भविष्यवाणी को सुनकर लोग चकित हो जाते थे। इस विषय में लोगों को उन पर बड़ी श्रद्धा थी और बहुधा

लोग उनसे होने वाली बातों को पूछा करते थे। शतरंज के भी वह बड़े खिलाड़ी थे। और दिल्ली के प्रसिद्ध खिलाड़ी करामत अली खां से उनका बहुत निकट का संबन्ध था। लेकिन इन तमाम बातों को उन्होंने अपनी जीविका का साधन नहीं बनाया था। आदमी बड़े सुन्दर, सजीले और रसिक स्वभाव के थे। भोग-विलास के लिये दिल्ली जैसा विस्तृत नगर मिला था, जहां प्रेम संबन्धी कथायें लोगों की जिह्वा पर थीं। जब युवावस्था का आवेग समाप्त हो गया तो उन्होंने तमाम कु-वासनाओं से पश्चात्ताप कर लिया और निमाज़-रोज़ा का अनुष्ठान नियमानुसार करने लगे। उनकी युवावस्था की कविता प्रेम-रस में सराबोर है, परन्तु बुढ़ापे की रचना बहुत प्रौढ़ और गंभीर है। आरंभ में शाह नसीर को अपनी कविता दिखलाते थे लेकिन कुछ दिनों के बाद ऐसा करना छोड़ दिया और अपनी ही सूझ-बूझ पर भरोसा रखने लगे। दिल्ली से पांच बार बाहर निकल कर रामपुर, सहसवान, जहांगीराबाद और सहारनपुर की सैर की। लिखते हैं :—

दिल्ली से रामपूर में लाया, जुनू का शौक़।
वीराना छोड़ आये हैं, वीराना तर में हम ॥

× × ×

छोड़ दिल्ली को सहसवां आया। हर्ज़ा गर्दी में मुब्तला हूँ मैं ॥

लेकिन जन्म भूमि के मोह से वह फिर दिल्ली लौट गए। जब मिर्ज़ा ग़ालिब ने सन् १८४२ ई० में दिल्ली कालेज की फ़ारसी प्रोफ़ेसरी सेइन्कार कर दिया, तो टामसन साहब ने वही जगह दिल्ली से कहीं बाहर, अस्सी रुपया महीने पर मोमिन को देना चाहा, लेकिन उन्होंने बाहर जाने से इन्कार कर दिया। इसी प्रकार कपूरथला भी तीन सौ पचास रुपया मासिक पर यह सुनकर न गए कि वहां यही वेतन एक गवैए का है। टोंक के नवाब वज़ीरुद्दौला बहादुर ने एक बार उनको बुलाकर अपने पास रखना चाहा, लेकिन वह दिल्ली के

रंग-रलियों को छोड़ कर वहां भी न गए। वह बड़े स्वतंत्र स्वभाव के संतोषी और अपनी जन्म भूमि के अनुरागी थे। अमीरों की दरबारदारी और चापलूसी से उनको घृणा थी, यही उनके चरित्र की विशेषता है। उनका दीवान अमीरों की प्रशंसात्मक क़सीदे से शून्य है, सिवाय एक क़सीदे के जिसका पहला शेर है :--

सुबह हुई तो क्या हुआ ? है वही तीरा अख़्तरी।
कसरते दूद से सियाह शोलए शम्मा ख़ावरी॥

यह क़सीदा उन्होंने पटियाला के राजा अजपत सिंह के लिए लिखा था, जिस पर उन्होंने एक हथिनी मोमिन को भेंट किया था।

मोमिन को अपनी योग्यता पर बड़ा अभिमान था। कहा जाता है सादी की गुलिस्तां को भी वह तुच्छ समझते थे, तो भला ज़ौक़ और ग़ालिब किस गिनती में थे। वह उनकी रचना की हंसी उड़ाते थे। तारीख़ (संवत्सर सूचक पद्य) लिखने में भी बड़े अभ्यस्त थे। ऐसी पद्य रचना में 'तख़रजा' और 'तामिया' अर्थात् कुछ अक्षरों की कल्पित संख्या घटा-बढ़ा कर तारीख़ निकालना बुरा समझा जाता है। (बल्कि एक या कुछ पूरे शब्दों की संख्या से तारीख़ निकलना उत्तम माना जाता है) लेकिन मोमिन इसको अच्छा समझते थे। इस प्रकार से उन्होंने अपनी बेटी के जन्म-मृत्यु और शाह अब्दुल अज़ीज़ साहब देहलवी के मृत्यु की तारीख़ पद्य-बद्ध की है।

मोमिन् के स्मारक एक दीवान और छः मसनवियां हैं। दीवान में हर प्रकार की कविता है। इसका संकलन नवाब मुस्तफ़ा खां शेफ़्ता ने किया था, और सन् १८४६ में इसे मौलवी करीमुद्दीन ने प्रकाशित किया है, जिन्होंने 'तज़किरा शोअराय हिन्द' नामक पुस्तक लिखी है।

रचनायें

मोमिन की कविता सूक्ष्म विचारों और ऊँची उड़ान के लिए प्रसिद्ध है। उनके रूपक और उपमायें विचित्र हैं, जिससे उनकी रचना

रचना शैली

में एक विशेषता पैदा हो जाती है। साथ ह उसमें वास्तविक मनोभावों का चित्रण भी है जो लखनऊ-प्रणाली से उनको पृथक कर देता है श्रृंगार-रस के भी वह बड़े उस्ताद थे। अपनी विद्वत्ता के कारण पद-दलित विषयों को उन्होंने पद्य-बद्ध नहीं किया। ग़ालिबके समान वह भी फ़ारसीपन के बड़े प्रेमी थे, जिसके वह धुरंधर विद्वान् थे। लेकिन कहीं कहीं फ़ारसी का अधिक सम्मिश्रण अच्छा नहीं मालूम होता, बल्कि इससे उनकी कविता क्लिष्ट और पेचीदा होगई है। उनकी मसनवियां बड़ी प्रखर हैं, जिनमें विरही प्रेमी की व्यथा-वेदना का प्रदर्शन है। निस्संदेह वह मनोभावों से भरी हुई हैं और किसी व्यथित हृदय की प्रति-ध्वनि प्रतीत होती हैं। अलबत्ता उनका प्रेम बाजारू है, और वर्णन शैली ऊँची नहीं है। इसलिये वह 'तिलिस्म उल्फ़त' और 'ज़हर-इश्क़' इत्यादि के ढंग की मसनवियां कही जा सकती हैं। मोमिन के यहां शब्दों का इन्द्रजाल है। शब्दों के हेर फेर से नई-नई कल्पना के रास्ते खुल जाते हैं।

उर्दू कवियों में मोमिन का विशेष स्थान है। न केवल योग्यता और कवित्व शक्ति के कारण अथवा इसलिये कि उनके समकालीन

कविता में मोमिन का स्थान

उनका बहुत आदर करते थे, बल्कि इसलिए कि उनकी एक विशेष शैली थी, जिसके अनुयायी नसीम देहलवी, अमीरुल्ला तसलीम तथा हसरत मौहानी इत्यादि हुये। मोमिन के प्रसिद्ध शागिर्दों में नवाब मुस्तफ़ा खां शेफ़्ता, मीर हसन तसकीन, मीर ग़ुलाम अली वहशत और असग़रअली खां नसीम थे। मोमिन सन् १८५२ ई० में कोठे से गिर कर मरे थे। उन्होंने भविष्य वाणी की थी कि पांच दिन या पांच महीने या पांच वर्ष में उनकी मृत्यु होगी। तदनुसार वह पांच महीने के बाद मर गए। उन्होंने अपने मरने की तारीख निम्न शब्दों में—

'दस्तो बाज़ू ब शिकस्त'
१२ २६ 'हि०'

उसी वर्ष कह रक्खी थी, जिसका अर्थ है हाथ-पांव टूटे।

नवाब मुस्तफ़ा खां शेफ़्ता, मुरतज़ा खां के बेटे थे, जिन्होंने लार्ड-लेक के साथ बड़े-बड़े काम किये थे और उसके उपलक्ष में उनको होउल पलोल का इलाक़ा जागीर में मिला

शेफ़्ता १२२१-१२८६ था। ज़िला बुलन्दशहर के जहांगीराबाद का इलाक़ा उन्होंने स्वयं ख़रीद किया, जो अबतक उनके वंशजों के पास है। नवाब साहब का जन्म सन् १८०६ ई० में दिल्ली में हुआ था और ग़दर सन् १८५७ तक वहीं रहे। उसके पश्चात् अपने इलाक़ा जहांगीराबाद में आकर बस गये। कविता से उनको स्वाभाविक प्रेम था। फ़ारसी में 'हसरती' और उर्दू में 'शेफ़्ता' के नाम से उन्होंने बहुत कविता की है। कहा जाता है कि फ़ारसी में ग़ालिब और उर्दू में मोमिन को अपनी कविता दिखलाया करते थे। संभवतः ऐसा हुआ होगा कि पहिले मोमिन और फिर गालिब से उन्होंने अपनी कविता का संशोधन कराया हो, जो उनके घनिष्ट मित्र थे। शेफ़्ता की योग्यता और कविता का विकास ऐसे वातावरण में हुआ, जिसमें मौलवी इमाम बख़्श सहबाई, अब्दुल्ला ख़ां अलवी, मुफ़्ती सदरुद्दीन ख़ां आज़ुर्दा, ग़ालिब, ज़ौक, शाह नसीर, एहसान, तसकीन और हकीम आग़ाजान ऐश इत्यादि थे। मुफ़्ती और नवाब साहब के यहां प्रति सप्ताह बारी-बारी से मुशायरे हुआ करते थे और उस में बड़े-बड़े योग्य कलाकार आकर कविता का रसास्वादन करते थे। नवाब साहब ऐसे मर्मज्ञ थे कि ग़ालिब जैसे विद्वान् उनका प्रमाण मानते थे। लिखा है—

"ग़ालिब बफ़न्ने गुफ़्तगू नाज़द वदीं अरज़श कि ऊ।
न नविश्त दर दीवां ग़ज़ल तामुस्तफ़ा ख़ां ख़ुश न कर्द॥"

अर्थात्—

ग़ालिब इसीलिए अपनी कविता पर अभिमान क ता है कि उसने अपनी ग़ज़ल दीवान में नहीं लिखा, जब तक मुस्तफ़ा खां ने पसंद नहीं किया।

नवाब साहब को, हज से लौटने के पश्चात् कविता से कुछ अरुचि सी हो गई थी। कभी-कभी मित्रों के आग्रह से कुछ कह लिया करते थे, नहीं तो अधिकांश अपना समय निमाज़-रोज़ा आदि में व्यतीत करते थे और समस्त निषिद्ध कर्मों से पश्चात्ताप कर लिया था। उनका एक फ़ारसी, एक उर्दू दीवान, एक फ़ारसी पत्र संग्रह, एक 'रहआउर्द' के नाम से यात्रा-विवरण और एक फ़ारसी में उर्दू कवियों की बड़ी जीवनी 'गुलशन बेख़ार' के नाम से है।

शेफ़्ता कवि की अपेक्षा समालोचक के रूप में अधिक प्रसिद्ध हैं। उनका 'तज़किरा गुलशन बेख़ार' पहला तज़किरा है, कि जिसमें न्याय-पूर्वक स्वतंत्रता के साथ कविता की आलोचना की गई है। वह अपने उस्ताद मोमिन के अनुयायी थे। उनकी रचना आचार और तसौवुफ़ (अध्यात्मवाद) से परिपूर्ण है। उनके उर्दू के शेर बहुत ऊँचे दर्जे के नहीं हैं, लेकिन उनका विषय ऊँचा, भाषा स्वच्छ मुहावरेदार और विचार पवित्र हैं। दूसरे दर्जे के कवियों में उनका स्थान ऊँचा है।

उनके पुत्र नवाब महम्मद इसहाक़ ख़ां ने उनका 'उर्दू-फ़ारसी दीवान' एक भूमिका और जीवनी के साथ सन् १९१५ ई० में निज़ामी प्रेस बदायूँ से छपवाकर प्रकाशित किया है।

मीर तस्कीन, मीर अहसन उपनाम मीरन साहब के बेटे थे। दिल्ली में पैदा हुए और मौलवी इमाम बख़्श सहबाई से प्रारंभिक पुस्तकें पढ़ीं। कविता में शाह नसीर के शिष्य थे।

तसकीन १२१८-१२६८ हि० लेकिन उनके मरने के बाद मोमिन के शागिर्द हो कर प्रसिद्ध हुए। आजीविका के लिए लखनऊ और मेरठ गए। लेकिन जब वहां सफलता न हुई तो

रामपुर पहुँचे। वहां नवाब यूसुफ़ अली ख़ां ने उनका बहुत आदर किया। वहीं सन् १२६८ हि० में पचास वर्ष की अवस्था में उनकी मृत्यु होगई।

इनकी रचना से प्रकट होता है कि मोमिन के शागिर्दों में इनका विशेष स्थान था। यह बिल्कुल उन्हीं के पदानुगामी थे। यदि दोनों की कविता को मिला दिया जाय तो उनका पृथक् करना कठिन हो जायगा। तसकीन के बेटे मीर अब्दुलरहमान 'आसी' नवाब कल्ब अलीखां के समय तक रामपुर में रहे। यह भी अच्छे कवि थे।

नसीम देहलवी
१७६४-१८६४ ई०

मिर्ज़ा असग़र अली खां उपनाम 'नसीम' नवाब आक़ा अलीखां के बेटे थे। सन् १७६४ ई० में दिल्ली में पैदा हुये उस समय की प्रथा के अनुसार शिक्षा पाई। पिता के मरने पर भाइयों में अनबन हो गई। अतः वह अपने बड़े भाई अकबर अली खां के साथ लखनऊ चले आये। पीछे भाइयों ने आकर क्षमा मांगी लेकिन यह नहीं गये। जीवन पर्यंत लखनऊ में ग़रीबी के साथ निर्वाह करते रहे। लेकिन किसी के आगे हाथ नहीं फैलाया। वह क़ुरानी आज्ञा रोज़ा-निमाज़ आदि का पालन बड़ी श्रद्धा के साथ किया करते थे। ग़दर के बाद मुं० नवल किशोर के प्रेस में अलिफ़लैला के पद्य-बद्ध अनुवाद के लिये नियुक्त हुए। एक जिल्द समाप्त किया था कि प्रेस की ओर से जल्दी ख़तम करने का तक़ाज़ा हुआ। इससे वह रुष्ट होकर उस काम से पृथक् हो गये। शेष भाग मुंशी तोताराम 'शायाँ' ने पूरा किया।

आश्चर्य है कि जिस समय कविता में लखनऊ का ढंग ज़ोरों पर था, उस समय नसीम ने अपनी शैली में बड़ी ख्याति और सफलता प्राप्त की। वह आशु-कवि थे और स्वभाव में इतनी लापरवाही थी कि अपनी रचना की प्रति अपने पास नहीं रखते थे, जिससे उनकी बहुत सी कविता का पता नहीं है। उनका दीवान जो कुछ मिल सका उनके शिष्य हाफ़िज़ अब्दुल वाहिद खां मालिक मुस्तफ़ाई प्रेस ने छपवा दिया। लेकिन उससे

उनको झेंप थी। उनकी ग़ज़लों को मिर्ज़ा ग़ालिब भी पसंद करते थे। देहलवी होने और उस पर अभिमान रखने पर भी बहुत-से लखनऊ वाले उनके शागिर्द हुए, जिनमें अब्दुल्ला खां मिह्र, मुंशी अशरफ़ अली अशरफ़ तथा मुंशी अमीरुल्ला तसलीम प्रसिद्ध हैं।

नसीम में मोमिन का रंग प्रधान है। उनकी बहुत ही ललित वर्णन-शैली सूक्ष्म विचारों के साथ मिली हुई है, जिसको मोमिन का प्रसाद समझना चाहिए। उनकी रचना में नवीनता और मुहावरों की शुद्धि का बहुत ध्यान था। वह लखनऊ की बनावटी और शब्दों की भूल-भुलैया को पसंद नहीं करते थे। उनकी रचना में विचारों के आकर्षण के साथ भाषा की स्वच्छता और शुद्धता बहुत स्पष्ट है। अपने उस्ताद के समान वह भी फ़ारसी वाक्य-विन्यास का बहुत उपयोग करते थे और सूक्ष्म विचार, संगठन-शैली तथा पद्य-प्रवाह में उन्हीं के अनुयायी थे। सारांश यह कि नसीम का पद दूसरे दर्जे के कवियों में बहुत ऊँचा है।

नसीम की शैली

शेख़ इब्राहीम 'ज़ौक़' एक ग़रीब सिपाही शेख़ महम्मद रमज़ान के बेटे थे, जिनको दिल्ली के रईस नवाब लुत्फ़ अली खां के महल का कारोबार सिपुर्द था। यद्यपि ज़ौक़ का संबंध किसी बड़े घराने से न था अपनी योग्यता और कला के कारण हज़ारो कुलीन वंशजों से बढ़कर प्रसिद्ध हुए। आरंभ में वह एक मौलवी हाफ़िज़ गुलाम रसूल से पढ़ते थे जो साधारण कवि भी थे और जिनके पास बहुधा मुहल्ले के लड़के पढ़ने आते थे। हाफ़िज़ जी को कविता से बहुत प्रेम था और बहुधा मुशायरों में आया-जाया करते थे। उन्हीं के साथ ज़ौक़ भी हो लिया करते थे, जहां लोगों की कविता सुनकर उनको बहुत आनंद आता था। इस प्रकार से उनमें भी कविता करने की रुचि उत्पन्न हो गई। उस समय वह कुछ चुने हुए शेरों को याद

ज़ौक़-१२०४-१२७१ हि० १७८६-१८५४ ई०

कर लेते थे और उनको बार-बार पढ़ा करते थे । उस समय जो कुछ वह कविता करते थे वह उन्हीं हाफ़िज़ जी को संशोधन के लिये दिखलाते थे । कुछ दिनो के पश्चात् ज़ौक़ के सहपाठी मीर काज़िम हुसैन, कविता में शाह नसीर के शागिर्द हो गये, जिनका उस समय दिल्ली में बड़ा नाम था। उनकी देखा-देखी ज़ौक़ भी नसीर के शिष्य हो गए । लेकिन शाह साहब ने नवयुवक शिष्य की असाधारण प्रतिभा को देखकर यह विचार किया कि कहीं हमसे भी आगे न बढ़ जाय। अतः वह इनकी ग़ज़लों को कभी-कभी बिना देखे मुंह बनाकर लौटा दिया करते थे, यह कहकर कि जाओ और उद्योग करके लिखो। इधर ज़ौक़ को उनके मित्रों ने शाह साहब के विरुद्ध उभारा। परिणाम यह हुआ कि उन दोनों में उस्तादी और शागिर्दी का संबंध टूट गया और ज़ौक़ अपनी रचना का स्वयं संशोधन करने लगे । फलतः कुछ दिनों में वह बहुत प्रसिद्ध हो गए और उनकी ग़ज़लें महफ़िलों और बाज़ारों में गाई जाने लगीं । उस समय दिल्ली के युवराज मिर्ज़ा अबुल मुज़फ़्फ़र के यहाँ बहुधा मुशायरे हुआ करते थे, जिन में कभी-कभी ग़ज़लें तत्काल कही जाती थीं, जिसमें कवित्व-शक्ति और प्रखर होती थी और नौसिखिये कवियों की इच्छा और प्रबल हो जाती थी। इन जलसों में बहुधा पुराने कवि जैसे फ़िराक़, एहसान, शिकेबा, क़ासिम, अज़ीम और मिन्नत इत्यादि भाग लेते थे । इन सभाओं में मीर काज़िम हुसैन के द्वारा ज़ौक़ की भी पहुँच हो गई । संयोगवश उस समय शाह नसीर दिल्ली से कहीं बाहर चले गए थे और युवराज ज़फ़र की ग़ज़लें संशोधन के लिये काज़िम हुसैन को मिलने लगीं। फिर काज़िम हुसैन भी जान एलफ़िंस्टन के साथ मीर मुंशी हो कर बाहर चले गये। अब ज़फ़र की ग़ज़लों का संशोधन ज़ौक़ के सिपुर्द हुआ और इसके लिये उनको चार रुपया महीना मिलने लगा । यह रक़म बहुत तुच्छ थी, लेकिन इसकी पूर्ति उस प्रतिष्ठा के रूप में हुई जो ज़ौक़ को प्राप्त हुई और नगर के बड़े-बड़े लोग तथा पुराने कवि

उनको उस्ताद मानने लगे। दिल्ली में ग़ालिब के ससुर नवाब इलाही बख़्श खां एक कुलीन रईस थे और विद्वान् होने के साथ पुराने कवि भी थे, जो पहले शाह नसीर को अपनी कविता दिखलाते थे। जब ज़ौक़ की प्रसिद्धि हुई तो वह भी (आज़ाद के कथानुसार) ज़ौक़ के शागिर्द हो गये। उस समय ज़ौक़ की अवस्था बीस वर्ष की थी। इन दो प्रसिद्ध शिष्यों के उस्ताद होने से उनको अपनी रचना की प्रौढ़ता और सफ़ाई का अधिक ध्यान हुआ और वह अच्छे-अच्छे शेर कहने लगे। यह अभ्यास आगे चलकर उनके लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ, क्योंकि उनको उक्त नवाब साहब की कविता (जो कभी सौदा, कभी जुरअत और कभी दर्द की शैली की होती थी) के संशोधन में बहुत परिश्रम करना पड़ता था।

जब शाह नसीर दक्षिण से लौटे तब उन्होंने फिर अपनी उस्तादी का झंडा ऊँचा किया। इधर इतने दिनों में ज़ौक़ ने अभ्यास और उद्योग से कविता में अच्छी योग्यता प्राप्त करली थी।

शाह नसीर से मुठभेड़ कठिन से कठिन छंद और अनुप्रास में धारा प्रवाह कविता करने लगे थे। शाह नसीर ने दक्षिण में किसी की आज्ञा से गज़ल नौ शेरों की कही थी, जिसका तुकांत था 'आतशो आबो ख़ाको बाद'। वह गज़ल दिल्ली के मुशायरे में सुनाई गई, जिस पर शाह नसीर ने कहा कि इस तुकमें जो ग़ज़ल लिखे उसको मैं उस्ताद मानता हूँ। इस चुनौती पर ज़ौक़ ने एक ग़ज़ल और तीन क़सीदे तैयार किए। शाह साहब को अपने पुराने शिष्य की धृष्टता पसंद न आई। उन्होंने अपने एक शागिर्द से ज़ौक़ की रचना पर आक्षेप कराया। लेकिन ज़ौक ने उसकी शुद्धता को प्रमाण से सिद्ध किया। सारांश यह कि इसमें ज़ौक़ की विजय हुई। अब इनकी उस्तादी सर्वमान्य हो गई। इनके उत्कृष्ट कसीदों पर अकबर शाह द्वितीय ने इनको 'ख़ाक़ानी हिन्द' की

उपाधि से विभूषित किया। जब मिर्जा अबुल मुजफ्फर बहादुरशाह के नाम से गद्दी पर बैठे तो जौक़ ने एक क़सीदा पढ़ा, जिसका पहला शेर यह है—

रूकश तेरे रुख़ से हो क्या नूरे सहर रंगे शफ़क़।
है ज़र्रा तेरा परतवे नूरे सहर रंगे शफ़क़॥

इसके उपलक्ष में उनकी तनख़्वाह चार से पांच, पांच से सात और फिर धीरे-धीरे एक सौ रुपया महीने तक हो गई। इसके अतिरिक्त ईद-बकरीद के अवसर पर इनाम इकराम मिला करता था।

एक बार बादशाह बीमार होकर स्वस्थ्य हुए तो जौक़ ने यह क़सीदा लिखा—

वाह वा क्या मोतदिल है बाग़ेआलम की हवा।
मिस्ल नब्ज़े साहबे सेहत है हर मौजे सबा॥

इस पर ज़ौक़ को खलअत के सिवा ख़ान बहादुरी की उपाधि और चांदी के हौदा सहित एक हाथी मिला। फिर दूसरे क़सीदा—

'शब को मैं अपने सरे बिस्तरे ख़्वाबे राहत।
नश्शाये इल्म में सरमस्त गुरूरो नखवत॥'

पर एक गांव जागीर में मिला।

जौक़ का देहांत अड़सठ वर्ष की अवस्था में सन् १२७१हि० में हुआ। जौक़ बड़े ईश्वर-परायण और दयालु थे। उन्होंने एक चिड़िया तक का अपने हाथ से वध नहीं किया। वह कविता के अतिरिक्त संगीत, ज्योतिष, चिकित्सा-शास्त्र, और स्वप्नफल इत्यादि के भी ज्ञाता थे। लेकिन कविता इन सब पर प्रधान थी। आयु के साथ उनकी योग्यता भी बढ़ती गई। फ़िक्ह (इस्लामी धर्मशास्त्र) तसौवफ़ (अद्वैतवाद), तफ़सीर (कुरानी भाष्य), हदीस (मुहम्मद साहब के वचन) और इतिहास इत्यादि की भी उनको अच्छी जानकारी थी। सांसारिक अभ्युदय की उनको परवाह न थी। दिल्ली का उनको इतना मोह था

मिलता है।

उर्दू भाषा के विस्तार के जो लोग प्रेमी थे उन्हें इस भाषा को विविध वर्गों के लोगों तक पहुँचाने और उसको फैलाने के लिये दोनों प्रकार के शब्दों—अर्थात् देशी तथा विदेशी शब्दों के व्यवहार की आवश्यकता हुई। इस प्रयत्न की प्रगति अकबर के समय में बड़ी तीव्र थी।

अकबर कालीन स्वर्ण युग

शहंशाह अकबर का हृदय चाहता था कि देश की विजित प्रजा और बाहर के विजेता भाषा के द्वारा घुल-मिल जायँ। अतएव वह स्वयं कभी-कभी देशी भाषा अर्थात् हिन्दी में कविता करता था। उसके दरबारी भी उसके अनुकरण में हिंदी में रचना करते थे और हिंदी कवियों का समादर करते थे। उसके दरबारी कवि संस्कृत से फ़ारसी में अनुवाद करते थे। फ़ैज़ी ने प्रायः हिंदी दोहरे कहे और अब्दुल रहीम ख़ानख़ाना अकबरी दरबार का एक विशिष्ट व्यक्ति और फ़ारसी का विख्यात कवि हिंदी का भी अच्छी कोटि का कवि था। चूंकि विजेताओं और विजितों दोनों जातियों में हार्दिक एकता और मेल था, इस कारण भाषाओं में भी मेल उत्पन्न हुआ और कई भाषाओं से मिलकर एक नई भाषा उत्पन्न हो गई। उसी समय में राजा टोडरमल ने एक बड़ा काम किया, जो उर्दू के प्रचार के लिए बहुत लाभदायक सिद्ध हुआ। देश के मालविभाग के हिसाब पहले देशी भाषा में लिखे जाते थे जिनको इस विभाग के मुसलमान पदाधिकारी अच्छी तरह नहीं समझते थे और हिसाब की जाँच-पड़ताल में उन्हें विवश होकर अनुवादकों से सहायता लेनी पड़ती थी। और इस प्रकार देशी हिसाब लिखने वालों और विदेशी पदाधिकारियों के बीच एक खाई रहती थी। इसे राजा टोडरमल ने इस तरह दूर किया कि मुसल्मान पदाधिकारियों को हिंदी भाषा और हिंदू हिसाब लिखने वालों को फ़ारसी सीखने की आज्ञा दी। परिणाम यह हुआ कि फ़ारसी भाषा की शिक्षा

नौकरी और उन्नति प्राप्त करने वालों के लिए बहुत आवश्यक हो गई। किसी प्रकार की उन्नति और दरबार में प्रतिष्ठा बादशाह की भाषा जाने बिना संभव न थी। टोडरमल ने आज्ञा दे दी की माल विभाग में जो लोग नौकरी करना चाहें उनके लिए फ़ारसी भाषा जनना अनिवार्य है, अतएव जिस बात का आरंभ अकबर के समय में हुआ था। वह शाहजहाँ के शासन काल में अपनी पूर्णता को पहुँची। और अब भाषा इस योग्य हो गई कि वह साहित्यिक कार्यों के लिए व्यवहार में आ सके। उन्नति और सुधार का कार्य अवश्य भाषा में बराबर चलता रहा, वरन् हमारी समझ में अब तक चल रहा है।

अमीर खुसरो का समय उर्दू भाषा के विकास की दृष्टि से सच्चा उषाकाल न था। सच्चा उषाकाल हमारी समझ में बीजापूर और गोलकुन्डा के मुसल्मानी शाहों के दरबार में प्रकट हुई उर्दू कविता के साथ आता है। इस विकास के कारणों को हमने आगे चल के विस्तार के साथ व्यक्त किया है। यह बादशाह स्वयं विद्वान और विद्याव्यसनी थे

दकन के प्रारंभिक कवि और गोलकुंडा तथा बीजापूर के शाहों के दरबार

और विद्वानों का समादर करते थे। मुहम्मद क़ुली क़ुतुबशाह (१६२५-१६७२ ई); अबुलहसन क़ुतुबशाह (१६७२-१६८२ ई०) जिसने १७०७ में बंदीगृह में मृत्यु पाई — यह सब स्वयं कवि थे और कवियों के बड़े आश्रयदाता थे। मुहम्मद क़ुतुबशाह, अब्दुल्ला क़ुतुबशाह और अबुल हसन दकनी भाषा में कविता करते थे, जो कि उर्दू ही की एक शाखा है और जिसका वर्णन आगे आवेगा। इन सब ने ग़ज़ल, रुबाई, मसनवी क़सीदे और मरसिये लिखे जो अब भी प्राप्त हैं, यद्यपि कठिनाई से मिलते हैं। इसी प्रकार बीजापूर के इब्राहीम आदिलशाह द्वितीय (१५८०-१६२६ ई०) और अली आदिलशाह प्रथम (११५८-१५८० ई०) स्वयं विद्वान बादशाह थे और विद्वानों का अच्छा समादर करने

वाले थे। इब्राहीम आदिलशाह द्वितीय ने संगीत शास्त्र पर हिन्दी भाषा में एक प्रसिद्ध पुस्तक लिखी है जिसकी भूमिका फ़ारसी भाषा में उसके दरबार के प्रसिद्ध कवि और गद्य लेखक मुल्ला ज़हूरी (मृत्यु १६१७ ई०) ने लिखी और वह फ़ारसी की एक अद्वितीय रचना समझी जाती है और आगे चल कर उर्दू गद्य लेखकों ने उसका अनुकरण करने का बड़ा प्रयत्न किया है। इसी तरह अली आदिलशाह प्रथम भी बड़ा विद्वान बादशाह था।

'उसके दरबार के प्रसिद्ध कवि नुसरती की कई रचनाएँ प्राप्त हैं, जिनमें मसनवी 'गुलशन इश्क़' और 'आलीनामा' विशेष रूप से ज्ञात हैं। इनमें कोई ऐसी महत्व की बात नहीं, बल्कि दकनी भाषा के शब्दों और पुराने परित्यक्त शब्दों के मेलजोल से अनेक स्थलों पर आशय स्पष्ट नहीं होता। इन पुस्तकों का महत्व इतना अवश्य है कि वह उर्दू भाषा तथा साहित्य के क्रमिक विकास को दिखाने के लिए उदाहरण-स्वरूप बताई जा सकती हैं।

जब वली का उदय हुआ तो छोटे कवियों की आभा मंद पड़ गई। वली रेख़ता का आदि कवि हुआ और उसे उर्दू का चोसर

वली दकनी (१६६८-१७४४)

कहना चाहिए। इसी काल में उर्दू कविता की नींव नियमित रूप से पड़ी। वली की रचना, उत्तरी हिंदुस्तान के समस्त पद्य लेखकों के लिए उदाहरण स्वरूप बन गई और उसी को देखकर और अपने सामने रखकर उस समय के समस्त दिल्ली के कवियों ने उन्नति आरंभ की। वली की रचना अत्यंत स्पष्ट और सहज प्रवाहयुक्त और क्लिष्ट प्रयोगों से मुक्त है। सूफ़ियाना रंग भी झलकता है। फ़ारसी शब्दों और विचारों की बहुतायत अवश्य है, लेकिन इतनी नहीं की वह देशी भाषा को दबा दे। हिंदी शब्द भी फ़ारसी शब्दों के साथ जगह जगह मिले जुले हैं, जो बाद में 'मतरूक' हो गए हैं अर्थात् छोड़

दिए गए हैं।

वली के दीवान (संग्रह) के प्रकाशन के साथ ही, कविता का केंद्र, मानो दकन से बदल कर दिल्ली में आ गया। इस कारण कि यहां के लोगों को एक विशेष रुचि कविता में उत्पन्न हो गई। वली के सैकड़ों अनुकरण करने वाले उत्पन्न हो गए, जो उनकी रचना का बड़ा आदर करते थे और उसी ढंग पर स्वयं कविता करते थे। अब उर्दू कविता फ़ारसी की बराबरी में उन्नति करने लगी, और उसकी स्पर्द्धा करने लगी, यद्यपि उसमें वह परिपक्वता नहीं आई थी जो फ़ारसी कविता को अपने गौरवपूर्ण पद से गिरा सके। उर्दू कविता अब तक एक समय काटने की वस्तु समझी जाती थी, जिसे लोग पसंद अवश्य करते थे और फ़ारसी कविता में मस्तिष्क लगाने के अनंतर उससे दिल बहलाते थे। मुग़ल शासन यद्यपि बहुत निर्बल पड़ गया था, लेकिन अब तक उसमें जीवन शेष था और दरबारी भाषा अब तक फ़ारसी ही थी। उर्दू के निर्बल और नवोत्पन्न बालक के पास इतनी शक्ति कहां थी कि फ़ारसी के बलशाली प्रौढ़ पहलवान से बराबरी कर सके। इसीलिए उसे बराबरी का साहस न हुआ। उर्दू के पुराने कवि सब बड़े बड़े फ़ारसी-दां और फ़ारसी के अभ्यस्त कवि थे।

देहली के पुराने उर्दू कवि—हातिम, आबरू, आरज़ू

वली के अनुयायी ज़हूरुद्दीन हातिम (१६९९-१७९२ ई०) ख़ान आरज़ू (१६८९ १७५६ ई०), नाजी, मज़मून, आबरू और बहुत से अन्य कवि उत्पन्न हुए, जिन्हें उर्दू कविता के प्रारंभिक मार्ग-दर्शक समझना चाहिए। इनकी रचनाएं, सूफ़ियाना रंग में डूबी हुई, बहुत स्पष्ट और सहज और कृत्रिमता व आडंबर से बहुत कुछ मुक्त हैं। शब्दों के सजाने में बड़ा परिश्रम किया गया है और फ़ारसी शब्द तथा प्रयोग बहुतायत से मिलते हैं। वली के यहाँ जो हिंदी शब्द थे वह

इन के यहां नहीं या बहुत कम हैं। उनका स्थान फ़ारसी शब्दों ने ले लिया है। फ़ारसी छंद उर्दू कविता में बहुत भले जान पड़ते हैं और बहुत सुन्दरता से उनका निर्वाह हुआ है। उनकी कविता और भावुकता में किसी को संदेह नहीं और उनका अभ्यास भी ऐसा था जो सबको मान्य है। दिल्ली के कवि दकनी कवियों से एक पग आगे बढ़े हैं—यद्यपि उनमें फ़ारसी पन अपेक्षाकृत अधिक है। स्थानीय रंग का नितांत अभाव नहीं है, परन्तु यह क्रमशः हल्का पड़ता जाता है। हिंदी दोहरों का भी कुछ प्रभाव शेरों में पाया जाता है। दिल्ली के पुराने उर्दू कवियों की रचनाएं उर्दू के क्रमिक विकास में अपना विशेष स्थान रखती हैं।

यह समय उर्दू कविता की सबसे बड़ी उन्नति का समय है। इसमें वह अपने चकाचौंध करने वाले रूप में प्रस्फुटित होती है। यह समय

मीर और सौदा का समय

मीर और सौदा का समय है जो उर्दू कविता के महान् पुरुष माने जाते हैं। यह दोनों उस्ताद अपनी शैलियों, भावों की उच्चता तथा भाषा पर अधिकार के कारण अपने समस्त समकालीनों में बड़ा ऊँचा पद रखते थे। इनके समय में ग़ज़ल तथा क़सीदे दोनों बहुत ऊँचे कक्ष पर पहुँच गए थे। मिर्ज़ा मज़हर जानजाना, मीर दर्द, सोज़, क़ायम, यकीं बयां, हिदायत, क़दरत और जेया इनके समकालीन हैं जो सभी उर्दू के अतिरिक्त फ़ारसी भाषा की कविता के भी उस्ताद थे। चूँकि इन सब पर फ़ारसी का रंग चढ़ा हुआ था अतएव स्वभावतः हिन्दी शब्दों की अपेक्षा फ़ारसी शब्द पसंद करते थे क्योंकि वही उन्हें अच्छे जान पड़ते थे। इसी समय में भाषा कुछ ऐसे शब्दों और प्रयोगों से मुक्त हो गई जो वली और उनके समकालीन दिल्ली के कवियों के यहां बहुतायत से मिलते हैं। उन्होंने न केवल भाषा को सुथरा बनाया वरन् बहुत से सुन्दर और उपयुक्त फ़ारसी शब्द और मुहावरे, या तो अपने

वास्तविक रूप में या अनुवाद करके अपनी भाषा में ग्रहण कर लिए इनकी रचनाएँ उर्दू और फ़ारसी के मिश्रण से गंगांजमुनी हैं। सौन्दर्य और प्रेम के विषयों को जिस सुघरता और प्रभावशाली ढंग से इन सज्जनों ने बाँधा है उनसे पूर्व के उर्दू कवियों ने नहीं बाँधा। इनकी रचनाओं को देखकर आश्चर्य होता है और जान पड़ता है कि फ़ारसी शब्द भंडार को उन्होंने खँगाल डाला और उसमें से सैकड़ों मूल्यवान कण चुन कर अपनी भाषा में सम्मिलित कर लिए गुलाब बुलबुल, और क़मरी व शमशाद के प्रेम की कथाएँ जिन्हें फ़ारसी कवि बहुत पुराने समय से बाँधते चले आए थे अब उर्दू में भी समाविष्ट हुईं और नए विचारों तथा नए प्रयोगों के साथ बड़ी सुंदरता से इनका निर्वाह किया गया। रचना के नए नए रूप सामने आए और उनमें कौशल दिखाया गया। ग़ज़लें ऐसे वृत्तों में कही जाने लगीं जो पहले प्रचलित न थीं। नई नई उपमाएँ तथा रूपक व्यवहार में आये। वासोख़्त, मरसिया, मुख़म्मस, हजो, मुसल्लस, मुरब्बा और मुस्तज़ाद आदि फ़ारसी से लिए गये और ख़ूब ख़ूब कहे गए। काव्य के जो रूप पहले से बरते जाते थे उनमें भी उन्नति हुई। द्व्यर्थी रचनाएँ कम हुईं। मीर को यह कृत्रिमता कम पसंद थी। मज़हर और उनके समकालीनों तथा साथियों ने भी मीर का अनुकरण किया। इस काल के कवि कुछ विशेष रूपों के प्रचारक ही न थे, उनमें उन्होंने बड़ी विशेषतायें उत्पन्न कर दीं और भावी उन्नति का मार्ग स्थिर कर दिया। इसमें सन्देह नहीं कि उनकी नवीन कृतियाँ फ़ारसी प्रयोगों से प्रभावित थीं, और उन्हीं पर आश्रित थीं। इस काल में उर्दू भाषा ने बड़ी ही उन्नति की, उसकी शक्ति और विस्तार में बड़ी उन्नति हुई, उसमें लोच बढ़ा, नए शब्द, मुहावरे, प्रयोग बढ़े, जिनसे आगे उन्नति का द्वार खुल गया।

बाद के दिल्ली के कवियों से एक दूसरा युग आरंभ होता है। इसमें असर, मीर हसन, जुरअत, इंशा, मसहफ़ी, सिख़, बक़ा, हसरत, रङ्गीं

इंशा और मसहफ़ी का समय, भाषा और कविता के प्रति उनकी सेवाएँ

और फ़िराक़ प्रसिद्ध हुये हैं। इस युग में भी वही पुराना क्रम हिन्दी शब्दों को अलग करने और उनके स्थान पर फ़ारसी अरबी शब्दों को समाविष्ट करने का बराबर चलता रहा। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ हिन्दी तथा भाषा के शब्द जो अलग किये गये भद्दे और क्लिष्ट अवश्य थे और साहित्यिक रचनाओं के अनुपयुक्त थे, लेकिन उनके समष्टि रूप से निकाल दिए जाने से देश की भाषा की दृढ़ उन्नति में अवश्य बाधा पहुँची। ऐसे मूल्यवान् शब्द जो कि संस्कृत और प्राकृत के कोष से उर्दू के अधिकार में बहुत समय से आ चुके थे, फ़ारसी के प्राधान्य के कारण उन्हें अलग करना पड़ा। पुराने उर्दू कवि संस्कृत और हिन्दी के विद्वान नहीं थे इसलिये उन्होंने हिन्दी शब्दों का आदर नहीं किया और उन्हें अलग कर दिया और उनके स्थान पर फ़ारसी तथा अरबी शब्द रख दिये। इस क्रम को वह लोग, तथा उस समय के फ़ारसी प्रेमी मुसल्मान लेखक 'भाषा का सुधार" करना समझते हैं। इसी समय में एक और उन्नति यह भी हुई कि पुराने वर्जित प्रयोग जो मीर सौदा के समय में शेष रह गए थे निकाल दिए गए, और उनके स्थान पर नए सुंदर शब्द और प्रयोग समाविष्ट कर लिए गए। हिंदी और फ़ारसी मुहावरे और प्रयोग आपस में मिला दिए गए। शैलीकी दृष्टि से कोई नूतनता नहीं आई। काव्य-विषय में भी कोई नई बात नहीं। आई हाँ, शारीरिक प्रेम से बंधी कविता ने कुछ विशेष ध्यान आकर्षित किया। इस युग की कविता, समकालीन नैतिक दशा और दिल्ली के बिगड़े हुए समाज का ठीक चित्रण है। प्रियतम के शारीरिक सौंदर्य की अब अधिक प्रशंसा होती थी। कुछ कवियों ने तो खुले ढंग से एक और रंग ग्रहण कर लिया, जिसे 'मामला बंदी' कहते है, और यह अपनी कविता में निकृष्ट तर भावनाओं का स्थान देते रहे। इंशा

और रंगीं इस दिशा में विशेष रूप से आगे आते हैं।

यह उच्छृंखलता आगे चल कर एक विशेष रूप में प्रकट हुई जिसका नाम "रेख़्ती" या स्त्रियों की भाषा रक्खा गया। जान पड़ता है कि यह शब्द रेख़्ता से निकला है और उसका स्त्री-लिंग है। हरम की भाषा में स्वतः कोई दोष नहीं, लेकिन उसका उपयोग जान बूझकर वासनापूर्ण भावों के प्रकट करने में किया गया और इस कारण वह कविता वीभत्स, अशिष्ट रूप में सामने आई और भले आदमियों के कानों तक को बुरा लगनेवाला थी। ऐसी समस्त रचनाएँ जो स्त्रियों को पढ़ाने के योग्य नहीं होतीं, अशिष्ट और फूहड़ होती हैं। स्त्रियों को शिक्षा संबंधी उन्नति प्रत्येक देश और प्रत्येक जाति में भाषा की उन्नति का एक बड़ा साधन होती है। रेख़्ती के उदाहरण पुराने कवियों की रचनाओं में भी कहीं कहीं मिलते हैं—जैसे मौलाना हाशमी बीजापुरी और वली के समकालीन सैयद मुहम्मद कादरी की रचनाओं में भी इस रंग का पता चलता है। लेकिन मालूम होता है कि बाद में यह बिल्कुल वर्जित हो गया था। इसको पुनर्वार जीवत करने वाले हैं सआदतयार खां रंगी तथा उनके मित्र इंशा। सबसे बड़े रेख़्ती-कार मीरयार अली खां, उपनाम 'जान' साहब समझे जाते हैं। इंशा विभिन्न शैलियों में कविता करते थे। कभी रेख़्ती भी कह जाते थे, लेकिन जान साहब ने इसे एक कला का रूप दिया, और इस रंग के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा। सौभाग्य से कविता की यह शैली समय के साथ बहुत कुछ बदल गई, और अब प्रायः वर्जित है।

रेख़्ती

इस युग के कवि ग़ज़ल के उस्ताद थे, और मसनवी और क़सीदा भी अच्छा कहते थे। लोगों में कविता की चर्चा थी। मुशायरे बहुधा हुआ करते थे। इस काल के बहुत से कवि अपनी जन्म भूमि दिल्ली छोड़ कर इधर उधर भी चले गए और कुछ लखनऊ भी पहुँचे जहाँ

कि एकबार हैदराबाद के दीवान राजा चंदूलाल 'शादां ने, जिनको कविता से बहुत प्रेम था और कवियों के बड़े आश्रयदाता थे, उनको बुला भेजा, तो उन्होंने निम्न शेर भेजकर इन्कार कर दिया—

'इन दिनों गरचे दकम में है बड़ी क़दरे सखुन ।
कौन जाए ज़ौक़पर दिल्ली की गलियां छोड़कर ॥'

वह एक संकरी गली में एक छोटे से मकान में रहा करते थे, जिसमें कोई सजावट न थी न कुछ आराम का सामान था। उसी में हरदम बंद रहकर कविता के चिन्तन में डूबे रहते थे और दुनिया की ख़बर न थी। क़ुरानी आज्ञाओं निमाज़-रोज़ा इत्यादि का बहुत नियमानुसार पालन किया करते थे।

रचनाएं

एक ऐसे व्यक्ति से जिसने पचास वर्ष से अधिक कविता की हो और इसके सिवा जिसका दूसरा धंधा न था उससे आशा की जा सकती थी कि अनेक दीवान और लाखों शेर छोड़ गया होगा। लेकिन खेद है कि उनकी सारी रचना ग़दर के लूटमार में नष्ट हो गई। उनके योग्य शिष्य मौलवी मुहम्मद हुसैन आज़ाद ने अपनी पुस्तक 'आबेहयात' में इस दुर्घटना को बड़े दुःख के साथ लिखा है और यह बतलाया है कि उनकी कविता जो कुछ हमारे सामने है, वह स्वयं उनके और हाफ़िज़ ग़ुलाम रसूल 'वीरान' के उद्योग का फल है।

ज़ौक़ ग़जल और कसीदा दोनों के उस्ताद थे, जिनको वे पर्याप्त संख्या में छोड़ गए हैं। 'आबे-हयात' से मालूम होता है कि ज़ौक ने शृंगार रस में एक पत्र मसनवी के रूप में 'नामा-जहाँ सोज़' के नाम से पांच सौ शेरों में लिखा था, जो पूरा नहीं हुआ था। वह भी ग़दर में लुट-पुट गया। उन्होंने कुछ मुखम्मस रुबाई और तारीख़ें भी लिखी थीं, जिनमें से बहुत सी नष्ट हो गईं। कुछ उनके दीवान में मिला दी गई हैं। उन्होंने अपने शागिर्द ज़फ़र के लिए कुछ गीत भी

बनाए थे। अलबत्ता सलाम, मरसिया और हजो उनकी रचना में पाए नहीं जाते।

ज़ौक़ का सबसे बड़ा काम यह है कि उन्होंने उर्दू-भाषा को ख़ूब साफ़ करके चमकाया। वह बड़े कलाकार थे। शब्द-विन्यास और शब्दों के समुचित प्रयोग के अच्छे ज्ञाता थे।

भाषा की सेवा

मुहावरों और उदाहरण के व्यवहार में भी अद्वितीय थे। छंद-शास्त्र की जानकारी, तथा विषय और विचारों की ऊँची उड़ान उनकी कविता के विशेष गुण हैं, जो किसी दूसरे कवि के यहां ऐसे मनोहर रूप में कठिनाई से मिलेंगे।

ज़ौक़ की कविता में कृत्रिमता बिलकुल नहीं है। उनके यहां रूपक, उपमा तथा अन्य अलंकार आटे में नमक के अनुपात से सम्मिश्रित हुए हैं, जिससे उनके रचना की शोभा दूनी हो गई है। उसके पढ़ने से यह नहीं मालूम होता कि कवि बलात् अपनी योग्यता का प्रदर्शन करना चाहता है। उनकी रचना में प्रवाह भी ख़ूब है। विचारों के उड़ान से शब्दों के सौंदर्य में कोई बाधा नहीं पड़ती। उनके शेरों में कोई व्यर्थ अंश नहीं है। शिथिल पद्य उनके दीवान में बिलकुल नहीं हैं। कवित्व-शक्ति और विविध विषयों की दृष्टि से उनकी तुलना सौदा से की जा सकती है, और उन्हीं के वह अनुयायी भी थे लेकिन ज़ौक़ के यहां अन्य उस्तादों का भी रंग पाया जाता है, जैसे ख़्वाजा मीरदर्द, जुरअत और मुसहफ़ी का। क़सीदा में वह अपने समस्त समकालीन कवियों से बढ़ कर माने गए हैं। कहा जाता है उनके बहुधा क़सीदे नष्ट हो गए हैं, लेकिन जो कुछ हमारे सामने हैं वह कविता पर उनके असाधारण अधिकार, ऊँचे विचारों की उड़ान और पद्य-प्रवाह के अनुपम नमूने हैं। इस कला में वह अद्वितीय थे। उनकी ग़ज़लें नवीन

रचना-शैली

विषय, सुंदर मुहावरों, सादगी और सफ़ाई के लिए प्रसिद्ध हैं। इनकी वह ग़ज़लें जुरअत के रंग में हैं, लेकिन जुरअत की त्रुटियों से मुक्त हैं और बहुत ऊँचे दर्जे की हैं। उनकी रचना पर कुछ लोगों को यह आपत्ति है कि वह निर्दोष नहीं है और वह साधारण लोगों के लिए है। ऐसी दशा में जब उनके समकालीन बड़े-बड़े फ़ारसी-अरबी के विद्वान् शायर थे, जिनकी कविता मामूली लोगों की समझ से बाहर थी, तो यह आपत्ति बेजा भी नहीं है सूक्ष्म विचारों में यदि वह ग़ालिब से कम हैं तो सादगी और सफ़ाई में वह उनसे बढ़े हुए हैं; और क़सीदों में तो ज़ौक़, ग़ालिब से कहीं आगे हैं। सारांश यह कि कविता के गगन पर ज़ौक़ एक देदीप्यमान तारक बन कर चमके और उर्दू भाषा के सर्वश्रेष्ठ कवियों में उनकी गणना की जा सकती है।

ज़ौक़ के शिष्य

ज़ौक़ के सैकड़ों शिष्य थे, जिनमें नवाब मिर्ज़ा ख़ां, दाग़, ज़फ़र, आज़ाद, ज़हीर और अनवर बहुत प्रसिद्ध हुए हैं। ज़ौक़ के एक ही पुत्र ख़लीफ़ा महम्मद इस्माईल थे, जिनकी ग़दर में मृत्यु हो गई।

सैयद ज़हीरुद्दीन उपनाम 'ज़हीर,' सैयद जलालुद्दीन हैदर के बेटे दिल्ली के निवासी थे। उनके पिता बहादुरशाह के सुलेखन के उस्ताद 'मुरस्सा रक़म ख़ान बहादुर' की उपाधि से विभू-

ज़हीर मृत्यु ६[illegible] ई०

षित थे। स्वयं ज़हीर भी थोड़ी अवस्था में शाही नौकर हो गए और 'राक़िमुद्दौला' की उपाधि तथा एक सजी हुई दावात इनाम में पाई थी। कविता से बचपन ही से प्रेम था। चौदह वर्ष की अवस्था में ज़ौक़ के शागिर्द हो गए। ग़दर के पश्चात् विवश होकर दिल्ली से बाहर निकलना पड़ा। झझ्झर, सोनीपत, नजीबाबाद होते हुए बरेली आए और वहां से लखनऊ का इरादा किया। लेकिन वहां की दुर्दशा को सुनकर कुछ दिनों बरेली में रहकर रामपुर चले गए। वहां चार वर्ष रहे। वहां से दिल्ली चले गए

और वहां चुंगी में नौकर हो गए। उनके कुछ दिनों बाद बुलंदशहर के समाचार पत्र 'जलवातूर' के संपादक हो गए। उनके लेखों को अलवर नरेश महाराजा ध्यानसिंह ने पढ़ कर बहुत पसंद किया और उनको अपने यहां बुला लिया। वहां चार वर्ष रहे, फिर वहां के षड्यंत्र से ऊब कर दिल्ली चले गए और नवाब मुस्तफ़ा ख़ां शेफ़्ता की सिफ़ारिश से जयपुर की पुलीस में उनको एक अच्छी जगह मिल गई। वहां लग-भग उन्नीस वर्ष रहे। फिर महाराजा के मरने पर इनका संबंध वहां से टूट गया। कुछ दिन के पश्चात् टोंक के नवाब अमीर ख़ां के पुत्र नवाब महम्मद अली ख़ां ने इनको बुला लिया। नवाब के जीवन पर्यंत यह वहां बड़े सम्मान के साथ रहे। उसके पश्चात् उनके पुत्र नवाब इब्राहीम अली ख़ां ने इनकी पेंशन नियुक्त कर दी। इस प्रकार यह १५-१६ वर्ष टोंक में रहे। अंत में ज़हीर ने हैदराबाद जाने की इच्छा की। अतः टोंक से छुट्टी लेकर हैदराबाद गए। वहां आठ महीने पश्चात् दरबार में पहुँच हुई, लेकिन तंख़ाह नहीं बंधी, कि इनकी मृत्यु हो गई। बेकारी के समय में महाराजा किशन प्रसाद इनकी सहायता करते रहे।

ज़हीर ने बहुत कविता की। उनका एक दीवान 'गुलिस्तान सखुन' के नाम से आगरे में छप गया है। दूसरे-तीसरे दीवान भी करीमी प्रेस बंबई में छप गए हैं। चौथा दीवान तीन सौ ग़ज़लों और कुछ क़सीदे मुख़म्मस का मौलाना हसरत मौहानी के कथनानुसार ज़हीर के पौत्र के पास हैं।

ज़हीर अपने समय के प्रसिद्ध कवि थे। यह थे तो ज़ौक़ के शागिर्द, लेकिन इनकी रचना में मोमिन की शैली का रंग अधिक पाया जाता है, जिसको उन्होंने अपने कुछ ग़ज़लों के अंत में स्वयं स्वीकार किया है।

जैसे :—

तर्ज़ मोमिन से न आगाह था जब तक कि ज़हीर ।
सच तो यह है कि कभी रंग ग़ज़ल ने न दिया ॥

यह अंतिम समय के नामी कवि थे । भाषा और कविता के उस्ताद माने जाते थे । इनके प्रसिद्ध शागिर्द नज्मुद्दीन अहमद 'साकिब' बदायूनी हैं, जो 'पहलवाने सख़ुन' कहलाते हैं ।

सैयद शुजाउद्दीन, उपनाम उमराव मिर्ज़ा जिनका कविनाम 'अनवर' था, उक्त ज़हीर के छोटे भाई थे । पहले यह भी ज़ौक़ के शिष्य हुए । उनके पश्चात् ग़ालिब को अपनी कविता दिखलाने लगे । बड़े योग्य और होनहार कवि थे । लेकिन खेद है कि ३८ वर्ष ही की अवस्था में जयपुर में इनका निधन हो गया । इनके समय के लोग इनका बहुत आदर करते थे ।

अनवर

यह उन सब मुशायरों में सम्मिलित हो चुके है जो ग़दर के दस वर्ष पीछे दिल्ली में हुआ करते थे, जिनमें दाग़, हाली, ज़हीर, मजरूह, सालिक, अरशद और मश्शाक़ इत्यादि अपनी ग़ज़लें सुनाते थे । इनके दो दीवान नष्ट हो गए हैं । लेकिन 'ख़ुमख़ानए जावेद' के रचयिता लाला श्रीराम साहब ने बड़े परिश्रम से कुछ स्फुट शेरों का संग्रह करके एक दीवान छपवाया है । अनवर की विशेषता यह है कि इनकी रचना में ज़ौक़, ग़ालिब और मोमिन तीनों का रंग कुछ न कुछ पाया जाता है ।

उर्दू भाषा के आचार्य, कविता-गगन के उज्ज्वल नक्षत्र अपने समय के सर्वश्रेष्ठ उस्ताद तथा दार्शनिक कवि मिर्ज़ा असदुल्ला ख़ां उपनाम 'असद' व 'ग़ालिब' सन् १७९६ ई० में आगरे में पैदा हुए, इनको लोग 'मिर्ज़ा' नौशा भी कहते थे तथा 'नज्मुद्दौला दबीरुल मुल्क निज़ाम जंग' की उपाधि इनको दिल्ली दरबार से मिली थी । मिर्ज़ा को अपनी योग्यता के समान

ग़ालिब-१२१२ हि०-१२८५ हि० १७९६-१८६९ ई०

अपनी कुलीनता का भी बड़ा अभिमान था। उनके एक फ़ारसी शेर का आशय यह है—

'मैं तूरान के ऐबक तुर्कमानों के वंश से हूँ और अपनी जाति के बड़े लोगों से मेरा संबंध है।" यह वंश सलजूक़ी बादशाहों के द्वारा अपने को ईरान के बादशाह फरेदूं का वंशज समझता था। मिर्ज़ा के पितामह हिन्दुस्तान में आकर शाहआलम के दरबार से सम्मानित हुए। मिर्ज़ा के पिता अब्दुल्ला बेग़ खाँ ने अस्थायी जीवन व्यतीत किया। कुछ दिनों अवध के दरबार में रहे। फिर हैदराबाद गए, जहाँ नवाब निज़ाम अली खाँ की सरकार में तीन सौ सवारों के अफ़सर रहे। कई वर्ष के बाद घर आए और अलवर-नरेश राजा बख़्तावर सिंह के यहाँ नौकर हो गये, जहाँ क़िले पर किसी सरदार के हमले में सन् १२१७ हि० में मारे गये। उस समय मिर्ज़ा ग़ालिब पाँच वर्ष के थे। मिर्ज़ा की माता ख़्वाजा ग़ुलाम हुसैन खाँ की पुत्री थीं, जो फ़ौज के कमांडर और आगरे के प्रसिद्ध रईस थे। पिता के देहांत के पश्चात् मिर्ज़ा का पालन-पोषण तथा शिक्षण उनके चचा मिर्ज़ा नसरुल्लाबेग खां ने किया, जो अंग्रेज़ी फ़ौज में रिसालदार थे और सरकार से जागीर पाए हुये थे। वह भी जब सन् १२२१ हि० में मर गये तो उस समय मिर्ज़ा नौ वर्ष के थे। उसके पश्चात् उनके ननिहाल द्वारा उनका पालन-पोषण होता रहा और उनके चचा के जागीर के बदले सरकार अंग्रेजी से पेंशन मिलती रही।

इस प्रकार मिर्ज़ा का बचपन आगरे में व्यतीत हुआ, जहाँ वह पुराने उस्ताद शेख़ मुअज़्ज़म से शिक्षा पाते रहे, और कहा जाता है कि प्रसिद्ध कवि नज़ीर अकबराबादी से भी आरंभ में कुछ किताबें पढ़ी थीं। जब वह चौदह वर्ष के हुए तो हुरमुज़ नामक एक पारसी से उनका संपर्क हुआ जो ज़िन्द-पाज़िन्द का विद्वान् और बड़ा पर्यटक भी था। पीछे मुसलमान होकर उसने अपना नाम अब्दुस्समद रख लिया था। मिर्ज़ा का उसका साथ लगभग दो वर्ष तक रहा। अतः मिर्ज़ा ने उससे फ़ारसी

भाषा का ज्ञान बहुत कुछ प्राप्त किया। उसके सत्संग का मिर्ज़ा को बहुत गर्व था। निस्संदेह उसकी शिक्षा से मिर्ज़ा को प्राचीन फ़ारसी और उसके शुद्ध मुहावरों की योग्यता बहुत प्राप्त हुई, जो एक मातृभाषा वाले विद्वान् ही से हो सकती थी।

ग़ालिब दिल्ली में पहले-पहल सन् १२१६ हि० में गए, जब उनके चचा का विवाह नवाब फ़ख़रुद्दौला के घराने में हुआ। स्वयं उनका विवाह नवाब इलाही बख़्श खाँ मारूफ़ की बेटी से सन् १२२५ हि० में हुआ जो लोहारू के रईस के छोटे भाई थे। उस समय मिर्ज़ा केवल तेरह वर्ष के थे। उस समय दिल्ली के वातावरण में शायरी गूँज रही थी। जगह-जगह मुशायरे हुआ करते थे। फिर उनकी शादी एक बड़े शायर की बेटी से हुई। इन कारणों से उनको भी शायरी का चसका लगा। पहले वह फ़ारसी में कविता करते थे और उसमें बहुत कुछ लिखा। धीरे-धीरे उर्दू की ओर झुके। पहले 'असद' के नाम से कविता करते थे।

सन् १२४५ हि० में कविता में अपना नाम 'ग़ालिब' रक्खा। लेकिन जिन ग़ज़लों में असद नाम था, उनको वैसा ही रहने दिया। अपने चचा की जागीर के बदले में जो पेंशन मिलती थी और जो बंद हो गई थी उसकी बहाली के लिये मिर्ज़ा सन् १८३० ई० में कलकत्ता गये। विलायत में अपील करने पर भी यह बहाल न हुई। रास्ते में लखनऊ और बनारस की भी सैर की। एक क़सीदा नसरुद्दीन हैदर तत्कालीन अवध-नरेश और एक गद्य में उनके वज़ीर, की प्रशंसा लिखकर भेंट किया। वाजिदअली शाह की सरकार से उनको पाँच सौ रुपया वार्षिक नियत हो गया था। लेकिन दो वर्ष बाद अवध का राज्य ज़ब्त होने पर बंद हो गया। कोतवाल शहर की अदावत से सन् १२६४ हि० में उनको तीन महीने के क़ैद की सज़ा हो गई थी, लेकिन जेल में उनके पदानुसार उनका आदर-सम्मान होता रहा।

सन् १८४२ ई० में दिल्ली कालेज में वह फ़ारसी की अध्यापकी के लिए इच्छुक हुए, लेकिन तत्कालीन गवर्नमेंट सेक्रेटरी मि० टामसन ने मिलने के समय यथायोग्य उनका स्वागत नहीं किया। इसको मिर्ज़ा ने अपना अपमान समझकर उस जगह से इन्कार कर दिया। सन् १८४९ ई० में बादशाह ने मिर्ज़ा को नज्मुद्दौला, दबीरुल मुल्क निज़ाम जंग की उपाधि दी और पचास रुपया महीना नियत करके तैमूरी ख़ानदान का एक इतिहास लिखने के लिए कहा। सन् १२७१ हि० में ज़ौक़ के मरने के बाद मिर्ज़ा बादशाह के उस्ताद हो गये। ग़दर में बादशाही नौकरी और वहाँ से घनिष्ट संबंध रखने के कारण मिर्ज़ा भी विपत्ति के लपेट में आ गए। उनकी पेंशन बन्द हो गई और उनके आचरण की जाँच होने लगी। जब वह निर्दोष सिद्ध हुए तब उनकी पेंशन बहाल हुई और पूर्ववत् उनका सम्मान स्थिर हो गया। ग़ालिब रामपुर के नवाब यूसुफ़ अली खाँ के भी उस्ताद थे, जहाँ से उनको एक सौ रुपया मासिक आयु पर्यंत मिलता रहा। अंत में १५ फ़रवरी सन् १८६९ को ७३ वर्ष से कुछ ऊपर होकर दिल्ली में ग़ालिब ने शरीर त्याग कर दिया।

ग़ालिब का व्यक्तित्व और स्वभाव

ग़ालिब बहुत ही मिलनसार और सुशील आदमी थे। उनके अनेक मित्र और गुण-ग्राहक थे। मित्रों के साथ नियमानुसार और तत्परता के साथ पत्र-व्यवहार किया करते थे और दूर के शागिर्दों की रचना का संशोधन भी पत्र ही द्वारा किया करते थे। वह पत्र के उत्तर देने में बड़े तत्पर थे। उनका यह अभ्यास मरते दम तक रहा। प्रेम और सहानुभूति उनकी घुट्टी में पड़ी थी जैसा कि उनके पत्रों और शेरों से प्रकट होता है। धर्मांधता से कोसों दूर थे। उनका धर्म मनुष्य मात्र के साथ प्रेम करना था। सांप्रदायिक भेद-भाव उनमें तनिक भी न था। उनके मित्रों और शागिर्दों में अनेक हिन्दू

भी थे, जिसमें मुंशी हरगोपाल तुफ़्ता फ़ारसी के प्रसिद्ध कवि थे। यद्यपि मिर्ज़ा की आर्थिक-दशा कभी अच्छी नहीं रही, फिर भी जितनी उनकी आय थी वह उनकी जरूरत के साथ उनके मित्रों के लिए अर्पण थी। उदारता के साथ वह स्पष्टवक्ता और स्वच्छ हृदय के लिए भी प्रसिद्ध थे। अपनी त्रुटियों को वह कभी नहीं छिपाते थे। यह सब जानते हैं कि वह शराब पीते थे। लेकिन इसको उन्होंने कभी नहीं छिपाया, बल्कि अपने शेरों में और मित्रों के पत्र में कुछ कारण लिख कर प्रकट कर देते थे। मानों अपनी लज्जा का प्रकाशन कर देते थे। नम्रता के साथ-साथ वह आत्म-सम्मान और अपनी प्रतिष्ठा का भी बहुत ध्यान रखते थे। बड़े-बड़े अमीरों से वह बराबरी के साथ मिलते थे। दिल्ली कालेज की प्रोफ़ेसरी के इन्कार करने की घटना ऊपर बताई जा चुकी है। कभी-कभी उनका यह विचार सीमा से अधिक बढ़ जाता था। लेकिन अपने मित्रों से नम्रता के साथ ही रहते थे। तेरह वर्ष में ही उनका विवाह हुआ था। वह अपनी स्त्री से प्रसन्न न थे और न उससे अधिक प्रेम करते थे। लेकिन स्पष्टतया कोई वैसा वैमनस्य न था और न मेल-मिलाप में कोई भेद-भाव था। उनके कई संतानें हुईं, लेकिन सब बचपन में मर गईं। उनके छोटे भाई पागल थे। उन्हीं के साथ रहते थे, ग़दर में मर गए। मिर्ज़ा अपनी स्त्री के भांजे ज़ैनुल-आबदीन खाँ से बहुत प्रेम रखते थे। यह बड़े होनहार कवि थे। उन्हीं के सामने मर गये। उनके दो बच्चों को मिर्ज़ा बहुत चाहते थे। अंतिम समय में विविध रोगों और चिंताओं से मिर्ज़ा बहुत क्षुब्ध हो गए थे। फिर उनको अर्थ-संकट भी था। ऐसी दशा में आश्चर्य नहीं कि वह अपनी चिंताओं को हल्का करने के लिए सुरापान कर लिया करते थे। जैसा कि कहा है :—

'मय से ग़रज़ निशात है, किस रूसियात को।
इक गूना बेख़ुदी मुझे दिन रात चाहिये॥'

मीर के समान ग़ालिब ने बहुत सी मुसीबतों का मज़ा चक्खा था। इसी से उनकी कविता में विशेष कथा-वेदना है। मिर्ज़ा की रचना में आत्म-प्रशंसा बेजा नहीं हैं, बल्कि उससे उनके शेरों की शोभा बढ़ गई है क्योंकि वह बड़े लालित्य के साथ वर्णन की [illegible] है लिखते हैं :

'हूँ ज़हूरी के मुक़ाबिल में ख़फ़ाई ग़ालिब।
मेरे दावे प यह हुज्जत है कि मशहूर नहीं॥'

सबसे बड़ी बात मिर्ज़ा की रचना में उनका बहुत ही सुन्दर विनोद था, जिसके कारण बड़े-बड़े कष्ट को वह हंस-खेलकर काट देते थे। इसको उन्होंने दार्शनिक ढंग से इस प्रकार कहा है :—

'रंज से ख़ूगर हुआ इन्शां तो मिट जाता है रंज।
मुश्किलें इतनी पड़ीं मुझ पर कि आसाँ हो गईं॥'

कठिन से कठिन अवसर पर उनके विनोद की बिजली चमक जाती थी, जिससे उनके दुख-दर्द का अंधकार दूर हो जाता था। उनके विनोद में किसी प्रकार की तीव्रता और कटुता नहीं होती, बल्कि उसमें समुचित नवीनता के साथ सहानुभूति और वेदना की झलक पाई जाती है। कहीं-कहीं उनकी रचना में उदासीनता की छटा अवश्य पाई जाती है, पर उससे उनको घृणा नहीं मालूम होती। उनके परिहास से कोई नहीं छूटा। यहाँ तक कि अपनी पत्नी के विषय में एक पत्र में लिखते हैं :—

'एक ऊपर पचास वर्ष से जो फाँसी का फंदा गले में पड़ा है, तो न फंदा ही टूटता है न दम ही निकलता है।'

यदि मिर्ज़ा साहब के इस प्रकार के चुटकुलों की ओर देखना हो तो मौलाना हाली की पुस्तक 'यादगार ग़ालिब' देखना चाहिए, जिसमें इस प्रकार की बहुत सी बातें लिखी हैं।

मिर्ज़ा ग़ालिब का स्थान शायरी में बहुत ऊँचा है और इनको सभी ने स्वीकार किया है। उनका अध्ययन बहुत विशाल और उनका ज्ञान-

ग़ालिब की विद्वत्ता और कवित्व शक्ति

क्षेत्र बहुत विस्तृत था। उनको फ़ारसी से इतना प्रेम था कि वे सदैव यह चाहते थे कि उनकी योग्यता का अनुमान उनकी फ़ारसी-रचना से किया जाय और इस पर उनको खेद है कि लोग फ़ारसी से क्यों इतना विमुख होते जाते हैं कि उनकी कविता का गुण-ग्राहक और समझने वाला कोई नहीं है। यह विचित्र बात है कि वह अपनी फ़ारसी नहीं बल्कि उर्दू कविता के कारण प्रसिद्ध हुए, जिसका वह कोई आदर नहीं करते थे। उनके एक फ़ारसी शेर का आशय है :

'फ़ारसी देखो जिससे तुम समझो कि मैं चीन के प्राचीन चित्रकार मानी और अरज़ंग के समान हूँ और मेरी रचना उनका चित्रपट है।'

उर्दू की कविता यह कभी-कभी स्वाद बदलने के लिए और अपने मित्रों की प्रेरणा से कर लिया करते थे। अनेक पुस्तकों का उन्हों ध्यानपूर्वक अध्ययन किया था। उनकी स्मरण-शक्ति बड़ी तीव्र थी। वह पुस्तकें कभी मोल नहीं लेते थे, माँगकर पढ़ा करते थे। वह आशु कविता भी करते थे। एक बार कलकत्ते में अपने मित्र मौलवी करम-हुसैन के कहने से चिकनी सुपारी की प्रशंसा में तत्कालीन कई शेर कह दिए थे। अरबी उन्होंने अधिक पढ़ी थी, लेकिन उसमें काफ़ी अभ्यास था। छंद-शास्त्र के पूरे उस्ताद थे और ज्योतिष में भी उनकी कुछ गति थी। तसौवुफ़ (अध्यात्मवाद) के भी पूरे ज्ञाता थे और उनके सिद्धांत बड़ी सुन्दरता के साथ उन्होंने अपनी कविता में पद्य-बद्ध किए हैं। अलबत्ता इतिहास और गणित की ओर उनकी रुचि बिल्कुल न थी। लेकिन आश्चर्य यह है कि इतिहास की दो-तीन पुस्तकें लिख गए हैं। इसी प्रकार मरसिया और तारीख़ (संवत्सर-सूचक कविता) लिखने से

उनको कोई लगाव न था।[१] अलबत्ता फ़ारसी में कई नौहे (करबला की घटना में शोक सूचक कवितायें) लिखे हैं। वस्तुतः वह एक बहुत बड़े दार्शनिक कवि थे और उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी, जिससे उनकी योग्यता एक चित्रकार की कला के समान थी।

रचनायें (१) ऊद हिन्दी (२) उर्दूए-मुअल्ला (३) फ़ारसी-पद्य संग्रह (४) फ़ारसी गद्य संग्रह (५) दीवान उर्दू (६) लतायफ़ ग़ैबी (७) तेग़तेज़ (८) क़ाता बुरहान (९) पंज आहंग (१०) नामए ग़ालिब (११) मिह्र नीम रोज़ (१२) दस्तंबो (१३) सब्दचीन।

इनमें से नं० १ और २ उनके उर्दू पत्रों के संग्रह हैं, जो उन्होंने अपने मित्रों को लिखे थे और पहले-पहल सन् १८६९ ई० में उनका प्रकाशन हुआ था। ऊद हिन्दी में पत्रों के अतिरिक्त कुछ प्रस्तावना और आलोचनायें भी हैं। लतायफ़ ग़ैबी में कविता संबंधी वाद-विवाद है, जो सैफ़ुल हक़ के कल्पित नाम से लिखा गया था। नं० ७ और १० का भी संबंध उसी वाद-विवाद से है, जो नं० ८ के कारण हुआ था। नं० ९ में फ़ारसी रचना के विविध नमूने हैं। नं० ११ इतिहास है, जिसको मिर्ज़ा ने बादशाही हकीम अहसनुल्ला ख़ां की प्रेरणा से लिखा था। इसमें तैमूर से लेकर हुमायूं तक का वृतांत है। यह पहला खंड था। विचार था कि उत्तरार्द्ध में अकबर से बहादुरशाह तक का वर्णन किया जाय और उसका नाम 'माह नीममाह' रक्खा जाय। लेकिन ग़दर हो जाने से वह पुस्तक अपूर्ण रह गई। नं० ११ में ११ मई १८५७ ई० से १ जुलाई सन् १८५८ तक का ग़दर का वृत्तांत दिल्ली शहर की तबाही

---

१ – इस पुस्तक के उर्दू अनुवादक ने अपनी पाद-टिप्पणी में यह लिखा है कि मिर्ज़ा ने उर्दू और फ़ारसी में कई एक तारीख़ सूचक कविता लिखी हैं।

और उसी के साथ अपना भी हाल लिखा है। नं० १३ में कुछ फ़ारसी के क़सीदे, क़िते (स्फुट कविता के टुकड़े) और कुछ चिट्ठियाँ हैं।

मिर्ज़ा जब कलकत्ते में थे तो वहाँ कुछ लोगों ने उनकी रचना में दोष निकाला और अपने पक्ष में

मिर्ज़ा से वाद-विवाद क़तील का प्रमाण उपस्थित किया। परंतु मिर्ज़ा जिनका कहना था कि :—

'आंकि तय कर्दा ईं मवाक़िफ़रा। चि शिनासद क़तीलो वाक़िफ़रा॥'

अर्थात् जिसने इन स्थानों को तय कर लिया है, वह क़तील और वाक़िफ़ को क्या समझता है? वह भला क़तील को कब मानने वाले थे। उन्होंने अपने पक्ष में ईरानी शायरों के प्रमाण पेश किए और कहा :—

'दामन अज़कफ़ कुनम चिगूना रिहा। तालिबो उरफ़ियों नज़ीरी रा॥
ख़ासा रूहो रुश्रान मानीरा। आँ ज़हूरी जहाने मानी रा॥'

अर्थात् तालिब, उरफ़ी, नज़ीरी, और ज़हूरी जैसे कवियों का अनुकरण मैं कैसे छोड़ सकता हूं। इस पर क़तील के अनुयायी बहुत उत्तेजित हुए और उन्होंने मिर्ज़ा की कविता में और भी त्रुटियाँ निकालीं। इन सब घटनाओं का उल्लेख उनकी मसनवी 'बादे मुख़ालिफ़' में है।

इस प्रकार का दूसरा शास्त्रार्थ इस कारण से हुआ कि मिर्ज़ा ने फ़ारसी के प्रसिद्ध कोश 'बुरहान क़ाता' पर आक्षेप किया, जिसका नाम 'क़ाता बुरहान' रक्खा। उसके एक वर्ष के उपरांत कुछ उसमें संशोधन करके मिर्ज़ा ने उसको 'दुरुफ़श कावियानी' के नाम से प्रकाशित किया। इस पुस्तक से उनकी असीम योग्यता का पता चलता है। इसके अनेक उत्तर लिखे गए। उनमें से एक मिर्ज़ा अहमद वेग ने 'मुईदुल बुरहान' के नाम से लिखा, जिसका प्रत्युत्तर मिर्ज़ा ग़ालिब ने 'तेग़ तेज़' नामक पुस्तक से दिया। फिर एक वैसी दूसरी पुस्तक का उत्तर 'नामए ग़ालिब' से दिया।

मिर्ज़ा ग़ालिब की फ़ारसी रचना पर इस पुस्तक में विवेचना के लिए स्थान नहीं है, लेकिन इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वह फ़ारसी में गद्य-पद्य दोनों के पूरे उस्ताद थे और उनकी तुलना हिन्दुस्तान और ईरान के बड़े-बड़े कविगण ख़ुसरो, नज़ीरी, फ़ैज़ी, बेदिल और हुज़ीं इत्यादि से की जा सकती है।

ग़ालिब की कविता के तीन युग

ग़ालिब की कविता तीन युगों में विभाजित की जा सकती है, जिससे प्रत्येक युग के विकास और उसकी विशेषता का पता चलेगा। यह याद रखना चाहिए कि वह अपनी योग्यता की कसौटी उर्दू दीवान को कभी नहीं समझते थे। उनके एक शेर में कहा है कि—

"अनेक प्रकार के रंगीन चित्र देखना चाहते हो तो फ़ारसी को देखो। उर्दू के संग्रह छोड़ो कि उसमें मुझे कुछ रंग नहीं देख पड़ता।"

उनको अपनी फ़ारसी रचना पर गर्व था। उन्होंने अपनी तुलना कभी किसी उर्दू कवि से नहीं की। अलबत्ता ईरानी शायरों से अपनी कविता की तुलना के लिए तैयार रहा करते थे। लेकिन उनकी प्रतिभा और कवित्व संबंधी योग्यता का पूरा प्रभाव उनकी उर्दू कविता में भी वैसा ही है, जैसा कि उनकी फ़ारसी रचना में दृष्टिगोचर होता है।

मिर्ज़ा के उर्दू दीवान में अठारह सौ पद्य से अधिक न होंगे, लेकिन उसको उर्दू भाषा की अमूल्य निधि समझना चाहिए।

मिर्ज़ा की कविता का पहला युग वह है जब उन्होंने पद्य-रचना आरंभ किया था। अपनी पचीस वर्ष तक की अवस्था तक की रचनाओं को उर्दू दीवान में देखा तो उसमें से बहुत से अप्रचलित फ़ारसी वाक्य-विन्यास वाले शेरों को छाँटकर पृथक् कर दिया। वह पुरानी रचना बहुत दिनों के बाद खोज से मिली है और अब छप गई है। उसके पढ़ने से पता चलता है कि उनके प्रारंभिक विचार किस प्रकार के थे और किन-किन फ़ारसी के शब्द-संगठनों का उन्होंने वहिष्कार कर दिया है, जिनको

वह पहले पसंद करते थे। इस युग की कविता में मिर्ज़ा बेदिल का अनुकरण बहुत मालूम होता है। स्वयं लिखते हैं :—

'मुतरबे दिल ने मिरे तारे नफ़स से ग़ालिब।
साज़ पर रिश्ता प ए नग़मए बेदिल बाँधा॥
मुझे राहे सख़ुन से ख़ौफ़ गुमराही नहीं ग़ालिब।
असाए ख़िज्र सहराए सख़ुन है ख़ामा बेदिल का॥'

सूक्ष्म विचारों के अनुकरण की विशेषता यह मालूम होती है कि पद्य के असली विषय को सीधे शब्दों में न कहकर उसको कल्पना की भूल-भुलैया से निकाल कर प्रकट किया जाय। कभी-कभी मिर्ज़ा के सूक्ष्म विचारों की उड़ान इतनी ऊँची हो गई है कि अदृश्य होकर पद्य के तात्पर्य को खो देती है। मिर्ज़ा को यह रंग क्यों पसंद आया? बात यह है कि उनको धुन थी कि वह हर चीज़ में सर्व साधारण से पृथक् रहें। इसलिए उनपर फ़ारसियत बहुत छाई हुई थी, अतः यह ढङ्ग उनके ऊँचे विचारों के प्रकाशन का एक बड़ा साधन था। यह रंग यद्यपि अच्छा न था, फिर भी कुछ दिनों तक उन पर चढ़ा रहा। लेकिन पीछे वह संभल गए। इसलिए एक नया रास्ता निकाला जिसमें बेदिल की रचना-शैली को छोड़ दिया। उनकी प्रारंभिक रचना में विचित्र उपमायें और कला की ऐसी उड़ान है कि उससे पद्य का अर्थ संदिग्ध होकर रह जाता है। फ़ारसी के सङ्गठन और अप्रचलित शब्द, पद्य-प्रवाह और मार्जन के विरुद्ध हैं। उस रचना में वह प्रौढ़ता, प्रभाव और गहरी भावुकता नहीं है, जो उनकी पिछली कविता में पाई जाती है। वह केवल फ़ारसी की शब्द-माला मालूम होती है, जिसमें उर्दू का सम्मिश्रण केवल इसलिए किया गया है कि उर्दू कही जा सके और थोड़े से हेर-फेर से वह फ़ारसी हो जाय। उनकी इस प्रकार की कठिनता पर हँसी भी उड़ाई गई थी। हकीम आग़ाजान 'ऐश' ने तो जलकर कहा था :—

'अगर अपना कहा तुम आप ही समझे तो क्या समझे ।
मज़ा कहने का जब है इक कहे और दूसरा समझे ॥
कलामे मीर समझे और ज़बाने मीरज़ा समझे ।
मगर इनका कहा या आप समझें या ख़ुदा समझे ॥'

लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि इससे भी उनकी प्रतिभा और आगे के विकास का पता चलता है । उनकी इस युग की कविता में भी विशेषता है और बहुत ऊँचे दर्जे की है । उसमें ऐसे सूक्ष्म विचार और ललित उपमायें हैं कि अन्य उर्दू कवियों के यहाँ देखने में नहीं आतीं । निदान अपने विरोधियों को आपत्ति और हँसी तथा अपने घनिष्ट मित्रों जैसे फ़ज़्लुलहक़ ख़ैराबादी और मुफ़्ती सद्रुद्दीन ख़ां आरज़ू इत्यादि की प्रेरणा और अपनी न्याय प्रिय तबीअत से उन्होंने ढङ्ग छोड़कर एक दूसरे मार्ग का अवलंबन किया ।

दूसरे युग में फ़ारसियत की वह छाप नहीं रही और न उसके सूक्ष्म विचारों का वह ढङ्ग रहा, जो उनको पहले पसंद था । इस युग में उनकी भाषा साफ़ हो गई । शब्दों पर पूरा अधिकार हो गया और फ़ारसी शब्द-सङ्गठन तथा मुहावरों में कमी हो गई । लेकिन फ़ारसी के ऊंचे विचार वैसे ही हैं जो परिमार्जित रुचि वालों को बोगू नहीं मालूम होते, बल्कि श्रोता के हृदय और मस्तिष्क पर हर्ष-प्रद प्रभाव डालते हैं । इस प्रकार के पद्य थोड़े से सोच-विचार के बाद जब समझ में आ जाते हैं तब बड़ा आनन्द आता है ।

मिर्ज़ा की कविता का तीसरा युग उसकी कला का अंतिम निचोड़ है । इस युग के कुछ पद्य संक्षेप और परिपूर्ण होने में अद्वितीय हैं । इस समय की ग़ज़लों में नवीन सूझ के साथ भाषा के लालित्य और स्वच्छ रचना का बड़ा आनन्द आता है । उनमें संक्षेप के साथ सादगी, पद्य-प्रवाह और सूक्ष्म चिंतन इत्यादि सभी कुछ प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं । इन्हीं गुणों से उर्दू के कवियों में ग़ालिब अग्रश्रेणी में आ गए हैं ।

विषय बहुत ऊँचा हो गया है। यह सच है कि इस ढङ्ग से उनके किसी-किसी शेर का रूप पहेली सा हो गया है, परंतु उसके सुलझाने में विशेष आनंद आता है। ग़ालिब और बहुधा अन्य उर्दू और कुछ फ़ारसी कवियों में बड़ा अंतर यह है कि ग़ालिब के यहाँ शब्द विचारों के अधीन हैं और दूसरों के यहाँ इसके विपरीत है, जिससे उनके शेरों में बनावट और अरुचि पैदा हो गई है। मिर्ज़ा के यहां तुकबंदी नहीं है, बल्कि विचारों की मौलिकता है। जैसा उन्होंने स्वयं कहा है ;—

'ग़ालिब न बुअद शेवए मन क़ाफ़िया बंदी।
ज़ुल्मेस्त कि बर किल्को वरक़ मी कुनम इमशब ।।

अर्थात् मेरी प्रणाली तुकबंदी करने की नहीं है। बड़ा अंधेर होगा यदि मैं इस रात को अपने क़लम से कागज़ पर ऐसा करूँ।

२—उनकी संकेतात्मक वर्णन शैली

इसी से मिलती-जुलती मिर्ज़ा में यह विशेषता है कि उनके वर्णन में बात से बात पैदा होती है। वह एक स्वर छेड़ते हैं और श्रोता उससे पूरी गीत बना लेता है। अलबत्ता जिनकी श्रवण शक्ति शिथिल है, उनको मिर्ज़ा के संगीत से आनंद नहीं आता; वह किसी का विस्तृत वर्णन नहीं करते बल्कि पाठक स्वयं उसको पूर्ण कर लेता है। उनकी कविता की विशेषता यह है कि वह सब चीजों में सर्व साधारण से पृथक रहना पसंद करते हैं, जैसा कि उनके तखल्लुस (कवि नाम) के बदलने की घटना ऊपर वर्णन की गई है। इसी प्रकार उनकी वेश-भूषा रहन-सहन का ढङ्ग, बात-चीत और वर्णन शैली इत्यादि सब दूसरों से अलग थीं। लिखते हैं :—

क्या आबरूए इश्क़ जहां आम हो जफ़ा।
डरता हूँ तुमको बे सबब आज़ार देखकर ।।

यही कारण आरंभ में उनकी क्लिष्ट रचना का है, जिससे सर्व-साधारण का मस्तिष्क आनंद नहीं उठा सकता। उनके शब्दों में विचारों की इतनी भरमार है कि मानों वे शब्द-पाश को तोड़ डालेंगे।

ग़ालिब की तीसरी विशेषता यह है कि वह अपने अंतरीय मनोभावों के कवि हैं। वह जीवन और जीवन की विविध अवस्थाओं का गान गाते हैं। वह अपना हृदय पूर्णतया खोल कर पाठक के सम्मुख रख देते हैं, जिसमें अपने जीवन के दुख-दर्द की चिल्लाहट, अपने धुँधले महत्व का चित्र, अपना निष्फल उद्योग, संसार से घृणा और उदासीनता, कहीं ईश्वरीय दया पर विश्वास, और कहीं सांसारिक बंधनों से आनंद और यंत्रणा का वर्णन है। सारांश यह है कि उनके पद्य उनके चित्त की विविध अवस्था के प्रतिबिंब हैं, जिससे कि वह समय-समय पर प्रभावित होते रहे।

३—मिर्ज़ा का स्व-अंत-दृष्टि वर्णन

ग़ालिब एक बहुत बड़े विचारक और दार्शनिक कवि थे। उनके पद्य गहरे दार्शनिक विचारों से, बड़ी सादगी और सरलता से भरे हुए हैं वह रहस्यवाद के तत्वों के पूरे ज्ञाता थे और सांप्रदायिक भेद-भाव से मुक्त थे। अतः लिखते हैं:—

४ मिर्ज़ा एक विचारक और दार्शनिक के रूप में

'हम तो मोहिद हैं हमारा केश है तर्क रसूम।
मिल्लतें जब मिट गईं अज़्ज़ाय ईमाँ हो गईं'॥

उनका यह कथन केवल मौखिक न था, किंतु क्रियात्मक था। उनका जीवन उदारता और स्वतंत्रता का एक ज्वलंत उदाहरण था। उनका उपासना का विचार भी बहुत ऊँचा है। कहते हैं:—

"है परे सरहद्दे इदराक से अपना मसजूद।
क़िबला को अहले नज़र क़िबला-नुमा कहते हैं"

मुसलमानों के विश्वास के अनुसार कि बहिश्त (स्वर्ग) में नहरें जारी होंगी और उसमें सब सांसारिक भोग-विलास की सामग्री मौजूद होगी, ग़ालिब सहमत नहीं हैं, किंतु इसको ऊँचे आचार से गिरा हुआ समझते हैं। कहते हैं:—

'हमको मालूम है जन्नत की हक़ीक़त लेकिन।
दिल के ख़ुश रखने को ग़ालिब यह ख़याल अच्छा है॥
ताअत में तारहे न मयो अंगबीं की लाग।
दोज़ख़ में डाल दे कोई लेकर बहिश्त को॥

वह जीवन का सब से बड़ा दुर्भाग्य और दुख आत्मा का अपने स्रोत (ब्रह्म) से पृथक होना समझते हैं। जीवन के राग को बंसी की ध्वनि समझना चाहिए, जो बाँस के जंगल से अलग होने पर मानों रोया करती है। इसी आशय को मिर्ज़ा इस प्रकार से वर्णन करते हैं:—

'न था कुछ तो ख़ुदा था, कुछ न होता तो ख़ुदा होता।
डुबोया मुझको होने ने, न होता मैं तो क्या होता॥'

वह एक रहस्यवादी सूफ़ी के समान संसार के हर्ष-शोक से प्रभावित नहीं होते, बल्कि एक ऊँचे स्थान पर बैठ कर गाते हैं:—

'था ख़्वाब में ख़याल को तुझ से मआमला।
जब आँख खुल गई न ज़ियाँ था न सूद था॥'

कैसा सुंदर वह इस सचाई को प्रकट करते हैं कि बाह्य-जगत जीवन की शक्ति का आभास है, पर स्वयं जीवन, शक्ति नहीं है। ग़ालिब कहते हैं —

'है ग़ैब ग़ैब जिसको समझते हैं हम शहूद।
है ख़्वाब में हिनोज़, जो जागे हैं ख़्वाब में॥

दार्शनिक सच्चाई के अतिरिक्त मिर्ज़ा की कविता भावुकता से परिपूर्ण है। उनके यहाँ हृदय विदारक कष्ट और आपदायें तथा असह्य संकट इत्यादि की विवेचना बड़े प्रभावशाली शब्दों में की गई है। मानो जीवन एक ऐसी अरथी है, जिसके पीछे दूर से मृत्यु के अट्टहास का शब्द आ रहा है।

५—मिर्ज़ा का भाव-चित्रण

अतः इसी जीवन के दुखमय होने पर ग़ालिब कहते हैं:—

क़ैद हयातो बन्द ग़म अस्ल में दोनों एक हैं।
मौत से पहले आदमी ग़म से नजात पाए क्यों॥

मिर्ज़ा की रचना में बच्चों का सा हठ और अपने समकालीन अंग्रेज़ी कवि शैली के समान तुनुक मिज़ाज़ी पाई जाती है। वह नहीं समझ सकते कि उनको उनके हाल पर क्यों न छोड़ा जाय और उनके मामलों में क्यों न हस्तक्षेप किया जाय? लिखते हैं:—

'दिल ही तो है न संगो ख़िस्त दर्द से भर न आए क्यों।
रोयेंगे हम हज़ार बार कोई हमें सताए क्यों॥

बच्चे की भी समझ में नहीं आता कि उसको कष्ट क्यों हो। इसी तरह इस शेर में :—

क़फ़स में मुझ से रूदादे चमन कहते न डर हमदम।
गिरी है जिस पे कल बिजली, वह मेरा आशियां क्यों हो॥

मिर्ज़ा की कविता में स्वयं उन्हीं के दुख-दर्द का चित्र दिखलाई पड़ता है। उसको पढ़कर विपत्ति और आपदाओं का महत्व मालूम होता है और पाप का अंधकार दूर होकर उसमें प्रकाश की छटा मालूम होने लगती है।

ग़ालिब की कविता में जो निराशा और वेदना का अंधकार है उसको उनका विनोद बहुधा दूर कर देता है। उनके अनेक शेरों में

मिर्ज़ा की कविता में विनोद

यह मालूम होता है कि निराशा की घनघोर घटा में हास्य रस की धूप निकली हुई है। उनके विनोद के लालित्य और चपलता की हम एक कोमल पुष्प से उपमा दे सकते हैं। लेकिन उनका विनोद कभी अपनी सीमा से बढ़ कर फक्कड़ बाज़ी नहीं हो जाता और एक गंभीर से गंभीर स्वभाव का आदमी उससे आनंद उठा सकता है।

उनके बहुधा पद्य कविता के तत्त्व के प्राण हैं। सीधे-सादे शब्दों की तह में गहरे अर्थ इस तरह छिपे हुए हैं, जैसे नदी के निर्मल जल के नीचे तथा उनके प्रत्येक शब्द-चित्र की पीठ पर ऐसे विचार के विस्तृत दृश्य, दृष्टि गोचर होते हैं, जिनका विशाल क्षेत्र जीवन-मरण के गुप्त रहस्य से भर-पूर है।

ग़ालिब एक सिद्ध हस्त चित्रकार हैं। उन को काल्पनिक चित्रों के खींचने का विचित्र अभ्यास है। लिखते हैं :

"नींद उसकी है, दिमाग़ उसका है रातें उसकी हैं।
तेरी ज़ुल्फें जिसके बाज़ू पर परेशां हो गईं॥
'मुंद गईं खोलते ही खोलते आँखें ग़ालिब।
यार लाए मेरे बालीं पे उसे, पर किस वक्त॥

मिर्ज़ा को बड़ी बातों को संक्षेप में कह देने का और बात से बात पैदा करने का अच्छा अभ्यास था—

'आता है दाग़ हसरते दिल का शुमार याद।
मुझ से मेरे गुनाह का हिसाब ऐ ख़ुदा न माँग॥'

शेर बहुत ही भावपूर्ण है। प्रत्यक्ष में तो किए हुए पापों से बचना चाहते हैं लेकिन उनके तह में कहते हैं कि बहुत से पाप ऐसे हैं जिनके न करने से पछतावे के दाग़ दिल में पड़ गए हैं। यह एक निडर और स्पष्टवक्ता पापी का चित्र है, जो ईश्वर से बेधड़क कहता

है कि मेरे किए हुए पाप तो कम हैं, लेकिन न किए हुए पापों का पछतावा बहुत है और इसी का न्याय मैं तुमसे चाहता हूं ।

'ना कर्दा गुनाहों की भी हसरत की मिले दाद।
यारब अगर इन कर्दा गुनाहों की सज़ा है ॥

समकालीन कवियों से ग़ालिब की तुलना

ऊँचे विचार, जीवन विज्ञान और प्रतिभा में ग़ालिब अपने समकालीन ज़ौक़ और मोमिन से बढ़े हुए हैं । लेकिन रोज़मर्रा, सादा-वर्णन और मुहावरों के उपयोग में ज़ौक़ से कम हैं । यद्यपि इन बातों में मोमिन ग़ालिब से भी कम हैं ।

ग़ालिब के समकालीन अथवा उनके निकट के समय के निम्नलिखित कवियों से उनकी तुलना हो सकती है :—

(१) राबर्ट ब्राउनिंग जो उसी समय का एक दार्शनिक कवि था, प्रोफ़ेसर सेंट्सबरी के विषय में लिखता है कि उसका सबसे बड़ा कौशल यह था कि वह आत्मा का विश्लेषण करता है । ग़ालिब इतना विश्लेषण नहीं करते, जितना जीवन के रहस्य की तह को टटोलते हैं । वह सत्य की झलक देखते हैं । उनकी रचना मौलाना रूम की मसनवी की तरह बिल्कुल रहस्यवादी नहीं है, लेकिन सत्य के रहस्य की झलक उनकी कविता में जहां तहां दिखलाई पड़ती है । अतः ग़ालिब को सूफ़ी ब्राउनिंग कहना चाहिए यद्यपि ब्राउनिंग का सा खुरीपन और अक्खड़पन उनकी रचना में नहीं है ।

(२) निराशा के विषय में मिर्ज़ा की तुलना जर्मनी के कवि हीन से खूब हो सकती है ।

(३) पर वस्तुतः यदि कोई दार्शनिक कवि ग़ालिब के ढंग का हो सकता है तो वह जर्मनी का प्रसिद्ध कवि गेटे है ।

'ग़ालिब में एक अनुभूति, दार्शनिक की बुद्धि, रहस्य का अवलोकन और एक कलाकार का तीक्ष्ण निरूपण है । उनकी कला

सचमुच महान है और महानता कला है। या फिर यों कहिए कि सौंदर्य सत्य है और सत्य सौंदर्य। वह एक स्वच्छ हृदय के सूफ़ी थे और उनका यह कथन सर्वथा सत्य था कि :-

'आते हैं ग़ैब से यह मज़ामीं खयाल में।
ग़ालिब सरीर खामा नवाए सरोश है।'

उनका रहस्यवाद दिल बहलाव न था न उनकी कविता काल्पनिक है, किंतु घटनाओं और अनुभव से परिपूर्ण है। इसी कारण से उसकी गणना दुनियाँ की सर्वश्रेष्ठ रचना में की जा सकती है।[1]

ग़ालिब के बहुत से शिष्य थे, जिनमें से निम्नलिखित विशेषतया उल्लेखनीय हैं :—

ग़ालिब के शिष्य

नवाब ज़ियाउद्दीनखां उपनाम 'नैयर' व 'रखशां' जो ग़ालिब के नातेदार भी थे, मीरमहदी 'मजरूह', मिर्ज़ा कुरबान अली बेग, सालिक, ख्वाजा अलताफ़ हुसेन हाली (यादगार ग़ालिब के रचयिता), मुँशी हरगोपाल तुफ़्ता, नवाब अलाउद्दीन खां अलवी, ज़की, अज़ीज़, मश्शाक और जौहर इत्यादि। इन में कुछ का संक्षिप्त वर्णन आगे किया जाता है।

मीर महदी मजरूह'
मृत १९०२ ई०

मीर महदी, मीर हुसेन फ़िग़ार के बेटे ग़ालिब के सबसे प्रिय शिष्य दिल्ली के रहने वाले थे। ग़दर के हुल्लड़ में पानीपत चले गए, लेकिन जब शांति हो गई तो फिर दिल्ली लौट आए और मुशायरों में भाग लेने लगे। फिर आजीविका के लिए अलवर गए, जहां महाराजा शिवध्यान सिंह ने उनका सम्मान किया। अंत में नवाब रामपुर के यहाँ आये और सुख-पूर्वक अपना

[1] मैं प्रोफेसर रघुपति सहाय के ईस्ट ऐंडवेस्ट में तथा मि०.खुदाबख्श और सर अब्दुल क़ादिर के 'हिन्दुस्तान रिवीव' में प्रकाशित लेखों के लिए कृतज्ञ हूं; जिन से मैंने लाभ उठाया है (लेखक)

जीवन व्यतीत करने लगे। सन् १३१६ हि० में अपना दीवान 'मज़हरे मआनी' के नाम से छपवाया। इनकी भाषा बहुत साफ़, सादी और मीठी है। छोटे छंदों की रचना में वह बड़े प्रवीण थे। अलबत्ता विचारों में अनोखापन और विषय में नवीनता उनकी रचना में नहीं है, लेकिन वर्णन-शैली उत्तम और कविता की त्रुटियों से रहित है। मौलाना हाली ने उनकी बहुत प्रशंसा की है। उन्होंने उर्दू कविता की परंपरा को निबाहा। ग़ालिब की अनेक रोचक चिट्ठियां उनके नाम 'उर्दू-हिंदी' और 'उर्दूएमुअल्ला' में हैं।

सालिक
मृत्यु १८६३

मिर्ज़ा क़ुरबान अली बेग 'सालिक', नवाब मिर्ज़ा आलम बेग के बेटे थे। हैदराबाद में पैदा हुए। कुछ लोग उनकी जन्मभूमि दिल्ली बतलाते हैं। दिल्ली में उन्होंने शिक्षा प्राप्त की। पहले कवि नाम अपना 'क़ुरबान' रक्खा था और मोमिन को अपनी कविता दिखलाते थे, पर उनके मरने के बाद ग़ालिब के शागिर्द हो गए और 'सालिक' नाम रख लिया। ग़दर में दिल्ली छोड़कर अलवर चले गए और वहाँ वकालत करने लगे। फिर हैदराबाद गए और वहां शिक्षा विभाग के सरिश्तेदार हो गए। वहां 'मख़ज़नुल क़वायद' के नाम से एक उर्दू मासिक, नवाब इमादुल-मुल्क के संरक्षण में निकलता था। सालिक कुछ दिनों तक उसके संपादक रहे। वहीं सन् १२६१ हि० में उनकी मृत्यु हुई। उनके दीवान का नाम 'हिजार सालिक' है। यह भी ग़ालिब के प्रसिद्ध शागिर्दों में हैं। उनकी रचना विचार और भाषा की दृष्टि से अच्छी है, पर नवीनता से रहित है। उनकी कविता 'दिल्ली की तबाही पर' और 'ग़ालिब का मरसिया' बहुत ही ओजस्वी और हृदय विदारक है।

नवाब सैयद मुहम्मद ज़करिया खाँ रिज़वी उपनाम 'ज़की' एक बड़े ऊँचे घराने के आदमी थे। सन् १८२६ में दिल्ली में पैदा हुए।

ज़की
मृत्यु १६०३

उनके पिता नवाब सैयद महम्मद ख़ाँ और नाना नवाब आज़मुद्दौला मीर महम्मद ख़ाँ मुअज़्ज़मजंग उपनाम 'मुरूर' दोनों प्रसिद्ध कवि थे और दोनों के दीवान हैं। सुरूर ने एक तज़किरा रेख़्ता के कवियों का भी लिखा है। ज़की ने दिल्ली में शिक्षा पाई थी और फ़ारसी, अरबी के अच्छे विद्वान् थे। इनके अतिरिक्त तिब, हदीस, फ़िक़ा, तसौनफ़ और नजूम में भी उनकी अच्छी गति थी। संगीतज्ञ और सुलेखक भी थे। मौलाना सहबाई और पं० रामकिशोर बिस्मिल से पाठ्य पुस्तकों को पढ़ा था। कविता में ग़ालिब के शिष्य थे, जिनसे उनकी नातेदारी भी थी। मिर्ज़ा के वह बहुत प्रिय थे। उनकी हस्त लिखित सनद का फ़ोटो इनके दीवान में दिया हुआ है। ज़की को कविता से बहुत प्रेम था। बहुधा मुशायरों में सम्मिलित होते थे। कविता में ग़ालिब का अनुकरण करते थे। इनकी रचना में विचारों की नवीनता है, लेकिन उस में वेदना और प्रभाव वैसा नहीं है। ज़हीर, अनवर, और सालिक इत्यादि की तरह इन्हों ने भी आजीविका के लिए बाहर निकलकर मेरठ, गोरखपुर और इलाहाबाद इत्यादि में सरकारी नौकरी की। अंत में सन् १६०१ में बदायूँ में डिप्टी इन्सपेक्टर आफ़ स्कूल्स के ओहदे से पेंशन पाई और वहीं सन् १६०३ में मर गए। उनका दीवान उनके जीवन में छप गया था। अपने समय में पुराने ढंग की कविता के उस्ताद माने जाते थे। उनके बहुत से शागिर्द थे, जिन में 'फ़रहंग आसफ़िया' के कर्ता मौलवी सैयद अहमद और पं० जवाहर नाथ कौल 'साक़ी' अधिक प्रसि हुए।

नवाब ज़िया उद्दीन अहमद ख़ाँ उपनाम रख़्शाँ व नैयर, नवाब अहमद बख़्श ख़ाँ रईस लोहारू के छोटे बेटे थे। नवाब लोहारू ने

रख़शाँ
मृत्यु १८८३ ई०

अपनी जायदाद अपने छोटे बेटों के नाम कर दी थी, जिसका प्रबंध नवाब अमीनुद्दीन अहमद खाँ करते थे। नैयर और ग़ालिब से नातेदारी भी थी और ग़ालिब उनको अपना खलीफ़ा कहा करते थे। नैयर अपने समय के बड़े विद्वान् थे। कविता के बड़े ज्ञाता और परखने वाले थे। इतिहास से उनको विशेष प्रेम था। अतः इलियट साहब ने अपने प्रसिद्ध इतिहास की तैयारी में नैयर से बहुत कुछ सहायता ली थी।

नवाब शहाबुद्दीन अहमद ख़ाँ 'साक़िब' नैयर के बड़े भाई ग़ालिब की स्त्री के भतीजे थे और ग़ालिब के शागिर्द भी थे। उर्दू, फ़ारसी दोनों में कविता करते थे। सन् १८६९ ई० में २९ वर्ष की अवस्था में मर गए।

नवाब लोहारू के दूसरे बेटे नवाब सईदुद्दीन अहमद ख़ाँ 'तालिब' जिनका जन्म सन् १८५२ ई० में हुआ था, पहले साक़िब, फिर उनके मरने के बाद मजरूह, सालिक और हाली को अपनी कविता दिखलाते थे। कुछ दिनों तक दिल्ली में आनरेरी-मजिस्ट्रेट रहे। सन् १८७९ में पंजाब में अतिरिक्त असिस्टेंट कमिश्नर हो गए थे। लेकिन सन् १८८५ में अपने पिता की मृत्यु के बाद नौकरी से पृथक हो गए।

मिर्ज़ा शुजाउद्दीन अहमद खां ताबां, साक़िब के बेटे, शादाँ और दाग़ के शागिर्द हैं। इनके दो दीवान हैं। इनका विवाह मिर्ज़ा बाक़र अली खां कामिल की लड़की से हुआ है। यह वही कामिल हैं जिनको ग़ालिब ने पाला था। ताबां अब सरकार निज़ाम से पेंशन पाते हैं।

नवाब मिर्ज़ा सिराजुद्दीन अहमद ख़ाँ 'सायल' साक़िब के बेटे, दाग़ के बड़े शागिर्दों में हैं और एक प्रसिद्ध शायर हैं।

आज़ुर्दा
१२०४—१२८५ हि०

मुफ़्ती सद्रुद्दीन खां आज़ुर्दा मौलवी लुत्फुल्ला काश्मीरी के लड़के थे अपने समय के बहुत बड़े विद्वान् थे। शाह अब्दुल अजीज़ मुहद्दिस देहलवी और मौलाना फ़ज़ल इमाम से शिक्षा पाई थी। वह सदरुससुदूर (वर्तमान सिविल जज) के पद पर नियुक्त थे जो उस समय हिंदुस्तानियों के लिए एक बड़ा ओहदा समझा जाता था। उर्दू, फ़ारसी और अरबी तीनों भाषाओं के अच्छे विद्वान् और तीनों में कविता करते थे। उनकी विद्वत्ता इतनी अगाध थी कि रामपुर के नवाब यूसुफ़अली खां और भूपाल के नवाब सिद्दीक़ हसन खां उनको अपना गुरु मानते थे। सर सैयद अहमद खाँ भी उनके शागिर्द थे और उनकी चर्चा बड़े आदर के साथ किया करते थे। उनको पढ़ाने का इतना शौक़ था कि अपने काम से निपट कर अपने शागिर्दों को पाठ पढ़ाया करते थे। ग़ालिब मोमिन, ज़ौक़ और शेफ़्ता उनके मित्रों में थे। ग़दर में इन पर भी विपत्ति आई। आधी जागीर ज़ब्त हो गई। उर्दू में शाह नसीर और फिर मुजरिम अकबराबादी को अपनी कविता दिखलाते थे। इनके पद्य बड़े सरल और प्रभावशाली होते थे, लेकिन उनका कभी संग्रह नहीं हुआ। उर्दू कवियों का एक तज़किरा उन्होंने लिखा था, पर अब उसका पता नहीं है। आज़ुर्दा की प्रसिद्धि, कविता अथवा तज़किरा लेखक के कारण इतनी नहीं है, जितनी उनकी विद्वता के लिए है। उनकी मृत्यु दिल्ली में सन् १८६८ में हुई।

अध्याय १३

रामपुर और हैदराबाद के दरबार

अमीर और दाग़ का समय

सन् १८५६ ई० में अवध की ज़ब्ती और सन् १८५७ ई० में ग़दर के बाद जब वाज़िद अली शाह कलकत्ता और बहादुर शाह रंगून में क़ैद करके भेज दिए गए तो लखनऊ और दिल्ली के कवि लोग अन्य रियासतों की ओर दृष्टि दौड़ाने लगे।

कलकत्ते के मटिया बुर्ज में कवियों का जमघट

जो कवि लखनऊ में वाज़िद अली शाह के दरबार से संयुक्त थे, उनमें से कुछ तो अपने मालिक के साथ और कुछ ग़दर के बाद जब शांति हुई, कलकत्ता चले गए। बादशाह ने उन में बड़े-बड़े कवियों को 'सबा सैयारा' (सप्तऋषि नामक तारों) की उपाधि दी। इन लोगों के कारण मटिया बुर्ज में कविता की .खूब चहल-पहल रहा करती थी और बहुधा मुशायरे (कवि सम्मेलन) हुआ करते थे। इससे वह स्थान कलकत्ते का नहीं, किंतु लखनऊ का एक मुहल्ला मालूम होता था। उक्त सबा सैयारा वालों में से कुछ के नाम यह थे :—

फ़तेहुद्दौला बख़्शीउल मुल्क मिर्ज़ा महम्मद रज़ा 'बर्क़', महताबुद्दौला कौकिबुल मुल्क सितारा जंग 'दरख़्शां', मालिकुद्दौला गुलशनुद्दौला हाजी मिर्ज़ा अली 'बहार' जो हाजी अली बेग के बेटे और रश्क और ऐश के शिष्य थे, मुज़फ्फर अली हुनर, जो ग़ज़ल में सबा और मर्सिया में मिर्ज़ा दबीर के शागिर्द थे तथा वाज़िद अली शाह की दो बेगमों बादशाह महल उपनाम 'आलम' और महबूब आलम के उस्ताद थे। इसी गोष्ठी में दाग़ और नज़्म तबा तबाई भी पहुँच गये। इन कवियों के मुशायरों से बंगाल में उर्दू-भाषा और

कविता की ख़ूब चर्चा हो गई। वहाँ के शायरों में उस समय मौलवी अब्दुल ग़फ़ूर नस्सख़ बहुत श्रेष्ठ समझे जाते थे, जो राजशाही में डिप्टी कलेक्टर थे। नस्साख़ बड़े विद्वान्, कवि और एक अच्छे समालोचक भी थे।

सन् १८५६ और १८५८ के बीच से, जैसा कि पीछे लिखा जा चुका है दिल्ली के कवियों की यात्रा निम्नलिखित कारणों से आरंभ हुई। अफ़ग़ानों और मरहठों के हमले और लूटमार से दिल्ली की तबाही, प्रजा के जानो-माल का सुरक्षित न रहना, कवियों का अनादर और आजीविका का संकट इत्यादि।

दिल्ली के कवियों का प्रस्थान

अतः फ़र्रुख़ाबाद, फ़ैज़ाबाद, पटना, मुरशिदाबाद और हैदराबाद के रईसों ने इन बहेतू कवियों को अपने यहाँ निस्संकोच जगह दी। फ़र्रुख़ाबाद और फ़ैज़ाबाद अपेक्षाकृत दिल्ली से कुछ निकट थे, लेकिन फ़र्रुख़ाबाद छोटा स्थान था और वहाँ रईस कम थे, इसलिए दिल्ली वाले कवि पहले फ़ैज़ाबाद और फिर राजधानी लखनऊ उठ जाने से लखनऊ पहुँचे। लखनऊ जाने का कारण हम विस्तार-पूर्वक आगे लिखेंगे।

फ़र्रुख़ाबाद में नवाब मिह्रबान ख़ाँ रिन्द, जो नवाब अहमद ख़ाँ बंगश के एक प्रतिष्ठित दरबारी थे, स्वयं बड़े कवि और संगीतज्ञ थे। कवियों में पहले मीरसोज़ के और फिर सौदा फ़र्रुख़ाबाद आए तो उनके शिष्य हो गए। सौदा ने उनकी प्रशंसा में कुछ क़सीदें भी लिखे हैं। कुछ दिनों के बाद जब नवाब साहब का घराना समृद्धशाली न रहा तो वहाँ भी कविता की चर्चा कम हो गई।

फ़र्रुख़ाबाद

महाराजा शिताब राय, जो बंगाल के उच्च पदाधिकारी थे, कवियों के गुण-ग्राहक और स्वयं भी अच्छे कवि थे। उनके पुत्र जो कविता में

पटना

अपना नाम 'राजा' लिखते थे सौदा के समकालीन 'ज़िया' के शागिर्द थे, जब यह लखनऊ से पटना चले गए थे। इसी प्रकार अशरफ़अली ख़ाँ 'फ़ुगां' भी उक्त महाराजा के दरबार में पहुँच गए थे और वहाँ उनका बहुत आदर सत्कार था। मिर्ज़ा 'जान जानां' के शिष्य, मीर बाक़र हुज़ाँ, पटना के रईस नवाब सआदत जंग के दरबार से संबद्ध थे और वहीं उनकी मृत्यु भी हुई। इससे पता चलता है कि दिल्ली के कवियों का बिहार में बहुत आदर था और कविता की चर्चा वहाँ ख़ूब फैली थी।

इसी प्रकार मुरशिदाबाद के नवाबों ने भी दिल्ली के कवियों को हाथों हाथ लेकर बहुत आदर-सत्कार किया। मीर सोज़ और

मुरशिदाबाद

मीर व सौदा के समकालीन मीर क़ुदरत उल्ला 'क़ुदरत' मुरशिदाबाद गए और वहीं १२०५ हि० में मरे। मिर्ज़ा ज़हूरअली ख़लीक़, नवाब निवाज़िश महम्मद ख़ाँ शहाब जंग के निमंत्रण पर, महम्मद शाह के समय में दिल्ली से मुरशिदाबाद गए थे। यह उस समय के प्रसिद्ध मरसिया लिखने और पढ़ने वालों में थे।

टाँडा जो बरेली ज़िले में आँवला और रामपुर के निकट है, नवाब महम्मद यार ख़ाँ उपनाम अमीर का निवास स्थान था। यह

टाँडा

रामपुर के नवाब फ़ैजुल्ला ख़ाँ के छोटे भाई थे और स्वयं कवि और कवियों के गुणों के गुण-ग्राहक थे। उन्होंने पहले मीर सोज़ और सौदा को बुलवाया। जब वे नहीं गए तो ख़्वाजा मीर दर्द और सौदा के शिष्य क़ायम चाँदपुरी को बुलवाकर एक सौ रुपया मासिक उनको देने लगे और उन्हीं के शागिर्द भी हो गए। मुसहफ़ी, फ़िदवी लाहौरी, मीर महम्मद नईम 'परवाना' और इशरत इत्यादि भी इस दरबार के

कृपापात्र रह चुके हैं। उक्त नवाब साहब की मृत्यु सन् ११८८ हि० में रामपुर में हुई।

पहले कवियों का ध्यान उधर जाने का कम हुआ, क्योंकि एक तो दूर की यात्रा थी, दूसरे मराठों और पिंडारियों की लूट मार से रास्ता जोखिम था। इस पर भी कुछ साहसी लोग वहाँ पहुँच गए। मज़हर के शागिर्द ख़्वाजा अहसनुल्ला 'बयान' आसफ़जाह द्वितीय के समय में हैदराबाद पहुँचे और वहीं सन् १२१३ हि० में मरे। उनके एक शिष्य राय गुलाब चंद 'हमदम' ने उनकी मृत्यु की तारीख़ कही। शाह नसीर भी कई बार हैदराबाद गए थे।

हैदराबाद

कवियों के फ़ैज़ाबाद जाने के कारण ये थे :—

फ़ैज़ाबाद लखनऊ

(१) अन्य स्थानों की अपेक्षा फ़ैज़ाबाद, दिल्ली से निकट था।

(२) कवियों का आदर वहाँ अधिक होता था।

(३) शुजाउद्दौला की बीबी उम्मतुल ज़ुहरा उपनाम बहू बेगम, दिल्ली के मुहम्मदशाह की लेपालक बेटी थीं। अतः दिल्ली वालों से उनको अधिक प्रेम था और यथायोग्य उन पर अधिक कृपा करती थीं।

(४) आसुफ़ुद्दौला को दिल्ली के रईस ख़ान ख़ाना की बेटी ब्याही हुई थीं। इसलिए फ़ैज़ाबाद के साथ दिल्ली का दुगना संबंध हो गया था। अतः कुछ कवि ही नहीं दिल्ली के ब्यापारी आलम के उस्ताद थे। इसी गोष्ठी में दाग़ और नज़्म तथा तबाई भी पहुँच गए। इन कवियों के मुशायरों से बंगाल में उर्दू-भाषा और कारीगर और रंडियां इत्यादि सभी पेशे के लोग बहुतसे फ़ैज़ाबाद में जाकर बस गए थे। कहा जाता है कि बहू बेगम की दान-दक्षिणा को सुनकर आधी दिल्ली फ़ैज़ाबाद में खिंच कर चली आई थी। विपरीत

इसके हैदराबाद, मैसूर, करनाटक और मुर्शिदाबाद दिल्ली से दूर थे, इसलिए कोई आश्चर्य नहीं यदि फैज़ाबाद में दिल्ली वालों का इतना जमघट हो गया था।

फिर जब आसफुद्दौला ने लखनऊ को अपनी राजधानी बना ई, तो वे सब उठकर वहां चले गए। कवियों में मीरसोज़, ऐशी, हसरत बक़ा, मीर हसन, मुहिब, हैरान, जाहक, मकीन, बुरिश्ता, ज़िया, .फुगां क़ायम, मुसहफ़ी, इंशा, जुरअत, रंगीन, क़तील और अख्तर इत्यादि उसी समय या उसके लगभग लखनऊ गए। इनके अतिरिक्त कुछ कवि लोग दिल्ली से लखनऊ आते रहे। शाह आलम के युवराज मिर्जा जवां बख्त कुछ दिन लखनऊ में रहकर बनारस चले गए थे और उनके छोटे भाई सुलैमां शिकोह तो लखनऊ में आकर बहुत दिनों तक रहे और उनके समय में कविता की खूब उन्नति हुई। बस यह मालूम होता कि लखनऊ की वाटिका कविगण रूपी सुरीली बुलबुलों के मीठे और मधुर सगीत से गूँज रही थी।

लखनऊ-शैली को हानि पहुँचाने वाला सब से बड़ा वज्रपात अवध का ज़ब्त हो जाना था। फिर जिससे उर्दू-कविता का घोर पतन हुआ। वह सन् ५७ का विद्रोह और उससे दिल्ली और लखनऊ की बरबादी थी, क्योंकि यही दोनों नगर विद्रोह और उसके दंड के केंद्र थे। बहादुर शाह को दोषी ठहरा कर क़ैद करके हिंदुस्तान से बाहर भेज दिया गया। क़िला मुअल्ला के कवि लोग इधर-उधर तितर-बितर हो गए। भला ऐसी विकट अवस्था में कविता की ओर कैसे ध्यान जाता। जानो-माल और इज्ज़त आबरू बचाना कठिन था। इन्हीं कारणों से दिल्ली और लखनऊ के कवि लोग अपनी-अपनी जन्म भूमि छोड़-छोड़ कर भाग खड़े हुए। कुछ रामपुर, कुछ हैदराबाद,

दिल्ली और लखनऊ के कवियों की अन्य स्थानों की यात्रा

कुछ अलवर, जयपुर, भरतपुर, पटियाला, और कपूरथला इत्यादि में जाकर शरणागत हुए। कुछ इन बहेतू कवियों को टोंक, भूपाल, मंगरौल, मालियर, कोटला और भावलपुर की मुसलमानी रियासतों ने भी अपनी ओर खींचा, जहां के दरबारों में कुछ तो नौकर हो गए और कुछ वहाँ की दान-दक्षिणा से लाभ उठाते रहे। सारांश यह कि रामपुर और हैदराबाद ही ऐसे दो बड़े दरबार थे जहां इन कवियों का विशेष आदर हुआ। यहां का हाल अगले अध्याय में लिखा जायगा।

अलवर के महाराजा शिवध्यानसिंह ने भी ज़हीर, तसवीर, तिशना, मजरूह, और सालिक का बहुत आदर किया। उन्होंने मिर्ज़ा रजब अली बेग सुरूर को भी बुलाया था। इसी प्रकार ज़हीर और उनके भाई अनवर जयपुर चले गए। अरशद गोरकानी मालियर, कोटला और भावलपुर में रहे। टोंक, मंगरौल और भूपाल का वृत्तांत पृथक् लिखा जाता है।

टोंक

टोंक के नवाब इब्राहीम अली खां सन १८४८ ई० में पैदा हुए और अपने पिता नवाब मुहम्मद अली खाँ के राज्यच्युत होने के बाद सन् १८६६ ई० में गद्दी पर बैठे यह 'खलील' के नाम से कविता करते थे। पहले 'बिस्मिल खैराबादी, उनके पश्चात् उनके भाई मुज़्तर' के शागिर्द हुए। उनके दरबार में 'ज़हीर' और नवाब सुलैमान खाँ 'असद' प्रसिद्ध कवि थे। नवाब साहब ने असद को टोंक बुलाया था। उनके यहाँ कई शागिर्द असग़र अली खाँ 'आबरू', हबीबुल्ला 'जन्नत', अब्दुर्रहीम खां 'शरफ़', ख़्वाजा सैयद इकराम अली 'ख़लिश' मौजूद थे। असद का एक अप्रकाशित दीवान है। वह सन् १९०४ ई० में मरे। नवाब साहब के लड़के भी अपने पिता के परंपरागत कविता करते हैं।

यह कठियावाड़ में एक छोटी सी मुसलमानी रियासत है। इस सुदूर स्थान में भी उर्दू कविता की खूब चर्चा हुई, जिसका कारण वहाँ के नवाब हुसैन मियां बहादुर का संरक्षण था। उन्होंने लखनऊ और दिल्ली के नामी कवियों को समय-समय पर अपने रियासत में बुलाया। दाग़, तसलीम, जलाल और नासिख़ के प्रसिद्ध शागिर्द शमशाद जो लखनऊ में उस्ताद माने जाते थे, नवाब साहब की उदारता से लाभ उठाते रहे। स्थान की दूरी और वहाँ के जल-वायु के उपयुक्त न होने से, यह कवि लोग वहाँ अधिक न ठहरे, लेकिन घर बैठे वेतन पाते रहे।

मंगरोल

भूपाल की नवाब सुलतान जहाँबेगम अपनी रियासत में क्या बल्कि तमाम हिंदुस्तान के शिक्षा संबंधी मामलों में अधिक भाग लेती रहीं। मुसलिम यूनीवर्सिटी को उन्होंने बड़ी उदारता से दान दिया है। अपनी रियासत में सैकड़ों स्कूल और मदरसे खोले जो उनके विद्या प्रेम के स्मारक रहेंगे विविध विद्याओं में आपकी अच्छी गति थी। आपने कई पुस्तकें भी लिखी हैं। बहुत से ग्रंथकार जो धनाभाव से अपनी कृतियों को प्रकाशित नहीं कर सकते थे, उनको आप से बहुत सहायता मिली। 'सीरत नबवी' की पूर्ति के लिए, जिसको अधिकांश मौलाना शिबली नोमानी ने लिखा था, आप बराबर मासिक दान देती रहीं। आपकी माता स्वर्गीया नवाब शाहजहां बेगम बहुत अच्छी कवियित्री थीं। उर्दू में 'शीरीं' फिर 'ताजवर' और फ़ारसी में शाहजहां के नाम से कविता करती थीं। उन्होंने अपना पुनर्विवाह नवाब सिद्दीक़ हसन खां से कर लिया था, जो अरबी, फ़ारसी के बड़े विद्वान और हदीस के ज्ञाता तथा क़ुरान के भाष्यकार थे। यह मुफ़्ती आज़ुर्दा के शागिर्द थे। इन्होने

भूपाल

डेढ़-दो-सौ पुस्तकें लिखी हैं। कवियों और विद्वानों के बड़े गुण-ग्राहक थे। उर्दू में तौफ़ीक़ और फ़ारसी अरबी में 'नवाब' के नाम से कविता करते थे। शाहजहां बेगम के पिता नवाब जहांगीर महम्मद खां भी 'दौलत' के नाम से अच्छी कविता करते थे। उनका दीवान छप गया है। रियासत के घराने के अतिरिक्त भूपाल में और भी अच्छे-अच्छे कवि रहे हैं। रामपुर और हैदराबाद ने अंतिम समय में कवियों के संरक्षण में बहुत भाग लिया है। अतः उनका वर्णन संक्षेप से अलग-अलग किया जाता है।

रामपुर में अन्य स्थानों की अपेक्षा कवियों का जमाव विशेषतया क्यों हुआ? एक कारण तो यह था कि वह दिल्ली और लखनऊ के

रामपुर

मध्य में था, दूसरा यह कि वहां के नवाब स्वयं बड़े कवि और कविता के मर्मज्ञ तथा कवियों के गुणग्राहक थे और उनके परिश्रम के बदले प्रचुर पुरस्कार और वेतन देते थे तीसरे यह कि वे कवियों और विद्वानों को अपना नौकर नहीं समझते थे। उन से बराबरी का बर्ताव रखते थे और उनकी तुनुक मिज़ाजी सह लेते थे। उनके दरबार में बड़े-बड़े विद्वानों का जमघट था और नवाब स्वयं उनकी अभिरुचि में भाग लेते थे। इसीलिए वे पहले तो बड़ी-बड़ी तनख़ाहों पर रामपुर छोड़ना ही नहीं चाहते थे और जो बाहर चले गए वे रामपुर को सदैव याद किया करते थे।

नवाब यूसुफ़अली खां, नवाब महम्मद सईद खां के बेटे थे। बड़े विद्या प्रेमी, कवियों के मुरब्बी और स्वयं कवि थे। उर्दू फ़ारसी दोनों में

नवाब यूसुफ़ अली खां

कविता करते थे। उर्दू में 'नाज़िम' के नाम से लिखते थे। उनका दीवान भी है। पहले मोमिन, फिर ग़ालिब और अंत में मुज़फ्फ़र अली 'असीर' को अपनी कविता दिखलाते थे। दिल्ली और लखनऊ

की तबाही के बाद जो कवि वहां से निकले, उनको रामपुर ही में जगह मिली। मौलाना फ़ज़लहक़ .खैराबादी, मिर्ज़ा ग़ालिब, मीर हुसैन तसकीन, मीर मुज़फ़्फ़र अली असीर और बहुत से विद्वानों और कवियों का उनके दरबार से संबंध था। नवाब साहब ने दिल्ली और लखनऊ के कवियों को अपने यहां एकत्रित करके उर्दू कविता को गंगा-जमुनी कर दिया और एक नई शैली की नींव डाली, जिसकी उनके पुत्र नवाब कलब अली खां के समय में बड़ी उन्नति हुई।

नवाब अली कलब खां
१२५०-१३०४

नवाब कलब अली खां के समय में जो सन् १८६५ ई० में अपने पिता यूसुफ़ अली खां के बाद गद्दी पर बैठे, उर्दू कविता ने बड़ी उन्नति की। विपरीत जर्मनी नरेश फ्री उर्क महान के, नवाब साहब अपने दरबार के कवियों के लिए बड़े उदार थे और सदैव इनाम-इकराम से उनका आदर किया करते थे। उनका समय साहित्यिक दृष्टि से सुनहला युग कहा जा सकता है। अपनी छोटी सी रियासत में बड़े-बड़े नामी कवियों और अन्य प्रकार के कलाकारों को इकट्ठा कर लिया था, जिसका उदाहरण हिंदुस्तान की किसी दूसरी रियासत में नहीं मिलता था। उस समय वहां बड़े-बड़े हकीम गद्य-पद्य लेखक, मुले लेखक यहाँ तक कि हर पेशे के लोग जैसे चोबदार, बावरची इत्यादि सभी मौजूद, थे। विद्वानों में मौलाना अब्दुल हक़ .खैराबादी, अब्दुल हक़ गणितज्ञ, ईशाद हुसेन, सैयद हसन शाह हदीस के ज्ञाता और मुफ़्ती सादुल्ला, हकीमों में अब्दुल अली, अहमद रज़ा और हुसैन रज़ा इत्यादि थे। कवियों में यों तो बहुत थे; पर उनमें प्रसिद्ध मुजफ़्फ़र अली असीर, इमदाद अली बह्र, अमीर, दाग़, जलाल, तसलीम, मुनीर, क़लक, उरूज, हया, जान साहब आग़ा हज्जू शरफ़, उन्स, शाग़िल, शादाँ, ग़नी, ज़िया, .ख्वाजा महम्मद बशीर, मंसूर और रज़ा इत्यादि थे। इनके

अतिरिक्त और सैकड़ों योग्य आदमी थे, जिनके रहने के लिये एक विशेष मकान 'मुसाहब मंज़िल' के नाम से था। लेकिन यह सब होने पर भी रियासत में अपव्यय नहीं था। क्योंकि सिवा मौलाना इर्शाद हुसैन, अब्दुल हक और मुँशी अमीर अहमद मीनाई के किसी का वेतन एक सौ रुपया से अधिक न था। और सब लोगों को यथायोग्य रियासत का कोई न कोई काम करना पड़ता था। नवाब साहब अपने नौकरों से बहुत प्रेम करते थे तथा ईद-बक़रीद और अन्य ख़ुशी के अवसर पर खलअत और इनाम दिया करते थे और उनका ऋण चुका दिया करते थे।

नवाब साहब ने 'माक़ूल'[1] व मनकूल मौलाना फ़ज़्लुल हक़ ख़ैराबादी से पढ़ी थीं। पहले उन्होंने उर्दू-फ़ारसी में गद्य लिखने का अभ्यास किया और अनेक पुस्तकें लिखीं, जिनमें बुलबुल नग़मा संज, तराना ग़म, क़ंदील हरम और शिगूफ़ा ख़ुसरवी अधिक प्रसिद्ध हैं। फ़ारसी में उनके दीवान का नाम 'ताज फ़र्रुख़ी' है। उर्दू की कविता अमीर मीनाई को दिखलाते थे। उनके चार दीवान नशेद ख़ुसरुवानी, दस्तंबो ख़ाक़ानी, दुर्रतुल इंतख़ाब और तौक़ीअसख़ुन उनकी उच्च योग्यता के नमूने हैं। कविता में अपना नाम 'नवाब' लिखते थे। उनको शब्दों की जांच-पड़ताल का बहुत शौक़ था। कौन से शब्द शुद्ध हैं और कौन से अशुद्ध, इसके लिए उनके सामने वाद-विवाद हुआ करता था जिसमें इसके ममंश, बहृ, तसलीम, जलाल, अमीर और मुनीर इत्यादि भाग लेते थे। इसी सबब से उनकी रचना अप्रचलित और भद्दे शब्दों तथा उनके संगठन से रहित है।

इन कवियों के जमाव का यह परिणाम बहुत अच्छा हुआ। कि

---

[1] माक़ूल उस विद्या को कहते है, जो बुद्धि द्वारा सिद्ध हो, जैसे दर्शनशास्त्र और मन्क़ूल अन्य विद्याओं को जो दूसरे से परंपरागत नक़ल की गई हों जैसे इतिहास इत्यादि। —हिंदी अनुवादक

दिल्ली और लखनऊ की शैली मिल गईं और एक नई शैली का सूत्रपात हुआ, जिसका आरंभ नवाबयूसुफ़ अली खाँ के समय में हो चुका था। यह उर्दू कविता का एक महत्त्वपूर्ण और विचारणीय विषय था, जिसकी ओर अब तक लोगों का ध्यान नहीं गया था। नासिख़ की शैली उनके शागिर्द स्थिर न रख सके। वह निकृष्टतम हो गई थी। इनकी रचना में त्रुटियां थीं, कोई गुण न था। इस शैली के अनुयायी रामपुर में बह्र, मुनीर, क़लक़ और असीर थे और दिल्ली के अनुगामी दाग़ और तसलीम थे। दाग़ ज़ौक़ के शागिर्द थे, लेकिन उन्हों ने ऐसी चित्ताकर्षक शैली का अनुकरण किया, जिसमें ज़ुरअत का रंग मिलता-जुलता था। उसमें और लखनऊ वालों में आकाश-पाताल का अंतर था। उनके पद्य बहुत ही प्रिय हुए। तसलीम लखनऊ के थे, लेकिन उन्होंने दिल्ली का ढंग ग्रहण किया। वह नसीम देहलवी के शिष्य थे। उनके शिष्य तसलीम पर नासिख़ का रंग कभी नहीं चढ़ा, बल्कि वह अपने उस्ताद नसीम और उनके उस्ताद मोमिन के अनुयायी रहे। मोमिन और ग़ालिब कुछ दिनों रामपुर में रहे, इस लिए उनका प्रभाव अधिक न पड़ सका। तसकीन कोई ऐसे बड़े कवि न थे कि उनका प्रभाव उस समय की भाषा और कविता पर पड़ता। सारांश यह है कि लखनऊ और दिल्ली के दोनों स्कूल लड़ते झगड़ते और वाद-विवाद करते रहे, जिसका परिणाम कविता के लिए अच्छा हुआ। अर्थात् नासिख़ के समय का शब्दाडंबर और बनावट जाती रही। शब्दों की विवेचना से ऐसे शब्द और उनका संगठन, जिन पर दिल्ली वालों को गर्व था समाप्त हो गया। अब लोग कविता के शुद्ध भावों और उनके उचित शब्दों को जान गए। इधर लखनऊ की पुरानी परिपाटी के प्रेमियों ने देख लिया कि नई शैली के सामने उनका रंग जम नहीं सकता। विवश होकर उनको भी दिल्ली की शैली की ओर झुकना पड़ा। दाग़ की कविता सर्वप्रिय हो चुकी थी अतः उनके समकालीन

कवियों को भी उसका अनुकरण करना पड़ा। अमीर जो दाग़ के प्रतिद्वंदी थे उनको भी दाग़ के आगे झुकना पड़ा। इसी से उनका दूसरा दीवान 'सनम खाना इश्क़' दाग़ के रंग में है, यद्यपि कहीं-कहीं उनका अपना भी रंग है। इसी प्रकार उनका 'जौहर इंतख़ाब', और 'ग़ौहर-इंतख़ाब' एक मीर दूसरा मीर दर्द के ढंग में है जिससे सिद्ध है कि वह दिल्ली के रंग को लखनऊ से उत्तम समझते हैं। उनके शागिर्दों में रियाज़, जलील और हफ़ीज़ और आगे बढ़ गए। अर्थात् उनकी और दाग़ तथा दाग़ के शिष्यों की रचना इतनी मिलती-जुलती है कि उनको पृथक् करना कठिन है। यही हाल जलाल का समझना चाहिए जो रश्क और वर्क़ के शागिर्द थे और लखनऊ शैली के अनुयायी थे। उन्होंने भी दिल्ली का रंग ग्रहण कर लिया। उनका एक दीवान उसी ढंग में है, जिसमें उन्होंने मीर का अनुकरण किया है। इससे यह न समझना चाहिए कि अमीर और जलाल अपना ढंग बिल्कुल भूल गए थे, बल्कि पुराने ढर्रे का अंत उस समय हुआ जब 'अंजुमन' 'मैयार लखनऊ' में स्थापित हुई, जिसकी मासिक पत्रिका ने पुरानी शैली को लोगों के हृदय से मिटा दिया।

रामपुर के वर्त्तमान[1] शासक हिज़ हाईनेस नवाब सैयद हामिद अली खां बहुत ही सभ्य उच्च शिक्षित हैं और अपने पूर्वजों के समान स्वयं कवि और कवियों के संरक्षक हैं। इनके समय में भी हर प्रकार के योग्य विद्वान उनके दरबार में हैं और सदैव उनकी उदारता पूर्ण दान-दक्षिणा से लाभ उठाते रहते हैं। इनके समय की सब शिक्षा तथा अन्य उपयोगी संस्थायें उनकी उदारता की ऋणी हैं।

वर्त्तमान नवाब रामपुर

---

१ उक्त नवाब साहब का देहांत हो चुका है। अब उनके पुत्र नवाब रज़ा खां गद्दी पर है।

—हिंदी अनुवादक

मुंशी अमीर महम्मद उपनाम 'अमीर', मौलवी करम महम्मद के लड़के नवाब नसीर उद्दीन हैदर अवध नरेश के समय में लखनऊ में सन् १८२८ में पैदा हुए थे। इनका संबंध हज़रत मखदूम शाह मीना के वंश से था, जिनकी क़ब्र लखनऊ में है और लोग बड़ी श्रद्धा के साथ उसका सम्मान करते हैं। इसी से वह 'मीनाई' कहलाते हैं। अमीर ने मुफ़्ती सादुल्ला और उनके समकालीन फ़रंगी महल के आलिमों से अरबी और फ़ारसी की शिक्षा पाई थी। वह बड़े नम्र, भक्त और सूफ़ी संप्रदाय के आदमी थे। उन्हों ने साबिरिया, चिश्तिया के महंत हज़रत अमीर शाह से दीक्षा ली थी। तिब (हकीमी) और ज्योतिष भी वह जानते थे। बड़े प्रतिभा-शाली और मिहनती थे। इसी से अपने समय में अपने सादा रहन-सहन और विद्वत्ता में प्रसिद्ध थे।

अमीर मीनाई
१२४४–१३१८ हि०

कविता से उनको बचपन ही से प्रेम था। इस कला में वह मुज़फ्फर अली 'असीर' के शिष्य थे, लेकिन सच यह है कि अपनी योग्यता से वह अपने उस्ताद से भी बढ़ गए। उस समय लखनऊ अनेक विद्वानों से भरा हुआ था। आतिश और नासिख के शागिर्दों में रोज़ मुठभेड़ होती थी, जिसमें सबा, खलील और रिन्द इत्यादि सम्मिलित होते थे तथा अनीस और दबीर की मरसियों की धूम थी। इस वातावरण ने अमीर की मनचली तबीअत पर बहुत प्रभाव डाला और थोड़े दिनों के अभ्यास से वह इतने प्रसिद्ध हो गये कि सन् १८५२ ई० में वाजिद अली शाह ने बुलाकर उनकी कविता सुनी और उनकी आज्ञानुसार दो पुस्तकें 'ईर्शादुल सुलतान' और 'हिदायतुल सुलतान' के नाम से लिखीं, जिन पर उनको खलअत और इनाम मिला। उसी समय से उनकी कीर्ति बढ़ती गई। लेकिन अवध की ज़ब्ती और ग़दर हो जाने से दरबार के कवियों की कमर टूट गई

और वे इधर-उधर छिटक गये। फलतः अमीर ने सरकारी नौकरी करने का इरादा किया, पर जब उनसे सदर अमीनी की जगह के लिये जज साहब को दरख़ास्त देने को कहा गया तो उनका विचार बदल गया। कुछ दिनों तक घर बैठे रहे। फिर रामपुर के नवाब यूसुफ़अली खां ने उनको बुला लिया। उनके मरने पर नवाब कलब-अली खां का समय आया जिसमें उर्दू कविता की उनके दरबार में बहुत उन्नति हुई। अमीर नवाब के उस्ताद हो गए। वहां उनका बहुत आदर हुआ और तनख़ाह भी अच्छी मिलने लगी, जिससे वह बड़े सुख से अपना जीवन व्यतीत करने लगे। सारांश यह कि ४३ वर्ष तक वहां बड़े आदर के साथ रहे, फिर हैदराबाद इस प्रकार से गए कि सन् १६०० ई० में निज़ाम कलकत्ते से लौटते हुए जब बनारस में ठहरे तो अमीर ने एक क़सीदा उनकी प्रशंसा में लिखकर सुनाया, जिससे वह बहुत प्रसन्न हुए और उनको हैदराबाद बुला लिया। वहां थोड़े दिनों के बाद वह बीमार होकर तिहत्तर वर्ष और दस महीने के होकर मर गए। उनकी बीमारी के दिनों में दाग़ पं० रतन नाथ शरसार और महराजा किशन प्रसाद भी उनको देखने जाते थे जैसा कि अमीरी ने निम्न लिखित रूबाई में कहा हैः—

'है आपका इख़लाक़ जो हमदर्द मिरा। रश्के दमे ईसा है दमे मिरा।
फ़रमाते हैं हर रोज़ अयादत मेरी। हरमांमिरे हक़ में होगया दर्द मिरा॥'

अमीर ने बहुत कविता की है। उनकी कुछ गद्य की पुस्तकें और एक 'ग़ैरत बहारिस्तान' के नाम से उर्दू दीवान सुना जाता है जो ग़दर में नष्ट हो गया। फिर सन १८६६ में उनके घर में आग लगने से उनकी बहुत सी कृतियां भस्म हो गईं। उनकी वर्तमान रचनाओं की सूची यह है :—

रचनायें

दो शृङ्गार-रस के दीवान 'मिरातुल ग़ैब' और 'सनमखाना ईश्क़' एक महम्मद साहब की प्रशंसा में पद्य संग्रह 'महामिद खातिमुन-नबीन' और 'अमीरुल लुग़ात'। क्रमानुसार उनकी रचनाओं के नाम इस प्रकार हैं:—

(१) इर्शादुल सुल्तान (२) हिदायतुल सुल्तान (३) ग़ैरत बहारिस्तान। इसमें ग़दर से पहले की ग़ज़लें और वाजिद अली शाह की प्रशंसा में कुछ क़सीदे थे जो नष्ट हो गये। (४) नूरतजली (५) अब्रकरम (६) ज़िक्र शाह अंबिया (७) सुबह अज़ल (८) शामे अबद (९) लैतुलक़द्र (१०) मजमूआ वासोख़्त 'बांगे इज्तरार' 'वासोख़्त उर्दू' 'शिकायात रंजिश' 'संफीर आतशबार' 'हसद अग़यार' और 'ग़ुबारे तबा' के नाम से इस संग्रह को 'मीनाय सखुन' के नाम से 'दायरा अदबिया लखनऊ' ने छपवा दिया है। ये वासोख़्त सन् १२८४ हि० में लिखे गए थे (११) महामिद खातिमुल नबीन १२८९ हि० का लिखा हुआ नतिया दीवान है (१२) इन्तखावे यादगार (रामपुर के उर्दू कवियों का तज़किरा है जो नवाब कलब अली खां की आज्ञा से सन १२९० हि० में लिखा था (१३) खयाबान आफ़रीनिश गद्य में मौजूद है। अर्थात महम्मद साहब के जन्म का वर्णन (१४) मिरातुल ग़ैब उर्दू गज़लों और क़सीदे का दीवान (१५) सनम खाना ईश्क़ (१६) जौहर इन्तखाब (१७) गौहर इन्तखाब-सन् १३०१ हि० का मीर और दर्द के रंग में ग़ज़लें (१८) तीसरा दीवान जो अभी छपा नहीं (१९) सुर्मा बसीरत अरबी-फ़ारसी-शब्दों की सूची, जिनको लोग अशुद्ध लिखते हैं और उनके शुद्ध लिखने का ढंग प्रमाण सहित (२०) बहारे हिन्दी-उर्दू शब्दों और मुहावरों का एक संक्षिप्त कोश (२१) अमीरुल लुग़ात जो अपूर्ण रह गई। इससे लेखक की प्रकांड विद्वत्ता प्रगट होती है। इसकी अभी तक दो जिल्दें छपी हैं। तीसरी तैयार है, यह आठ

जिल्दों में तैयार होने वाली थी। यह ग्रंथ नवाब कल्ब अली खां के समय में आरंभ हुआ था। उसके संरक्षक तत्कालीन लेफ्टिनेंट गवर्नर सर अल्फ्रेड लायल और जनरल अज़ीमुद्दीन खां नायब प्रेसीडेन्ट कौंसिल आव रिजेंसी रामपुर थे। अमीर ने अपने पत्रों में इसकी चर्चा की है। (२२) चिट्ठियां और स्फुट-गद्य-पद्य। अमीर के अनेक शिष्य और मित्र थे। वह उनको पत्र लिखा करते थे। उनका संग्रह बड़ा रोचक है, जिसको उनके शिष्य मौलवी अहसनुल्ला साक़िब ने एक भूमिका के साथ प्रकाशित किया है। इससे उनके स्वभाव और चरित पर बहुत प्रकाश पड़ता है। यदि कोई उनकी जीवनी लिखना चाहे तो इसमें बहुत कुछ सामग्री मौजूद है। इसमें कविता और भाषा संबंधी बहुत से कठिन विषयों को सुलझाया गया है। इसके अतिरिक्त रिसाला 'इसरार नज्म' 'ज़ादुल अमीर' और 'मुनाजात' इत्यादि उनकी स्फुट रचनायें हैं।

अमीर के सैकड़ों शागिर्द थे, जिनमें से कुछ के नाम ये हैं।

शागिर्द — नाज़िम, नवाब, सफ़दर, जाह, जलील, रियाज़, बरहम, ज़ाहिद, क़ौसर, नसीम, हैरान, मुहसिन, आबिद, रज़ा, दिल, बेक़रार, साक़िब, असग़र, मुज़तर, सरशार, हफ़ीज़ आह, अख्तर और क़मर। इनमें से रियाज़, ज़लील, मुज़तर और हफ़ीज़ अधिक प्रसिद्ध हैं।

अमीर न केवल कवि बल्कि एक बहुत बड़े विद्वान भी थे। साहित्यिक जगत में इन्हीं दो गुणों से वह प्रसिद्ध थे। उनके पहले

अमीर की कविता — दीवान 'मिरातुल ग़ैब' की रचना विषम अर्थात् बराबर नहीं है तथा भद्दी और निस्स्वाद है। अलबत्ता पिछली ग़ज़लों में कुछ प्रौढ़ता है, पर वे भी पहले की रचना-शैली से मिश्रित हैं। उनकी प्रारंभिक कविता में वही नासिख़ के रंग की त्रुटियां भरी हुई हैं अर्थात् शब्दों की व्यर्थ

भूल-भुलैया, शिथिल और भद्दी उपमायें तथा स्त्रियों के वस्त्र और शृङ्गार का वर्णन जैसे अंगिया, कुरती और कंघी-चोटी इत्यादि।

सारांश यह कि इसमें कोई नवीनता नहीं है, बल्कि वही पद-दलित विषय उलट-पुलट कर भड़कीले शब्दों में वर्णित है। अलबत्ता उनका दूसरा दीवान 'सनम खाना इश्क़' दाग़ के ढंग का है और उसमें ऊँचे विचार, प्रवाह और अनुराग प्रेम इत्यादि सभी कुछ हैं। उनकी नात अर्थात् महम्मद साहब की प्रशंसा संबंधी कविता यद्यपि पुराने ढर्रे की है, पर वह बहुधा ऊँची कल्पना, स्वच्छता और सच्ची श्रद्धा का नमूना है।

सारांश यह है कि उनकी रचना ऊँचे विचार, परिमार्जन, प्रवाह शब्दों की सम-तुलना और संयोग के लिए प्रसिद्ध तथा व्यर्थ शब्द और अधिक शब्दालंकार से रहित है। विविध प्रकार की रचनाओं ग़ज़ल, क़सीदा, रुबाई, मुखम्मस और मुसद्दस इत्यादि पर उनका पूरा अधिकार था। उनकी कविता में तसौव्वुफ़ का स्वाद भी कहीं-कहीं पाया जाता है जो प्राच्य कविता का प्राण है।

अमीर में गंभीरता, सभ्यता, प्रेम, सच्चाई, पवित्रता, भक्ति और सादगी भरी हुई थी। कभी अश्लील शब्द मुँह से नहीं निकाला, न कभी किसी की निंदा की। सूफ़ी संप्रदाय के

अमीर का व्यक्तित्व थे और क़ुरान की आज्ञाओं के अनुयायी थे। उनके स्वभाव में नम्रता इतनी थी कि अपने प्रतिवादियों विशेषकर दाग़ से उन्होंने कभी भिड़ने की चेष्टा नहीं की, किंतु उनसे प्रेम का व्यवहार रखते थे। साहित्यिक विषय जो उनसे पूछे जाते थे, बड़ी उदारता से उनका उत्तर देते थे। कभी किसी का पक्षपात नहीं किया। उन्होंने चार बेटे क़मर, आरज़ू, जमीर और अख़्तर के नाम से छोड़े। उन्होंने भाषा की जो सेवा की है उसकी चर्चा अमीरुल लुग़ात के संबंध में हम ऊपर कर आए हैं। वह

बड़े योग्य और प्रतिभाशाली कवि थे। उनके बहुधा पद्य लोगों को कंठस्थ हैं। उर्दू कविता में उनका स्थान बहुत ऊंचा है। उनके कुछ पद्य नमूने के लिए नीचे लिखे जाते हैं :—

'करीब है यार रोज़ महशर, छिपेगा कुश्तों का .खून क्योंकर।
जो चुप रहेगी ज़बाने खंजर, लुहू पुकारेगा आस्तीं का॥'

(इसको इलाहाबाद हाई कोर्ट के जज मि० महमूद ने अपने एक .फैसले में उद्धृत किया था।)

'ऐ रूह क्या बदन में पड़ी है बदन को छाड़े।
मैला बहुत हुआ है अब इस पैरहन को छोड़॥
वह मजा दिया तड़प ने कि यह आरज़ू है यारब।
मेरे दोनों पहलुओं में दिले बेक़रार होता॥
जो निगाह की थी ज़ालिम तो फिर आँख क्यों चुराई।
वही तीर क्यों न मारा जो ज़िगर के पार होता॥
एक दिल हमदम मेरे पहलू से क्या जाता रहा।
सब तड़पने तिलमिलाने का मज़ा जाता रहा॥
खो गया दिल खोगया रहता तो क्या होता अमीर।
जाने दो इक बेवफ़ा जाता रहा जाता रहा॥
मौक़ूफ़ जुर्म ही पकरम का ज़रूर था।
बंदे अगर क़सूर न करते क़सूर था॥
सूरत तेरी दिखा के कहूंगा यह रोज़ हश्र।
आँखों का कुछ .गुनाह न दिलका क़सूर था॥
मिला जब वह खुला तब यह मुअम्मा।
किया करते थे अपनी जुस्तजू हम॥
मिला कर खाक़ में भी हाय शर्म उनकी नहीं जाती।
निगाह नीची किए वह सामने मदफ़न के बैठे हैं॥

नमि जां करके मुझे सर पे खड़े हैं चुपके ।
हाथ उठाते भी नहीं हाथ लगाते भी नहीं ॥
उल्फ़त में बराबर है वफ़ा हो कि जफ़ा हो ।
हर बात में लज्ज़त है अगर दिल में मज़ा हो ॥
आए जो मेरी लाश पे वह तंज़ से बोले ।
अब हम हैं खफ़ा तुम से कि तुम हमसे खफ़ा हो ॥
आँखें खोली भी बंद भी कीं। वह शक्ल न सामने से सरकी ॥
क्या तंग है जल्लाद मेरी मख़्तिये जाँ से ।
हर बार ये कहता है कि ज़ालिम कहीं मर भी ॥
वाय क़िसमत जो सबकी सुनता है ।
वह भी आशिक़ की इल्तजा न सुने ॥
बाक़ी है अमीर अब तो फ़क़त जान का जाना ।
होशो, खिरदो ताबो तवाँ जा चुके कब के ॥
खुदी से बे ख़ुदी में आ जो शौक़ हक़ परस्ती है।
जिसे तू नेस्ती समझा है ऐ ग़ाफ़िल वह हस्ती है ॥
वह ए आहे रसा अब कंगुरे पर अर्श के पहुँची ।
बलंदी को बलंदी जानना हिम्मत की पस्ती है ॥
न घबरा ऐ दिले वा माँदा अब मंज़िल क़रीब आई ।
इसी बस्ती के आगे और आबाद एक बस्ती है ॥
न शाखे़ गुल ही ऊँची है न दीवारे चमन बुलबुल ।
तिरी हिम्मत की कोताही तिरी क़िसमत की पस्ती है ॥
वस्ल हो जाय यहीं हश्र में क्या रक्खा है ।
आज की बात को क्यों कल पे उठा रक्खा है ॥
हम चले दैर से काबा को तो वह बुत बोला ।
जाके ले लीजिये काबा में ख़ुदा रक्खा है ॥
अंगर में यह मय थी पानी की चार बूँदें ।

जिस दिन से खिंच गई है तलवार हो गई है ॥
तुझ से मांगू मैं तुम्हीं को कि सभी कुछ मिल जाय ।
सौ सवालों से यही एक सवाल अच्छा है ॥
न चूक वक़्त को पाकर कि है यह वह माशूक़ ।
कभी उमीद नहीं जिससे जाके आने की ॥

दाग़ देहलवी
१८३१-१९०५

नवाब मिर्ज़ा खां दाग़ सन १८३१ ई० में दिल्ली में पैदा हुये। इनके पिता नवाब शमसुद्दीन खां लोहारू नवाब ज़िया उद्दीन खां के भाई थे। उनका देहांत १२५८ ई० में हुआ, जब दाग़ छः सात वर्ष के थे। पिता के मरने के बाद दाग़ की माता ने बहादुर शाह के पुत्र मिर्ज़ा फ़खरू से पुनर्विवाह करके 'शौकत महल' की उपाधि पाई। मां के साथ दाग़ की भी लाल क़िले में रह कर शिक्षा हुई जहाँ कविता की ख़ूब चर्चा थी, जिसका प्रभाव दाग़ पर भी हुआ। बहादुर शाह और मिर्ज़ा फ़खरू दोनों ज़ौक के शागिर्द थे, अतः दाग़ भी उन्हीं के शिष्य हो गये और उनके साथ मुशायरों में जाने लगे। दाग़ ने कुछ अरबी भी पढ़ी थी। फ़ारसी मौलवी ग़यासुद्दीन और अहमद हुसैन से पढ़ी थी। इसके अतिरिक्त खुशनवीसी(सुलेखन), घुड़सवारी और बांकपटा भी उन्हों ने सीखा, पर कविता के लिए उनका मस्तिष्क अनुकूल था, इस लिए थोड़े दिनों के अभ्यास से अच्छे कवि हो गए। सन् १८५६ में मिर्ज़ा फ़खरू मर गये। फिर सन् ५७ के उपद्रव से लाखों आदमी दिल्ली छोड़ कर बाहर भागे। जब कुछ शांति हुई तो दाग़ सपरिवार रामपुर चले आए, जहां उस समय नवाब यूसुफ़ अली खां गद्दी पर थे। दाग़ उनके पुत्र कलब अली खां के मुसाहब तथा घुड़साल के दरोग़ा नियत हुए। इन कामों को उन्होंने बड़ी योग्यता के साथ निबाहा। दाग़ ने

बड़े सम्मान और सुख के साथ २४ वर्ष वहाँ व्यतीत किया। वहाँ उनको इतना आराम था कि वह रामपुर को आराम पुर कहते थे। नवाब के साथ वह (मक्के में) हज और (करबला में) जमारत भी कर आए। उन्होंने दिल्ली, लखनऊ, पटना और कलकत्ते की यात्रा की, जहां उनका बहुत आदर हुआ और उनके लिए मुशायरे हुए, जिसकी चर्चा उन्होंने अपनी मसनवी 'फ़रयाददाग़' में किया है। सन् १८८६ ई० में रामपुर के नवाब कलब अली खां की मृत्यु पर दाग़ दिल्ली चले गए और फिर वहाँ से सन् १८८८ ई० में विविध स्थानों में घूमते ठहरते हैदराबाद पहुँचे। वहाँ पहले राजा गिरधारी प्रसाद के द्वारा निज़ाम से भेंट हुई, लेकिन कुछ फल न निकला। अतः दिल्ली लौट आए। फिर सन् १३०८ हि० में वहां के वज़ीर सर आसमाँ जाह के निमंत्रण पर हैदराबाद पहुँचे और नवाब के उस्ताद हो गए और उनको 'मुक़र्राबुल सुलतान ज़हान उस्ताद नाज़िम यार जंग दबीरुद्दौला फ़सीहुल मुल्क' की उपाधि मिली। साढ़े चार सौ रुपया से पंदरह सौ रुपया तक तनख़ाह नियत हुई। इसके अतिरिक्त विशेष अवसरों पर बहुत-कुछ इनाम-इकराम मिलता था। सारांश यह कि यहां किसी उर्दू कवि का इतना सम्मान नहीं हुआ। अब कुछ लोगों ने जलन से इनकी कविता पर आक्षेप करना आरंभ किया, जिनमें एक डाक्टर मायल हैदराबादी थे। लेकिन थोड़े मुक़ाबले में विपक्षियों के मुँह बंद हो गए। इस प्रकार से दाग़ लगभग अठारह वर्ष तक हैदराबाद में रहे और वहाँ शायरी की ख़ूब चहल-पहल हुई जो शाह नसीर के पश्चात् शिथिल हो गई थी। दाग़ की उन्नति का वहाँ एक कारण यह था कि वह रियासत के पालिटिक्स और षड्यंत्र से अलग रहते थे। अंत में सन् १९०५ ई० में पक्षाघात से वहीं मर गए।

दाग़ बड़े हँसमुख, मिलनसार और विनोद-प्रिय थे। उनमें आत्म-सम्मान बहुत था और अपने मित्रों तथा अपने समय के कवियों जलाल, अमीर, तसलीम और ज़हीर इत्यादि से मैत्री भाव से मिलते थे। उन्हों ने कभी किसी की निंदा नहीं की और न किसी से लड़े-झगड़े। अलबत्ता कभी-कभी कवियों से कविता संबंधी नोक-झोंक हो जाया करती थी।

दाग़ का व्यक्तित्व

दाग़ अपने समय के बड़े प्रसिद्ध कवि थे। उनकी भाषा परि-मार्जित और वर्णन शैली में चपलता और बांकपन था। इसी से वह सर्व-प्रिय और रोचक हुई। उनके शागिर्दों की संख्या डेढ़ हज़ार से अधिक थी। उन्हों ने कविता के संशोधन के लिए एक दफ़्तर खोल रक्खा था, जिसमें उनके कुछ शिष्य और बहुधा तनख़्वाहदार मुंशी काम करते थे।

दाग़ की कविता

दाग़ के चार दीवान 'गुलज़ार दाग़', 'आफ़ताब दाग़' 'महताब दाग़' और 'यादगार दाग़' हैं। चौथे का एक परिशिष्ट उनकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हुआ है। इनके अतिरिक्त कुछ क़सीदे निज़ाम और नवाब रामपुर की प्रशंसा में, एक शहर-आशोब दिल्ली की तबाही पर और क़िते तथा रुबाइयाँ हैं। नं० १ और २ रामपुर में छपे थे। इन में अमीर, तसलीम और जलाल के साथ मुशायरे की ग़ज़लें हैं। नं० ३ ४ का संकलन हैदराबाद में हुआ था। एक मसनवी 'फ़रयाद दाग़' के नाम से है। 'गुलज़ार दाग़' जवानी की रचना है, जिसमें प्रेम का वर्णन कल्पित नहीं है, किंतु उनके निजी अनुभव का दर्पण है। 'आफ़ताब दाग़' भी उसी समय का है, जिसमें उनकी मनो-गत भावनाओं का चित्र भड़कीले शब्दों में खींचा गया है। अलबत्ता

रचनायें

'महताब दाग़' उस समय का है, जब उनकी यौवनावस्था की गर्मी मंद होकर चंद्रमा की ज्योत्स्ना के समान धीमी और शीतल हो गई थी और इसलिए उसकी रचना में प्रौढ़ता और गंभीरता आ गई है। 'फ़रयाद दाग़' में कलकत्ते की एक वेश्या मुन्नीबाई हिजाब के साथ उनके प्रेम का वर्णन है जो रामपुर में बेनज़ीर नाम का मेला देखने आई थी। इसके बहुत से पद्य ऊँचे दरजे के हैं और सादगी और प्रवाह में प्रशंसनीय हैं। विशेषतया प्रेमी और प्रेमिका के चित्र से संबोधन बहुत रोचक है। परंतु कामुक भावनाओं के चित्र सभ्यता से गिरे हुए हैं। क़सीदों में भी उनका दर्जा बहुत नीचा है। सौदा और ज़ौक़ से तो उनका कोई लगाव ही नहीं है, बल्कि हमारी राय में अमीर मीनाई के क़सीदों को भी वह नहीं पहुँचे। उनमें कोई ऊँचे विचार नहीं हैं बल्कि ग़ज़लों का रंग उन पर आच्छादित है। कोई-कोई क़सीदे तो ग़ज़ल ही मालूम होते हैं और क़सीदे के नियमों के सर्वथा विरुद्ध हैं। उपमा और रूपक में भी कोई नवीनता नहीं है। उनमें भी वही शृङ्गार रस की झलक है। यही हाल उनकी रुबाइयों का है। उनमें भी शील या आचार सिखलाने का तत्व नहीं है, बल्कि अधिकांश शृङ्गार रस ही है। अलबत्ता तारीख़ें अच्छी लिखी हैं।

रचना शैली

दाग़ का महत्व तीन बातों पर निर्भर है (१) उनकी प्रसिद्धि (२) उनकी विशेष शैली और (३) उर्दू भाषा के प्रति उनकी सेवाएँ। दाग़ मीठी, सुरीली शृङ्गार रस की कविता के उस्ताद थे। उनकी सब से बड़ी विशेषता यह थी कि उन्होंने जटिल वाक्य-विन्यास और गूढ़ अपरिचित फ़ारसी-अरबी शब्दों को अपनी कविता में स्थान नहीं दिया। इसी लिए उनकी रचना में बनावट नहीं है। शब्द बहुत ही सादे, मामूली, और वाक्य सुसंगठित हैं। ऊपरी शोभा,

अलंकारों की भरमार और दुरूह उपमाओं, अत्युक्ति तथा व्यर्थ शब्दों से उनकी रचना रहित है। पद्य तुले, नपे, ओजस्वी, प्रभावशाली और सजीव हैं। ग़ज़ल के जितने अंग हैं अर्थात् उनमें जिन-जिन बातों का वर्णन होता है उन सबों को उन्हों ने बड़ी सफलता के साथ पद्यबद्ध किया है। अर्थात् कहीं चपल वाक्पटुता, कहीं विनोदात्मक प्रहसन, कहीं उपदेशक पर चोट है। कहीं भक्तों की डाढ़ी नोची है, कहीं छेड़-छाड़ में प्रेमी और नायिका की नोक-झोंक, कहीं विरह-वेदना, कहीं प्रतिद्वंदियों के षड्यत्र का वर्णन किया है. सारांश यह है कि उनके पद्य में मनुष्य के मनोगत भावों का सच्चा चित्र है और इसका प्रदर्शन बहुत ही सीधे-सादे ढंग से किया गया है, जिससे वह हृदय पर तीर के समान जाकर आघात पहुँचाता है। उनके शेरों में जुरअत की नोक-झोंक और रिन्द की स्वच्छता मिश्रित रचना मालूम होती है और सुन्दर मुहावरों तथा भाषा का लालित्य उस पर सोने में सुगन्ध है। दाग़ का यह रंग उस समय इतना सर्वप्रिय हुआ कि सैकड़ों लोगों ने उसका अनुकरण किया। यहाँ तक कि उनके बड़े प्रतिद्वदी अमीर मीनाई ने भी अपने दूसरे दीवान में अधिकांश उसी ढंग की रचना की है।

रचना पर आक्षेप

बहुत ख्याति भी कभी-कभी ह्रास का कारण हो जाती है। दाग़ पर सबसे बड़ा आक्षेप यह है कि वह रंडियों के शायर थे। उनकी कविता भोग-विलास और व्यभिचार संबंधी बातों से भरी हुई है। हमारी राय में यह बहुत दूर का निरीक्षण है, जिसमें बहुत कुछ परिवर्तन होना चाहिए। उनकी हर चीज़ खोटी नहीं है। बहुत से पद्य ऐसे हैं जो ऊँचे और पवित्र विचारों से ओत-प्रोत हैं। यह सच है कि उनके यहाँ मौलिकता और गंभीरता नहीं है। दार्शनिक तत्व तो बिल्कुल नहीं हैं, न किसी ऊँचे विचार की व्याख्या

है। जीवन तथा प्रेम विज्ञान से उनका बहुत कम संबंध था। जिस प्रेम का वह वर्णन करते हैं उस में भी कोई महत्व, कोई सचाई नहीं है। उनकी प्रेमिका बहुधा बाज़ारी हैं, जो अपना रूप बनाकर हाव-भाव के साथ बाहर बैठती हैं और जिनका चुम्बन और आलिंगन बाज़ारी सौदा की तरह ख़रीदा जा सकता है। अतः उनके कुछ पद्य भद्र कानों से सुनने योग्य नहीं हैं और ऐसे समाज में गाए जा सकते हैं जहां रंडियों और पियक्कड़ों के जमघटे हों। ऐसे पद्य केवल बाह्य रूप और प्रेम के द्योतक होते हैं और उससे हृदय कंपित नहीं होता और न विचारों में प्रगति पैदा होती है। ऐसे पद्य, ऐसे प्रेम से संबंध रखते हैं, जिसमें सचाई और आध्यात्मिकता से कोई संबंध नहीं है। उनमें न मीर की ऐसी वेदना और न ग़ालिब का ऐसा सूक्ष्म विचार है। उनकी उपमायें भी विचित्र और ऊँची नहीं हैं। वही घिसी हुई उपमाएँ हैं जिनको सुनते-सुनते कान थक गए हैं। उनमें कोई नवीनता नहीं है। उनकी मसनवी 'फ़रयाद दाग़' तो बिलकुल ही एक वेश्या के प्रेम के वर्णन में है, जिसका कोई ऊँचा आदर्श नहीं है।

फिर भी वह एक उच्चकोटि के कवि थे। उन्होंने उर्दू भाषा की जो सेवा की है उसका आदर करना चाहिए। उन्होंने कठोर और क्लिष्ट शब्दों का परित्याग कर दिया था। उन्हों ने सीधे-सादे, मुहावरेदार मधुर शब्दों का उपयोग किया है, जिससे उनकी रचना का प्रसाद बढ़ गया है। यह भी उनका बड़ा कौशल है कि लंबे और कठिन छंदों में सुरीले और मीठे शब्दों में रचना की है। सुसंगठित और व्यर्थ शब्दों से रहित पद्य लिखे हैं और फिर वह बड़े-बड़े प्रसिद्ध लोगों के उस्ताद थे। इन सब गुणों से पिछले युग के कवियों में उनका स्थान बहुत ऊँचा है। ग़ज़ल लिखने में दाग़ की सब ने प्रशंसा की है। मौलाना हाली ने लिखा है :—

'दाग़ो मजरूह को सुन लो कि फिर इस गुलशन में।

न सुनेगा कोई बुलबुल का तराना हरगिज़ ॥'

इक़बाल ने भी एक ज़ोर का मरसिया उनके विषय में लिखा है। अमीर मीनाई के मुक़ाबले में यदि कोई कवि था तो दाग़ ही थे।

दाग़ के शागिर्दों की सूची बहुत बड़ी है। उनमें से प्रसिद्ध ये हैं:—नवाब मीर महबूब अली खां निज़ाम हैदराबाद, डाक्टर इक़बाल, सायल देहलवी, बेख़ुद देहलवी, अहसन मारहरवी, बेख़ुद बदायूनी, नूह नारवी, नसीम भरतपुरी, जिगर मुरादाबादी और आग़ा शायर देहलवी इत्यादि।

दाग़ के शागिर्द

यह तुलना वैसी ही समझनी चाहिये जैसी मीर तक़ी और सौदा की की गई है। अमीर और दाग़ दोनों अपने-अपने रंग में उस्ताद थे। दोनों बहुत बड़े ग़ज़ल लेखक थे और बहुधा एक ही तुक में ग़ज़लें लिखी हैं। दोनों के मित्र और शागिर्द अधिक थे और दोनों बड़े सुशील और सहनशील थे। दोनों बड़े प्रतिभाशाली और कविता में लीन थे। अंत में धन-दौलत में दाग़ अमीर से बढ़ गए थे। दाग़ की रचना सर्वसाधारण को बहुत प्रिय हुई। जिस तरह उससे विद्वान प्रसन्न हो सकते थे, वैसे ही साधारण लोग भी आनंदित होते थे। लेकिन जिनकी रुचि ऊँचे दरजे की थी और जो दाग़ की मामूली कविता को पसंद नहीं करते उनको अमीर ही की रचना अच्छी मालूम होती है, क्योंकि उस में गंभीरता और ऊँचे विचार हैं और कविता की आवश्यकताओं से परिपूर्ण हैं। फिर कविता में वातावरण और स्वभाव का भी बहुत प्रभाव पड़ता है। दाग़ एक सजग प्रकृति के भोग-विलासी आदमी थे। उनका विकास दिल्ली के कवि-समाज में हुआ था। विपरीत इसके अमीर एक शुद्ध सदाचारी मौलवी आदमी थे, जो लखनऊ में पैदा होकर बहुत दिनों

अमीर और दाग़ की तुलना

तक वहाँ रहे और दरबार से संबंध होने से उस समय के दरबारी कवियों से उनकी मैत्री की। असीर उनके उस्ताद और बर्क़, सबा, बह्र और क़लक़ इत्यादि उनके मित्र थे। अतः उन लोगों के प्रभाव और शैली से कैसे बच सकते थे और इसी लिए उसी रंग में डूबे हुए थे। जब वह रामपुर गए तो दाग़ इत्यादि के संग से उनका पुराना लखनौवा रंग बहुत कुछ फीका पड़ गया। उनकी किशोरावस्था की कविता नासिख़ और उनके शिष्यों के रंग में डूबी हुई है, जिसका प्रमाण उनका पहला दीवान 'मिरातुल ग़ैब' है। उसमें यदि कहीं अच्छे पद्य मिलते भी हैं तो उसके साथ शिथिल और अश्लील विचार भद्दी और स्वाद-हीन उपमायें, अँगिया-कुरती और कंघी-चोटी के वर्णन की भरमार है। यद्यपि उक्त दीवान एक योग्य कवि की रचना है पर उपर्युक्त विषमता से भरपूर है।

दाग़ की शैली यद्यपि दिल्ली में स्थिर हुई, पर उन्हों ने उसमें कुछ नवीनता उत्पन्न करके एक नई शैली निकाली। अर्थात् जुरअत की मामलाबंदी को आतिश की भाषा की स्वच्छता और मुहावरों के साथ समाविष्ट कर दिया। यही दाग़ की विशेष शैली है। अर्थात् रोज़मर्रा भाषा और मुहावरों के यथा अवसर उपयोग, शब्दों के संगठन और क्रम इत्यादि से उनकी पद्य-रचना का वाह्य रूप बहुत सुंदर है, परंतु उसके आंतरीय भावों में गहराई नहीं है। फिर भी इस प्रकार की उनकी रचना लोगों को अपनी रुचि के अनुसार बहुत पसंद आई और इसी से वह अधिक प्रसिद्ध हो गए। अमीर को भी अपनी ख्याति को स्थिर रखने के लिए दाग़ ही का अनुकरण करना पड़ा। इसमें संदेह नहीं कि इस परिवर्तन से अमीर की पिछली रचना बहुत स्वच्छ और प्रवाहित हो गई, फिर भी वह दाग़ की सीमा तक नहीं पहुँची। इसी से उनका दूसरा दीवान 'सनम ख़ाना इश्क़' दाग़ के 'गुलज़ार दाग़' की शैली से कम है। फिर भी यह मानना पड़ता

है कि अमीर ने पुराना ढंग छोड़ कर नये ढंग में सफलता प्राप्त कर ली।

यह भी मानना पड़ता है कि यदि ऊँचे दृष्टिकोण से देखा जाय तो वास्तविक कविता जो पुराने उस्तादों की रचना में पाई जाती है, वह इन दोनों कवियों के यहां बहुत कम है। भव्य शब्दों, गंभीरता और सूक्ष्म विचार की दृष्टि से अमीर दाग़ से बढ़े हुए हैं। छंद शास्त्र इत्यादि के नियमों की जानकारी में भी अमीर उस्ताद थे और इसी लिए उनकी रचना में इस प्रकार की त्रुटियां विरले पाई जाती हैं। क़सीदों में तो दाग़ से वह निस्संदेह बढ़े हुए थे। सच तो यह है कि दाग़ एक बहुत बड़े ग़ज़ल लेखक और एक विशेष शैली के जन्म दाता थे और इसी से वह अधिक प्रसिद्ध हो गए। अमीर में विविध प्रकार की योग्यता थी। वह कविता के अतिरिक्त बहुत बड़े गद्य लेखक और समालोचक भी थे और विद्वता में तो दाग़ से बहुत ही बढ़े हुए थे। अमीरुल लुग़ात और अपने पत्रों में उन्हों ने बहुत सी साहित्य संबंधी जटिल समस्याओं को स्पष्ट किया है, जो उनके अनुसंधान और योग्यता का द्योतक है। क़सीदे में वह सौदा और ज़ौक़ के बराबर कहे जा सकते हैं।

अमीर और दाग़ में एक बड़ा अंतर यह है कि कालांतर में अमीर की कविता उन्नत होती गई और दाग़ का रंग अंत में फीका पड़ गया। उनकी कविता सब से अच्छी रामपुर में थी, परंतु जब वह हैदराबाद गए तो सांसारिक सुख और आनंद में डूब गए और कविता संबंधी गहरे परिश्रम का अभ्यास न रहा।

फिर सच तो यह है कि इस विषय में अंतिम निर्णय समालोचक की रुचि पर निर्भर है। दाग़ की रचना का कुछ नमूना नीचे दिया जाता है।

'ख़ुदा करीम है यों तो मगर है इतना रश्क ।
कि मेरे इश्क़ से पहले तुझे जमाल दिया ॥
आज राही जहाँ से दाग़ हुआ ।
खानए इश्क़ बे चिराग़ हुआ ॥
डर गए नाम शफ़ा सुन के ज़िहे .ख्वाहिश मर्ग।
मुँह ज़रा सा निकल आया तेरे बीमारों का ॥
बाद ग़फ़लत कि अब्र किया हमने ।
जो हमें पहले काम करना था ॥
जो हो सकता है इससे वह किसी से हो नहीं सकता ।
मगर देखो तो फिर कुछ आदमी से हो नहीं सकता ॥
कुछ आगे दावरे महशर से है उम्मीद मुझे ।
कुछ आप ने मेरे कहने का एतबार किया ॥
लुत्फ़ फ़रमा जो वह रहता तो ठिकाना ही न था ।
ऐन हिक्मत थी वह काफ़िर जो दिलाग़ार रहा ॥
खातिर से या लिहाज़ से मैं मान तो गया ।
झूठी क़सम से आप का ईमान तो गया ॥
देखा है बुतकदे में जो ऐ शेख़ कुछ न पूछ ।
ईमान की तो यह है कि ईमान तो गया ॥
कैसा जवाब हज़रते दिल देखिए ज़रा ।
पैग़म्बर के हाथ में टुकड़े ज़बाँ के हैं ॥
लुत्फ़ मैं तुझ से क्या कहूँ ज़ाहिद ।
हाय कमबख्त तूने पी ही नहीं ॥
उड़ गई यों वफ़ा ज़माने से ।
कभी गोया किसी में थी ही नहीं ॥
बज़ाहिर रहनुमा हूँ और दिल में बद गुमानी है ।
तेरे कूचे में जो जाता है आगे हम भी होते हैं ॥

जो कहता हूँ कि मरता हूँ तो फ़रमाते हैं मर जाओ।
जो ग़श आता है मुझ पर तो हज़ारों दम भी होते हैं॥

रुखे. रोशन के आगे शमा रख कर वह यह कहते हैं।
उधर जाता है देखें या इधर परवाना आता है॥

मरीज़े इश्क़ की क्या पूछते हो, यह पूछो।
कि ज़िंदा कोई भी तीमारदार बाक़ी है॥
उर्दू है जिसका नाम हमीं जानते हैं दाग़।
हिन्दोस्तां में धूम हमारी ज़बां की है॥

हकीम सैयद, ज़ामिन अली, हकीम असग़र अली दास्तान गो (कहानी वाचक) के लड़के थे। सन १२५० हि० में लखनऊ में पैदा हुए। फ़ारसी अरबी आसफुद्दौला के मदरसे से पढ़कर हकीमी पढ़ी। लेकिन बचपन ही से कविता की ओर रुचि हो गई थी। अतः कुछ दिनों के बाद उसमें इतने लीन हो गए कि हकीमी की ओर ध्यान न रहा। पहले अमीर अली खां 'हिलाल' से अपनी कविता का संशोधन कराते थे, फिर जब रचना में प्रौढ़ता आ गई तो हिलाल ही के द्वारा उनके उस्ताद रश्क के शागिर्द हो गए जो नासिख के प्रसिद्ध शागिर्दों में थे, पर जब रश्क इराक़ जाने लगे तो जलाल को बर्क़ के सिपुर्द कर गए, जिनकी कविता की उस समय धूम थी। रोज़ मुशायरे होते थे जिनमें बह्र, सिह्र, असीर और अमीर इत्यादि सम्मिलित होते थे। जलाल भी उसमें जाते और अपनी ग़ज़लें सुनाते थे। लेकिन ग़दर सन ५७ में यह सभायें तितर-बितर हो गईं और कवियों को अपने पेट की सूझी, अतः जलाल ने एक दवाई-खाना खोला, लेकिन वह कविता में बराबर अभ्यास करते रहे। कुछ दिनों बाद रामपुर के नवाब यूसुफ़ अली खाँ ने उनको बुला लिया,

जलाल लखनवी
१२५०-१३२५ हि०

जहाँ उनके पिता कथा वाचक थे। जब उक्त नवाब का देहांत हो गया तो उनके उत्तराधिकारी नवाब कलब अली खां ने जलाल को सौ रुपया महीने पर नौकर रख लिया। जलाल ने अपनी तुनुक मिज़ाजी से कई बार वहां की नौकरी छोड़ी लेकिन नवाब ने उनको बुला-बुलाकर फिर रख लिया। इस प्रकार से जलाल वहाँ बीस वर्ष तक रहे, जहां दाग़, अमीर इत्यादि के साथ मुशायरे होते रहे। उस समय की इन लोगों की एक ही तुक की ग़ज़लें देखने योग्य हैं, क्योंकि उनसे उनकी तुलना का अवसर मिलता है। जब कलब अली खां के मरने के बाद कौंसिल आव रीजेंसी स्थापित हुई तो सब शायर लोग इधर-उधर चले गए। मंगरौल के नवाब ने जलाल को बुला लिया। लेकिन दूर और जलवायु अनुकूल न होने से वह लखनऊ लौट आए जहां नवाब पचीस रुपया महीना और हर कसीदे पर सौ रुपया उनको देते रहे। अंत में छिअत्तर वर्ष की अवस्था में २० अक्तूबर सन १९०९ ई० को उनका देहांत हो गया।

(१) चार दीवान

(२) सरमाया ज़बान उर्दू—उर्दू के मुहावरों और परिभाषा की पुस्तक।

रचनायें

(३) अफ़ादा तारीख—तारीख रचना पर एक छोटी सी पुस्तक।

(४) मुतख़्बुल क़वायद—इसमें बहुधा हिन्दी शब्दों की व्युत्पत्ति वर्णन की गई है।

(५), (६) उर्दू भाषा के दो कोष 'तंक़ीहुल लुग़ात' और 'गुलशन .फ़ैज़' के नाम से।

(७) दस्तूरुल फ़ुसहा—छंद शास्त्र की एक लघु पुस्तक।

(८) मुफ़ीदुल शोरा—स्त्री और पुल्लिंग की विवेचना।

इससे पता चलता है कि जलाल को भाषा की विवेचना की ओर कितना अनुराग था। जिस काम को उनके उस्ताद रश्क ने आरंभ किया था उसको उन्होंने पूरा किया यद्यपि उनकी यह पुस्तकें प्रारंभिक दशा की थीं। अब बड़ी-बड़ी पुस्तकें इस विषय पर अधिक विस्तार के साथ लिखी गई हैं, फिर भी उनकी सेवा को मानना पड़ता है। उनको बचपन से आलोचना और वाद-विवाद का शौक़ था। वह अपने समय के उस्तादों की त्रुटियों को नहीं छिपाते थे। इसीलिए उनके समकालीन कवियों से बराबर बड़े-बड़े शास्त्रार्थ होते रहे।

जलाल बड़े अभिमानी आदमी थे। इसी अकड़ के कारण वह बहुधा मुशायरों में सम्मिलित नहीं होते थे। उनको अपने समय के बड़े-बड़े कवियों से मिलने में संकोच था। किसी की रचना की प्रशंसा करने की उन्हों ने मानो क़सम खाई थी। यही कुव्यवहार झगड़े-फ़साद का कारण हुआ। तसलीम के एक शिष्य ज़हीर अहसन शौक़ ने दो पुस्तकें लिखकर जलाल की .खूब खबर ली और उनकी सैकड़ों अशुद्धियां निकालीं। लेकिन जलाल अपने मित्रों और शिष्यों से अच्छा बरताव रखते थे और दूसरों की कविता का संशोधन बड़े परिश्रम से करते थे।

जलाल का स्वभाव

जलाल को लखनऊ शैली का अंतिम अनुयायी समझना चाहिए।' वह कभी उस मार्ग से हटना नहीं चाहते थे। उनकी कविता में कोई विशेषता नहीं है। अलबत्ता भाषा में बनावट बहुत कम है। कहीं-कहीं फड़कते हुए शेर निकल आए हैं। लेकिन सामान्यतया उनकी रचना फीकी और साधारण है। भावुकता और प्रतिबिंब का उसमें पता नहीं है और न विचारों में नवीनता है। कुछ उनके पद्य तो उनकी उस्तादी के दरजे से बहुत गिरे हुए हैं। फिर

जलाल की कविता का विश्लेषण

भी उनमें कंघी-चोटी और स्त्रियों के शृङ्गार की सामग्री का वर्णन नहीं है, जो लखनऊ वालों को बहुत प्रिय था। शब्दों की शुद्धि का उनको बहुत ध्यान था और इसी लिए उनकी रचना अनुचित शब्दों से रहित है। वह अपने को शब्दों और मुहावरों का बादशाह समझते थे।

वह बड़े शीघ्र लेखक थे। प्रसिद्ध है कि प्रतिदिन २०-२५ ग़ज़लों का संशोधन करते और तीन-चार अपनी ग़ज़लें लिखते थे। संभवतः इसी जल्दबाज़ी से उनकी रचना नीरस और स्वादहीन है। फिर भी वह एक अच्छे समालोचक थे और उर्दू के दूसरे दरजे के कवियों में उनका स्थान ऊँचा है।

सैयद अनवर हुसेन उपनाम आरज़ू अपने पिता के समान जलाल के शिष्य लखनऊ के प्रसिद्ध कवियों में हैं और कमाल की मृत्यु के बाद जलाल के स्थानापन्न समझे जाते हैं।

आरज़ू

कविता में पहले इनका उपनाम 'उम्मीद' था अब 'आरज़ू' है। छंद शास्त्र के भी पूरे ज्ञाता हैं और हर प्रकार की कविता कर सकते हैं।[१] मरसिया भी लिखा है और अब ड्रामा लिखते हैं। यों तो हैं लखनऊ निवासी, पर उनकी शैली दिल्ली वालों की है। इसी से जलाल के रंग में उनकी रचना बड़ी अच्छी है जिसमें सादगी, प्रवाह, वर्तमान सरलता और भावुकता सब कुछ मौजूद है। लखनऊ के वर्तमान कवियों में उनका पद ऊँचा है।

---

१ आरज़ू में ऐसी कविता करने का भी सामर्थ्य है, जिसमें फ़ारसी-अरबी का एक शब्द भी नहीं आने पाता। उन्हों ने अपनी ऐसी कविता के संग्रह का नाम भी उसी प्रकार का 'सुरीली बाँसुरी' रक्खा है।

(हिन्दी अनुवादक)

एहसान अली खां उपनाम 'एहसान' क़ासिम अली खां के लड़के हैं। सन १२७६ ई० में आंटा बरेली के ज़िले में पैदा हुए। इसके बाद उनके पिता शाहजहांपुर चले आए और वहीं एहसान की शिक्षा हुई। सोलह वर्ष की अवस्था से उनको कविता की ओर रुचि हुई। पहले हाफ़िज़ निसार अहमद खां तायब को अपनी रचना दिखलाते थे। फिर जलाल के शिष्य हो गए। सन १८८४ ई० में गोरखपुर के बंदोबस्त के दफ़्तर में नौकर हुए और सन १८९० ई० में नौकरी छोड़कर शाहजहाँपुर में मुख़्तारी करने लगे। सन १८९६ में एक गुलदस्ता (कविता की मासिक पत्रिका) 'अर्मग़ान' के नाम से निकाला जो कुछ दिन चलकर बंद हो गया। इनका पहला दीवान 'ख़ुमकदा ख़याल' सन १८९३ में छपा। इसके सिवा कुछ और भी पुस्तकें इन्होंने लिखी हैं। सन १८९१ में मंगरौल और फिर वहां से हैदराबाद गए थे। अच्छे कवि हैं पर उनमें कोई विशेषता नहीं है।

एहसान

रामपुर के कवि समाज के चौथे प्रतिष्ठित सदस्य मुंशी अमीरुल्ला उपनाम 'तसलीम' थे जो सन् १८२० में फ़ैज़ाबाद के ज़िले में मंगलसी नामक एक गांव में पैदा हुए थे। इनके पिता मौलवी अब्दुस्समद पहले दरियाबाद के निकट बदुसराय में रहते थे। फिर फ़ैज़ाबाद आकर बस गए। कुछ दिनों के पश्चात् लखनऊ चले आए और यहां महम्मद अली शाह के समय में उनकी फ़ौज़ में तीस रुपये मासिक पर नौकर हो गए। तसलीम भी पहले फ़ौज ही में नौकर हुए थे। उन्होंने फ़ारसी-अरबी अपने पिता और मौलवी शहाबुद्दीन और सलामतुल्ला से पढ़ी थीं। सुलेखन कला के अच्छे सिद्धहस्त थे और नवल किशोर प्रेस में तीस रुपया मासिक

तसलीम
१८२०–१९११ ई०

पर नौकर थे। कविता में वह नसीम देहलवी के शिष्य थे। लिखते हैं :—

'मैं हूँ ऐ तसलीम शागिर्दे नसीमे देहलवी।
मुझको तर्ज़े शायराने लखनऊ से क्या ग़रज़॥

थोड़े दिनों के बाद जब वाजिदअली शाह के समय में उनकी पलटन तोड़ दी गई तो वह बेकार हो गए। अतः उन्होंने एक अरज़ी पद्य में अपने हाथ से सुंदर लिखकर मक़बूलुद्दौला मिर्ज़ा महदी अली खां 'क़बूल' के द्वारा बादशाह के सामने पेश किया, जिस पर उन्होंने तसलीम का तीस रुपया वेतन नियत करके दरबारी कवियों में रख लिया था।

अवध की ज़ब्ती के बाद तसलीम रामपुर चले गए। लेकिन वहाँ कोई नौकरी न मिली। एक क़सीदा वहाँ के युवराज नवाब कलब अली खां को भेंट किया। जब ग़दर समाप्त हो गया, तब वह लखनऊ लौट आए और यहां नवल किशोर प्रेस में संशोधकों में नौकर हो गए। यहाँ उनको नवाब महम्मद तक़ी खाँ के यहाँ से दस रुपया महीना और मिला करता था। सन् १८७५ ई० में जब नवाब कलब अली-खाँ गद्दी पर बैठे तो उनके बुलाने पर वह फिर रामपुर गए और यहाँ पहले तीस, फिर पचास रुपया उनको वेतन मिलने लगा। नज़ारत और पेशकारी से बढ़ते बढ़ते वहाँ स्कूलों के डिप्टी इंस्पेक्टर हो गए। नवाब के मरने के बाद वह टोंक होते हुए मंगरौल गए जहाँ कुछ दिनों ठहरकर रामपुर के नवाब हामिद अली खाँ के बुलाने पर फिर रामपुर आ गए, जहाँ से उनको चालीस रुपया महीना पेंशन मिलने लगी। वहीं इक्कानवे वर्ष की अवस्था में सन् १९११ ई० में उनका देहांत हो गया।

तसलीम का पहला दीवान ग़दर में नष्ट हो गया। शेष उनकी

रचनायें रचनाएँ इस प्रकार हैं :—

(१) 'नज़्म अरजुमंद'—यह लखनऊ में छपा है। इसमें कुछ ग़दर के पहले की भी कविता और दो मसनवी भी हैं। (२) 'नज़्म दिल अफ़रोज़' जो रामपुर में छपा है (३) 'दफ़्तर ख्याल'—चौथा अपूर्ण दीवान सुना जाता है उनके किसी शिष्य के पास रामपुर में है। इनके अतिरिक्त निम्न लिखित मसनवी भी उन्हों ने लिखी हैं :—

(१) नाला तसलीम (२) शाम ग़रीबां (३) सुबह खंदां (४) दिलो जान (५) नग़मा बुलबुल (६) शौकत शाहजहांनी (७) गौहर इन्तख़ाब (८) तारीख़ रामपुर। इनके सिवा उन्होंने नवाब साहब की योरप यात्रा का वृत्तांत बीस-पचीस हज़ार शेरों में पद्यबद्ध किया है।

तसलीम की कविता बहुत ही सरल, ठोस और ओजपूर्ण है। उनकी मसनवी सब से अच्छी है। कोई-कोई क़सीदे भी बहुत ज़ोरदार हैं। ग़ज़लें बहुधा सुँदर और भावपूर्ण हैं।

रचना शैली

हमारी राय में उनका 'नज़्म अरजुमंद' नामक पहला दीवान सब से बढ़कर है। वह बहु-लेखक थे और इसी से इनकी रचना फीकी और नीरस हो गई है। वह वस्तुतः तीन बातों के लिए प्रसिद्ध हैं। एक तो अपनी ग़ज़लों और मसनवी के लिए, दूसरे मोमिन के अनुकरण के लिए, तीसरे इसलिए कि वह हमारे समय के योग्य कवि हसरत मौहानी के उस्ताद थे।

तसलीम का जीवन अधिकांश कष्ट और दरिद्रता में व्यतीत हुआ। यहाँ तक कि कभी-कभी उपवास की नौबत आ जाती थी। बहुधा उनके मित्र और शिष्य उनकी सहायता कर दिया करते थे। उनके दीर्घ जीवन की कथा बहुत ही दुखद है, जिसको अंत में मृत्यु ही ने समाप्त किया।

लेकिन इस प्रतिकूल दशा में भी उनके स्वभाव में चिड़चिड़ा-

पन और क्रोध न था। वह बहुत ही मिलनसार और संतोषी आदमी थे। उनको कभी किसी धनाढ्य कवि से ईर्षा नहीं हुई।

उनके अनेक शागिर्द हाजी महम्मद इस्माइल खां 'बुलबुले तसलीम इत्यादि थे। उनमें अर्श गयावी और हसरत मौहानी विशेषतया उल्लेखनीय हैं। अर्श का हाल आगे लिखा जाता है। हसरत का उल्लेख गद्य विभाग में किया जायगा।

तसलीम के कुछ चुने हुए पद्य नीचे लिखे जाते हैं :—

'हाय कब तक न मैं घबराऊँगा ऐ दस्ते जुनूँ।
अब तो दामन भी नहीं है कि बहल जाऊँगा ॥

उम्र भर रश्क उदू साथ था [illegible]हता क्या हाल।
वह मिला भी कभी तनहा तो मैं तनहा न हुआ ॥

क़तरए खूँ भी नहीं दिल में मेरे। हाय तर होगी ज़बाने तीर क्या ॥

कुछ कह दो झूठ-सच कि तबक्का बँधी रहे।
तोड़ो न आसरा दिले उम्मीदवार का ॥

तसलीम किसके वास्ते बैठे हो घर चलो।
क्या एत्बार वादए बे एत्बार का ॥

दिल मेरा था गिर गया, गुम हो गया, जाता रहा।
ग़म तुम्हें काहे का है जाता रहा जाता रहा ॥

ढूंढता है रोज़ो शब लेकर चिराग़े मिह्रो माह।
क्या तेरा ऐ आसमाने पुर जफ़ा जाता रहा ॥

मरक़द में सफेदी जो कफ़न की नज़र आई।
समझा मैं पसे मर्ग मेरे साथ गड़ी धूप ॥

और हैं जिनको है शागिर्दी पे ऐ तसलीम नाज़।
मैं नसीमे देहलवी के कफ़्स बरदारों में हूँ ॥

वाइज़ खुदा शिनास न होगा तमाम उम्र।
अब तक पड़ा हुआ है हरामो हलाल में ॥

काबे का इरादा किए निकले तो हैं घर से।
आ जाय वह बुत सामने इस दम तो मज़ा हो ॥

ज़मीरुद्दीन अर्श गया के मुंशी बन्दा अली वकील के पुत्र हैं। बहुत दिनों तक समाचार पत्रों से संबंध रखने के बाद रेलवे में नौकरी कर ली है। पहले नासिख़ के शिष्य, शमशाद के शागिर्द थे। फिर तसलीम को अपनी कविता दिखलाने लगे। इनकी बहुधा रचनायें अभी छपी नहीं। एक दीवान 'फ़िक्र-अर्श' दाग़ के रंग में है, दूसरा दीवान 'नज़में नौ निगार' तसलीम का संशोधित किया हुआ है। इसके अतिरिक्त एक तीसरा दीवान भी है। कुछ दिनों तक 'बिहार पंच' के संपादक रहे। इनकी बहुधा ग़ज़लें 'नेचुरल शायरी' (प्राकृतिक-कविता) के रंग में प्रसिद्ध हैं।

अर्श

हैदराबाद का दरबार

हैदराबाद दक्षिण अपनी विद्या और साहित्य संबंधी परंपरागत अनुकरण के लिए सदा से प्रसिद्ध है। प्रथम निज़ाम जिस प्रकार बीजापुर और गोलकुंडा राज्य के उत्तराधिकारी माने गए, उसी प्रकार उनकी विद्याभिरुचि और कविता का आश्रयदायित्व भी मानो उनको दाय भाग में मिला है। हैदराबाद सदा से विद्या और कविता का केंद्र और देशी-परदेसी विद्वानों और कवियों के शरण का स्थान रहा है। वहां के नरेशों और अमीरों की उदारता को सुन कर कवि और हर प्रकार के विद्वान उत्तर भारत तथा सुदूर देशों जैसे ईरान, अरब, बुख़ारा और समरक़ंद इत्यादि से आते रहे और यहाँ की उदारता और दान-दक्षिणा से लाभ उठा कर निश्चिंत विद्या और साहित्य की सेवा करते रहे। ये लोग दरबार की शोभा समझे जाते थे। निज़ाम केवल इनके आश्रयदाता और गुणग्राहक न थे, किंतु

कविता की ओर भी उनकी रुचि थी। यद्यपि किसी-किसी समय में कविता का बाज़ार ठंडा रहा, फिर भी उसका दीपक कभी बुझा नहीं। वहाँ के शासक उस समय के चलन के अनुसार अधिकांश फ़ारसी में कविता करते थे, लेकिन अब उर्दू की चर्चा अधिक हो गई है, जिसका वर्णन आगे किया जाता है।

निज़ाम आसफ़ जाह प्रथम १६७१-१७५८ ई०

निज़ाम वंश के मूल पुरुष मीर क़मरुद्दीन खां फ़ारसी के कवि थे। दो दीवान उन्हों ने छोड़े। 'शाकिर' उनका उपनाम था। मिर्ज़ा बेदिल से अपनी कविता संशोधित कराते थे। उनकी रचना में तसौवफ़ का रंग अधिक गहरा था। कहा जाता है कई भाषाओं के वह गद्य-पद्य के लेखक भी थे इसलिए संभवतः उर्दू में भी लिखा हो, परंतु अब यह उपलब्ध नहीं है।

मीर महबूब अली खां जो छठे आसफ़ जाह थे, सन १८६६ ई० में पैदा होकर सन १८६९ में गद्दी पर बैठे।

मीर महबूब अली खां उपनाम आसफ़ १८६६-१९११ ई०

उनकी शिक्षा मौलवी महम्मद ज़मां खाँ 'शहीद', मौलवी मसीहुल ज़मां खां, मौलवी अनवरुल्ला खां, अशरफ़ हुसैन, मुज़फ्फ़र हुसैन (सुलेखक), मिर्ज़ा नसरुल्ला खां, मिस्टर क्लार्क, सरवर जंग, अफ़सर जंग और मट्टू खां इत्यादि द्वारा अरबी, फ़ारसी उर्दू और अंग्रेज़ी में हुई। इनके अतिरिक्त उनको सैनिक शिक्षा जैसे घुड़सवारी और निशानाबाज़ी की दी गई। उनकी विद्या और कविता की गुण ग्राहकता को सुनकर बड़े-बड़े कवि और विद्वान हैदराबाद में एकत्र हो गए, जैसे मौलाना करामत अली, हैदर अली, मौलवी अमीनुद्दीन खां, वहीदुल ज़मां खाँ, महदी अली, मुश्ताक़ हुसैन, सैयद हुसैन, सैयद अली बिल्ग्रामी, नज़ीर अहमद और मौलवी अज़ीज़ मिर्ज़ा इत्यादि। इनके सिवा और सैकड़ों विद्वान लखनऊ और दिल्ली के उनके यहां

पहुँच गए। निज़ाम के विद्या-प्रेम के अनेक उदाहरण हैं। जैसे उन्होंने मौलवी सैयद अहमद देहलवी को उनके प्रसिद्ध उर्दू कोष 'फ़रहंग आसफ़िया' के मुद्रण के लिए प्रचुर धन दिया तथा उसके उपलक्ष्य में उनको पचास रुपया महीने की आजन्म पेंशन नियत कर दी थी। उन्हीं की कृपा से तमद्दुन अरब, सालार जंग की जीवनी और तारीख़ दकिन इत्यादि का निर्माण हुआ। उनके दरबार से मौलाना शिवली, मौलाना हाली, मौलवी अब्दुल हक़, क़दर बिल्ग्रामी, पं० रतन नाथ शरशार, अब्दुल हलीम शरर तथा प्रोफ़ेसर शहबाज़ इत्यादि बराबर लाभ उठाते रहे। प्रसिद्ध कवि दाग़ का तो इतना आदर-सत्कार और मान-दान हुआ, जो किसी कवि का नहीं हुआ था। अलबत्ता अमीर मीनाई जीवन समाप्त हो जाने से विफल रहे, लेकिन उनके लड़के अख़्तर मीनाई और उनके शिष्य जलील अब भी दरबारी कवि हैं।

कविता में उक्त निज़ाम का उपनाम 'आसफ़' था और अपने उस्ताद दाग़ के अनुयायी थे। उनकी रचना के शब्द और अर्थ सुशोभित हैं। कविता बहुत सरल, परिमार्जित और चुटपुटी है। दो दीवान उनके कविता के स्मारक रूप हैं।

उक्त नवाब साहब के पुत्र हिज़ एकज़ाल्टेड हाईनेस सर उसमान अली खां भी कविता के प्रेम में अपने पिता के अनुयायी हैं। आप बड़े समालोचक भी हैं। आपके दरबार में बड़े-बड़े विद्वान और कवि हैं। आपके समय में उसमानिया यूनिवर्सिटी की स्थापना हुई, जिससे उर्दू भाषा की बहुत बड़ी उन्नति हुई तथा एक अनुवाद विभाग 'दारुल तर्जुमा' के नाम से स्थापित हुआ है, जिसमें विदेशी भाषाओं की बड़ी-बड़ी अमूल्य पुस्तकों का उर्दू में भाषांतर हुआ है। इस उपकार से उर्दू कभी उऋण नहीं हो सकती। कविता में आपका नाम 'उसमान' है। इस कला में हाफ़िज़ जलील

वर्तमान हैदराबाद नरेश

हसन 'जलील' आपके उस्ताद हैं। आपकी रचना स्वच्छता और सादगी से परिपूर्ण है। आपकी ग़ज़लों का एक दीवान छप गया है। फ़ारसी, अरबी में भी आपकी अच्छी गति है और इन भाषाओं में भी आप कभी-कभी कविता करते हैं।

हैदराबाद रियासत के अमीरों में विद्वानों और कवियों के संरक्षण के नाते से जो स्थान महाराजा चन्दूलाल का है वह किसी को नसीब नहीं हुआ है। कविता में इनका उपनाम 'शादाँ' था। यह खत्री जाति के थे। स्वयं विद्या संपन्न होने के सिवा विद्वानों के बड़े संरक्षक थे तथा दान-दक्षिणा में अद्वितीय थे। उनकी उदारता हैदराबाद में अब तक

महाराजा चन्दूलाल 'शादां' १७६६–१८४५ ई०

प्रसिद्ध है। उस समय वह नगर 'चन्दूलाल का हैदराबाद' कहलाता था। उनका नाम सुनकर हिन्दुस्तान और ईरान के अनेक कवि और विद्वान वहां जमा हो गए थे, जो उन्हीं के महल के मुशायरों में रात को अपना-अपना कौशल दिखलाते थे। इन्हीं सभाओं में नसीर देहलवी भी सम्मिलित हुये थे और इनाम-इकराम से मालामाल होकर लौटे थे। ज़ौक़ और नासिख़ को भी उन्होंने बुलाया था, लेकिन जन्मभूमि के मोह से वे नहीं गए। महाराजा उर्दू-फ़ारसी के कवि थे। उनके दो दीवान उर्दू में और एक फ़ारसी में है। कहा जाता है कि उस समय तीन सौ से अधिक कविगण वहां इकट्ठे हो गए थे, जिनका वेतन सौ रुपये से लेकर एक हज़ार रुपये तक था। उन्होंने एक पुस्तक 'इशरत कदा आफ़ाक़' के नाम से लिखी है, जिसमें अपने परिवार का हाल और अपनी जीवनी लेख-बद्ध की है तथा उसमें निज़ाम राज्य की जो सेवा उन्होंने की है उसका भी वर्णन है।

राजा गिरधारी प्रसाद उपनाम महबूब निवाज़ राजा बंसीधर

सकसेना कायस्थ थे। यह फ़ारसी और संस्कृत के अच्छे विद्वान थे। अरबी में भी उनकी अच्छी गति थी।

राजा गिरधारी प्रसाद 'बाक़ी'–१८४०–१९०० हैदराबाद के प्रसिद्ध रईसों में थे। कविता के प्रेमी तथा कवियों के संरक्षक थे। दाग़ जब हैदराबाद गये तो राजा साहब ने उनका बहुत आदर किया और उनकी सहायता की। उन्हों ने अनेक पुस्तकें लिखी है, जिनमें से प्रसिद्ध भागवत गीता का फ़ारसी अनुवाद 'केशव नामा' के नाम से, कुल्लियात बाक़ी, क़सायद बाक़ी, प्रिंस नामा, कंजुल तारीख़, बक़ाय बाक़ी, सियाक़ बाक़ी, पैराया अरूज़ और आईना सख़ुन हैं। उनके शेरों से प्रतीत होता है कि उनमें धार्मिक उदारता कितनी थी। उनकी रचना में तसौवफ़ का रंग गहरा है। दर्शन और धर्म के बड़े प्रेमी थे। एक सच्चे साधु का जीवन व्यतीत करते थे। उनकी रुबाइयाँ बड़ी प्रभावशाली और रोचक हैं। उनकी रचनाओं से उनकी असीम विद्वता का अनुमान होता है। कविता में वह शम्सुद्दीन .फ़ैज़ के शिष्य थे।

महाराजा सर किशुन प्रसाद बहादुर अवसर प्राप्त प्रधान मंत्री हैदराबाद बहुत बड़े विद्वान और प्रसिद्ध कवि थे।[1] यह देहली के एक पुराने कुलीन वंश के हैं, जिस में से

महाराजा सर किशुन प्रसाद जन्म १८६४ ई० इनके कोई पुरखा पुराने निज़ाम के साथ हैदराबाद गए थे। इनके पितामह महाराजा नरेन्द्र प्रसाद भूत पूर्व निज़ाम की नाबालग़ी में कौंसिल आव रिजेन्सी के मेम्बर थे। यह और महाराजा चन्दूलाल एक ही वंश के हैं। इनके पितामह

---

[1] उक्त महाराज का सन १९४० ई० में देहांत हो चुका है।

(हिंदी अनुवादक)

ने इनको अरबी और फ़ारसी की उच्च शिक्षा बड़े योग्य विद्वानों से दिलाई थी। इसके अतिरिक्त इन्हों ने अंग्रेज़ी, तिलंगी और मराठी भी अच्छी तरह से सीखी थी। वह बड़ी सुगमता के साथ सुंदर और स्वच्छ गद्य लिखने में प्रसिद्ध थे, इसके अतिरिक्त 'शाद' के नाम से बड़े अच्छे कवि थे। अपनी कविता गत निज़ाम को दिखलाते थे, जिन्हों ने इनको 'शागिर्द खास आसफ़जाह' की उपाधि दी थी। महाराजा बहादुर ने हैदराबाद की दो पत्रिकाओं 'दबदबा आसफ़िया' और 'महबूबुल कलाम' का कुछ दिनों तक संपादन किया था। पिछली पत्रिका में हुज़ूर निज़ाम भी अपनी कविता भेजा करते थे। महाराजा बहादुर सूफ़ी विचार के थे। अतः उनकी रचना अधिकांश तसौवफ़ के सिद्धान्तों से ओत-प्रोत है। उनके दीवान उर्दू और फ़ारसी के प्रकाशित हो चुके हैं, जिन में से एक '.खुमकदा रहमत' केवल महम्मद साहब की प्रशंसा में है, जिससे उनकी धार्मिक उदारता और मानव-बंधुता का पता चलता है। वह अपने पूर्वजों की प्रथा के पूर्णतया अनुगामी थे। यह सच है कि वह महाराजा चन्दूलाल के समान उदार व दान शील नहीं थे, पर इसका कारण समय का परिवर्तन है। उक्त महाराजा की कृतियाँ चालीस के लगभग हैं, जिनमें से कुछ के नाम ये हैं:—बज़्मे .ख्याल ३ जिल्दों में, रुबाइयात शाद, हदिया शाद, फ़रयादशाद, मतला .खुरशेद, ईमान शाद, .खुमार शाद, नग़मा शाह, अरमग़ान वज़ारत, मखज़नुल क़वाफ़ी, मसनवी आईना वजूद, और मसनवी सिर्रे वजूद इत्यादि। आपकी रचना बहुत ही रोचक होती थी, जिसका निर्माण बड़ी सुगमता के साथ आप करते थे।

सन् १८९२ ई० में आप मंत्री हुए जो उनके घराने का पद था और 'राजा राजगान महाराजा बहादुर' की उपाधि से विभूषित हुए। सन् १९०१ में प्रधान मंत्री होकर 'यमीनुल सलतनत' की पदवी मिली।

सन् १९०३ में सी० आई० ई० और १९१० में जी० सी० आई० ई० की उपाधियां अंग्रेज़ी सरकार से मिलीं। सन् १९१२ में अपने पद से प्रथक् हो गए।

अंजुमन तरक्क़ी उर्दू

हैदराबाद की यह प्रसिद्ध संस्था तेरह-चौदह वर्ष से स्थापित है और अपने योग्य सेक्रेटरी मौलवी अब्दुल हक़ बी० ए० की देख-रेख में बराबर उन्नति कर रही है, जिसका कारण उक्त सेक्रेटरी साहब का अदम्य उत्साह तथा अन्य विद्वानों की लेखनी द्वारा सहायता और सब से बढ़ कर हुज़ूर निज़ाम का संरक्षण है। अंग्रेज़ी की अनेक प्रसिद्ध और उपयोगी पुस्तकों का भाषांतर बड़ी योग्यता और सावधानी के साथ हुआ है, जैसे बकल कृत सभ्यता का इतिहास (तारीख़ तमद्दुन के नाम से) एब्बटे कृत नेपोलियन और प्लूटार्क की जीवनी, लीकी का नैतिक इतिहास और यूनान के तत्वदर्शियों की जीवनी इत्यादि। इनके अतिरिक्त दर्शन, विज्ञान, आचार और अर्थ शास्त्र इत्यादि की अनेक पुस्तकों का अनुवाद या रचना हुई है या होने को है। इसी प्रकार उर्दू की अनेक पुरानी पुस्तकों का और तज़किरों का प्रकाशन योग्यता पूर्ण भूमिका के साथ हुआ है।

उर्दू लिपि के संशोधन और उन्नति के लिए तथा उसको नियमानुसार सुगमता के साथ उच्चारण के निमित्त योग्य और अनुभवी विद्वानों की कमेटियां बनाई गई हैं। प्रोफेसर ब्राउन और निकलसन के ईरान और अरब के साहित्यिक इतिहास का भी सुना है, अनुवाद हो चुका है और छपने के लिए तैयार है। अंग्रेज़ी उर्दू के सिवा अरबी, फ़ारसी और फ्रांसीसी की अमूल्य पुस्तकों के अनुवाद के लिए भी अंजुमन का ध्यान है।

अनुवाद की सुगमता के लिए विज्ञान और अन्य कलाओं की परिभाषाओं का भी उर्दू में अनुवाद हुआ है और उसकी एक शब्दा-

वली प्रकाशित हो गई है। इसी प्रकार विविध प्रकार के शिल्पकारों और व्यवसाइयों के विशेष मुहावरों और शब्दों की भी सूची बनाई गई है। आक्सफोर्ड के सक्षिप्त अंग्रेज़ी कोष के उर्दू अनुवाद का भी काम हो रहा है[1], जिसके लिए बीस-पचीस विद्वान नियत हुए हैं। सुना गया है कि अंजुमन उर्दू नस्तालीक़ (सुंदर) टाइप तैयार करने की चेष्टा कर रही है। इससे पुस्तकों के छपने और पढ़ने में बड़ी सुविधा होगी। सारांश यह कि अंजुमन के विविध प्रकार के कार्य और योजनायें प्रशंसनीय हैं। अंजुमन की त्रैमासिक पत्रिका 'उर्दू' भी उक्त सेक्रेटरी साहब के संपादन में प्रकाशित हो रही है, जिस में उर्दू साहित्य के संबंध में बड़े आदरणीय और रोचक लेख होते हैं। थोड़े दिन हुए अंजुमन ने एक और पत्रिका 'साइंस' के नाम से डाक्टर मुज़फ़्फ़रउद्दीन कुरैशी के संपादन में प्रकाशित करना आरंभ किया है, जिस में केवल साइंस संबंधी लेख होते हैं। यह भी 'उर्दू' की तरह बहुत उपयोगी है।

उसमानिया यूनिवर्सिटी

रियासत की जनता में बहुत दिनों से यह उच्चाकांक्षा थी कि उच्च शिक्षा मातृ भाषा द्वारा दी जाय। अतः इसकी पूर्ति के लिए निज़ाम के फ़रमान २२ सितंबर सन् १९१८ के अनुसार हैदराबाद में उसमानिया यूनिवर्सिटी की स्थापना हुई। इसमें सब विद्याओं की शिक्षा उर्दू द्वारा दी जाती है। अंग्रेज़ी द्वितीय भाषा के लिए अनिवार्य है, जिससे शिक्षार्थी अंग्रेज़ी दुनिया के विचारों से अनभिज्ञ न रहें। अब तक एक कालेज इससे संबद्ध है जो सन् १९१९ में खोला गया है। यूनिवर्सिटी बराबर उन्नति कर रही है और विद्यार्थियों की संख्या बढ़ती जाती है। गवर्नमेंट आव इंडिया ने इसकी स्थिति को स्वीकार कर लिया है

[1] अब यह कोष तैयार होकर प्रकाशित हो गया है।

(हिन्दी अनुवादक)

कि उसकी परीक्षा और उपाधियों की वही प्रतिष्ठा होगी, जो इस देश में अन्य यूनिवर्सिटियों के ग्रेजुएटों को प्राप्त है। इस समय इसमें धर्मशास्त्र, आर्ट और साइंस तथा कानून की शिक्षा दी जाती है।

इस यूनिवर्सिटी की आवश्यक पुस्तकों के लिए उसकी देख-रेख में एक अनुवाद विभाग 'दारुल तर्जुमा' के नाम से स्थापित किया गया है। अभी थोड़े ही दिनों में इसने इंटरमीजियट और बी० ए० की कक्षाओं के लिए पुस्तकें तैयार कर ली हैं। इसमें आठ योग्य अनुवादक, एक प्रसिद्ध विद्वान की अध्यक्षता में काम करते हैं। उन कठिनाइयों को देखते हुए जो विविध विद्याओं के पर्याय-वाची शब्दों के संचय में हुआ करता है, इस संस्था का काम सराहनीय है। थोड़े दिन हुए इस विषय का एक उपयोगी कोष प्रकाशित हुआ है। पहले यह संस्था थोड़े दिनों के लिए स्थापित हुई थी, लेकिन कार्य की गंभीरता को देखते हुए हुजूर निज़ाम ने इसकी अवधि दस वर्ष के लिए और बढ़ा दी है। इस संस्था में यूनिवर्सिटी के कोर्स के अतिरिक्त अन्य विषय की पुस्तकों के अनु-वाद और रचना की भी योजना हो रही है, जैसे इतिहास (प्राच्य, पाश्चात्य, प्राचीन और अर्वाचीन), दर्शन, अर्थशास्त्र, गणित (मिश्रित और अमिश्रित) रसायन और भौतिक विज्ञान तथा क़ानून इत्यादि। जब शिक्षा विज्ञान, इंजीनियरिंग और चिकित्सा पढ़ाने के विभाग खुलेंगे, तो इनकी भी पुस्तकों का अनुवाद होगा, जिसका अभी से ध्यान रक्खा गया है। अब तक डेढ़ सौ पुस्तकें विविध प्रकार की तैयार और प्रकाशित हो चुकी हैं, जो अपने विषय में आदर्श हैं और उनमें बहुधा कालेज में पढ़ाने योग्य हैं।

दारुल तर्जुमा

सारांश यह कि यह संस्था उर्दू की उन्नति और प्रसार के लिए बहुत ही उपयोगी और इस योग्य है और आशा है कि वह बहुत दिनों तक अपना कार्य करती रहेगी।

अध्याय १४

उर्दू कविता की नवीन गति

आज़ाद और हाली का समय

उर्दू मरसिया लेखकों तथा नज़ीर अकबराबादी ने उस ज्योति की झलक देख ली थी जो आगे चल कर नई शैली के रूप में प्रकाशित होने वाली थी। इन लोगों ने एक मार्ग तैयार कर दिया था, जिसके यात्री बाद को आए और। इस मार्ग ने उनको कविता में सुधार के लिए अग्रगामी किया। हमारी राय में पुराने मरसियों में नवीन शैली का बीज अवश्य मौजूद था, जिसका सिंचन आगे आने वालों ने किया और उन्हीं के शुभ हाथों से वह वृक्ष पल्लवित होकर फला-फूला। प्राकृतिक दृश्य, घटनाओं के सच्चे चित्र, शब्दों द्वारा मनोभावों का यथातथ्य प्रदर्शन, उपदेशात्मक रचना, शब्द विन्यास में गति, रूपक और अलंकारों की समुचित मात्रा, ये सब बातें जो वर्तमान कविता के प्राण हैं, पुराने मरसियों में इनका तत्व कुछ न कुछ पाया जाता है। इसी प्रकार नज़ीर ने भी इस भविष्य के परिवर्तन को अपनी रचना में सूचित कर दिया था, बल्कि बहुत सफाई के साथ सूचना दी थी, इसलिए कि मरसियों में तो ये बातें कहीं-कहीं अथवा भूमिका के रूप में थीं और नज़ीर के यहाँ वह स्वतंत्र रूप में हैं। खेद है कि उस समय के लोगों ने इस शैली को आदर की दृष्टि से नहीं देखा और इसको व्यर्थ समझ कर ग्रहण नहीं किया। इसीलिए तो मरसिया लेखक 'बिगड़े शायर' कहलाते थे और नज़ीर को तो पुराने दर्रे के प्रेमी, एक साधारण और मूर्ख शायर

नवीन शैली के पथ-दर्शक

समझते थे, बल्कि अब भी समझते हैं, क्योंकि उसने, उनके विचार में निश्चित नियमों का अनुकरण नहीं किया और यह कि वह बहुत बड़ा विद्वान न था तथा उसने शब्दों के संवार-सिंगार की अधिक परवाह नहीं की। ये पुराने लोग पद्य की वाह्य शोभा को देखते थे, इसलिए नज़ीर की अकृत्रिम और स्वाभाविक रचना इनको नहीं जँची। पुराने विचारों को मिटाने के लिए किसी प्रबल शक्ति की आवश्यकता थी, जिसका संक्षिप्त वर्णन आगे किया जाता है।

परिवर्तन के कारण

समय का परिवर्तन पुराने ढंग की उर्दू कविता से लिए अनुकूल नहीं हुआ। दिल्ली और लखनऊ के राज्य मिट जाने से कवियों के संरक्षक उठ गए। अब ये लोग अनाथ हो गए, मामूली आदमियों का मुँह ताकने लगे, जो यदि इनको रखना भी चाहते तो उनके पास इतना धन कहां था, जो बादशाहों और अमीरों की तरह इनका आदर-मान करते। जैसा पहले कहा गया है बहुधा ये कवि लोग आजीविका की खोज में रामपुर और हैदराबाद तथा कुछ अन्य हिन्दुस्तानी रियासतों में चले गए, पर यहाँ भी बहुत दिनों तक उनका पाँव न जम सका और थोड़े दिनों के पश्चात् या तो वे एक जगह से दूसरी जगह जाते रहे या अपने घर लौट आए। इसी के साथ समय के परिवर्तन से अमीरों का झुकाव अन्य आवश्यक कामों की ओर हुआ। इसका भी कवियों की आय पर बहुत प्रभाव पड़ा। अब धनाढ्य लोग अधिक कारोबारी हो गए और उनको सादा और साफ़ गद्य, रंगीले पद्य की अपेक्षा अधिक पसंद आने लगा और पुराने ढर्रे की ग़ज़लों से उनका जी उचाट हो गया, यद्यपि ग़ज़लें लोगों को प्रिय रहीं और अब भी हैं।

अवध और दिल्ली राज्य के विनाश और ग़दर के उपद्रव से लोगों की आंखें खुल गईं। उनकी निद्रा भंग हुई और वे अनेक

प्रकार की सांसारिक चिन्ताओं में ग्रस्त हो गए। यह सच है कि देशी रियासतें सुरक्षित रहीं, लेकिन समय की गति के अनुसार उनको भी अपने शासन-प्रबन्ध का सुधार आवश्यक था। इसलिए वे रियासतें भी जहाँ कवियों को शरण मिलती थी इस परिवर्तन से बच न सकीं, जिसका प्रभाव कवियों की आय पर बहुत कुछ पड़ा।

अंग्रेज़ी शिक्षा का प्रभाव

अंग्रेज़ी शिक्षा का भी उर्दू गद्य-पद्य पर बहुत प्रभाव पड़ा और उसने उसको शक्ति प्रदान की। अंग्रेज़ी शिक्षा ने उर्दू भाषा के साथ इस देश में यही किया जो इंगलैंड में अंग्रेज़ी भाषा के साथ रेनासांस ने सोलहवीं शताब्दी में और कहानी लेखन के प्रेम ने अठारवीं शताब्दी में किया था। अनुवाद से इस परिवर्तन का सूत्रपात हुआ। अंग्रेज़ी साहित्य का जिसमें गद्य-पद्य और नाटक सभी कुछ हैं, बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा और हमारे मार्ग-दर्शकों को अपनी भाषा में भी वैसी ही कुछ रचना करने का विचार उत्पन्न हुआ। आरंभ में तो यह काम अधिक गभीर नहीं हुआ, क्योंकि लेखकगण या तो अंग्रेज़ी बिलकुल नहीं जानते थे, या बहुत कम जानते थे। उनको इस नवीन शैली की जानकारी उन अनुवादों के द्वारा हुई, जो स्वयं अंग्रेज़ों के संकेत से हुए थे। इस कमी के होने पर भी वे इस नवीन शैली के गुणों को जान गए थे और निश्चय कर लिया था कि पुरानी शैली को, जिसमें वर्तमान समय की दृष्टि से बहुत सी त्रुटियां हैं, बदल डालें और उसमें एक नवीन रस का संचार करें। लेकिन यह परिवर्तन सहसा नहीं बल्कि शनैः शनैः हुआ, जिसका परिणाम यह हुआ कि नई के साथ पुरानी शैली भी बनी रही। उक्त रेनासांस और रोमांस (कल्पित कहानियों) के प्रेमियों के विपरीत हमारी भाषा के नेताओं ने अपने पुराने कवियों के सम्मान, आदर और प्रशंसा में

कमी नहीं की, जिसका प्रमाण हाली की 'यादगार ग़ालिब' और आज़ाद द्वारा सम्पादित 'दीवान ज़ौक़' है।

सारांश यह कि हमारे मार्ग-प्रदर्शक पुरानी शैली को मिटाने वाले न थे, बल्कि नई शैली के प्रचारक होते हुए भी, उस पुरानी प्रथा के पूजक बने रहे। उनका तात्पर्य केवल यह रहा कि उर्दू का क्षेत्र इतना विस्तृत हो जाय कि इस में नया रंग भी सम्मिलित हो सके, जिससे बे-सिर पैर की बनावटी बातें जाती रहें। व्यर्थ अत्योक्ति, दुरूह अपमाओं, नरीस शब्द-प्रपंच इत्यादि के वे विरोधी थे। अतः इन्हीं अवगुणों के दूर करने के लिए सुधार की नीव पड़ी।

नवीन शैली की विशेषतायें

ज्यों-ज्यों नवीन शैली का प्रचार होता गया, त्यों-त्यों वह सर्व-प्रिय होती गई और उसके रचयिता पैदा होते गए। नए लोग जो पुरानी शैली से अभिज्ञ थे, उन्हों ने इस नये ढङ्ग को बहुत जल्दी अपना लिया। इस शैली की विशेषतायें ये हैं:—नए-नए विषय ढूँढे गए, ग़ज़लों का क्षेत्र नवीन शैली के लिए संकीर्ण और अनुचित पाया गया। मुसद्दस (षट्पदी) और मसनवी (द्विपदी) की रचना का अधिक प्रचार हुआ, क्योंकि इन में लेखकों को अधिक सुविधा होती है और अनुप्रास पर अधिकार रहता है और विचारों की धारा-प्रवाह गति रहती है जो ग़ज़लों में कठिन है। बे सिर-पैर की बनावटी बातें त्याग कर दी गईं। रुबाई और क़ितों की ओर अधिक ध्यान दिया गया। प्राकृतिक वर्णन जो पुरानी शायरी में पीछे डाल दिया गया था अब अग्र श्रेणी में आ गया। जैसे वर्षा ऋतु, जाड़े और गरमी की बहारें, नदियों की प्रगति, वन और पर्वतों के सुहावने दृश्य इत्यादि नवीन कविता के अंग हो गए, जो पुराने कवियों के यहां बहुत ही कम देख पड़ते हैं। इसी प्रकार छायावाद, वर्णनात्मक, ऐतिहासिक, नैतिक, राष्ट्रीय, तथा

प्रश्नोत्तर के रूप में पद्य रचना नवीन शैली में होने लगी। ग़ज़लों में भी बहुत बड़ा हेर-फेर हुआ। अब वह पुराने ढर्रे के घिसे-घिसाए विषय, नायिका के केश-पाश, कंघी, चोटी, अँगिया, कुर्ती, मिस्सी काजल इत्यादि का नग्न वर्णन घृणित समझा जाने लगा। अब ग़ज़लों में आंतरिक मनोभावों, हृदयगत उद्‌गारों तथा संसार की असारता इत्यादि का यथातथ्य वर्णन होने लगा। हसरत मोहानी और अज़ीज़ लखनवी इत्यादि की ग़ज़लें इसी ढग की हैं।

छंदों और मात्राओं में परिवर्तन

आविष्कार की धुन में कुछ लोग ऐसे भी कविता के क्षेत्र में उतर आए हैं, जिन्हों ने अंग्रेज़ी पद्य के कुछ छंद उर्दू में प्रविष्ट करने का उद्योग किया है, लेकिन यह ध्यान नहीं रक्खा कि इस प्रकार की रचनायें उर्दू भाषा से मेल नहीं खातीं। इसी प्रकार कुछ अतुकांत कविता के भी प्रेमी और हो गए हैं, पर इसको भी जनता ने पसंद नहीं किया। आरंभ में कुछ पुराने अभ्यस्त कवियों ने ऐसी रचना के लिए उद्योग किया था, जैसे मौलवी सैयद अली हैदर तबातबाई, मौलाना शरर और आज़ाद काकोरवी इत्यादि और अब भी कुछ लोग इस प्रकार की अर्थात् तुकविहीन कविता करते हैं, लेकिन रिवाज न होने से उनकी प्रसिद्धि नहीं होती।

मौलवी अज़मत उल्ला ने हिंदी दोहों का अनुकरण उर्दू कविता में आरंभ कर दिया है। मधुर हिंदी शब्दों में भारतीय जीवन और संस्कृति का चित्र बड़े विस्तार का खींचा है, बहुधा ऐसे पद्य बड़े चित्ता-कर्षक और सरस होते हैं। परंतु पुराना ढंग भी बिल्कुल भुलाया नहीं गया। मुसद्दस, जो केवल मरसिया के लिए निश्चित थी, उसी में मौलाना हाली 'मद्दोजज़र (ज्वार भाटा) इसलाम' लिख कर अमर हो गए। उसके पश्चात् मुसद्दस का बहुत प्रचार हुआ, जिसमें हर वषय की कविता, जिसका ऊपर वर्णन हुआ, लिखी जाती है, क्योंकि

उसके छंद बड़े ओजस्वी और रोचक मालूम होते हैं और वर्णन शृङ्खलाबद्ध होता है। चारों चरणों के सानुप्रास होने से कोई रुकावट नहीं होती, बल्कि पद्य का आनन्द और सुरीलापन अधिक बढ़ जाता है। मुसद्दस के अतिरिक्त अन्य प्रकार की कविता में भी विषय के साथ संगति और मेल का बहुत ध्यान रक्खा जाता है। पद्य के तत्व में यह परिवर्तन हुआ है कि व्यर्थ बातें और अतिशयोक्ति त्याग कर दी गई हैं और अब सादगी और सफाई पद्य का प्राण समझा जाता है। इसीलिए वर्तमान समय की कविता बड़ी प्रभावशाली और भावुकतापूर्ण होती है।

नवीन शैली का प्रभाव

अंग्रेज़ी शिक्षा की शैली से वह उदासीनता दूर हो गई, जो अंत में लखनऊ और दिल्ली की कविता पर छा गई थी। उसने कविता का क्षेत्र विस्तृत कर दिया और उसमें स्वतंत्रता और उच्च विचारों की एक नवीन शक्ति का संचार किया। गद्य की उन्नति, नवीन समालोचन-कला और नाटक-रचना का रिवाज उसी से हुआ। उसी के कारण एक विशाल और अमूल्य शब्द भंडार, नए विचार, नई उपमाएँ, नए विषय, नए-नए दृश्य इत्यादि पद्य की शोभा के लिए हाथ आ गए; और उनके वर्णन के लिए नई शैली ग्रहण की गई। उसकी सहायता से अनेक नए शब्द भाषा में प्रविष्ट हो गए और यह इस योग्य हो गई कि भावों का सूक्ष्म भेद शब्दों द्वारा प्रकट किया जा सके। अंग्रेज़ी शिक्षा के प्रभाव ने उर्दू भाषा को रूढ़िवाद की बेड़ियों से मुक्त कर दिया, जिस से लोगों के मस्तिष्क ऐसे जकड़े हुए थे कि उनके विचार बहुमुख नहीं रह गए थे। उनका दृष्टिकोण संकीर्ण और प्रतिभा में मानों घुन लग गया था। हिंदुस्तान की देशी भाषाओं में अंग्रेज़ी शिक्षा के कारण कायापलट हो गई और अब उनके सामने एक उज्ज्वल भविष्य है।

नए अनुभव के ग्रहण करने और नए विचारों के प्रकट करने में उनको अपने ऊपर पूरा भरोसा है। उसने लोगों में इतना बड़ा परिवर्तन पैदा कर दिया है कि वर्तमान समय की रचना मानों दूसरी भाषा की रचनाएँ प्रतीत होती हैं।

परंतु इसमें संदेह नहीं कि इन गुणों के साथ कुछ त्रुटियाँ भी पैदा हो गई हैं, जैसे छंद शास्त्र के नियमों की उपेक्षा, हर प्रकार के अच्छे-बुरे विषयों का पद्य-बद्ध करना तथा अंग्रेज़ी शब्दों की भरमार इत्यादि। फिर भी यदि ध्यान पूर्वक देखा जाय तो हानि की अपेक्षा लाभ की मात्रा अधिक है और आशा की जाती है कि ये त्रुटियां भी कभी दूर हो जायंगी।

नवीन शैली की तीन प्रणालियां : पहला संप्रदाय

पहली शैली उन लोगों की है जो पीछे देखना अपना परम कर्तव्य समझते हैं, अर्थात् पुराने ढर्रे के लोग, जो वर्तमान काल की अपेक्षा पिछले समय में अपना जीवन व्यतीत करना चाहते हैं। उनको पुरानी ही भाषा पसंद है। अपनी रचना को पुराने सांचे में ढालते और नई शैली से घृणा करते हैं। वे जीवन की साधारण बातों पर विचार करना पाप समझते हैं और इसमें उनको बड़ा गर्व है कि ऐसे विषयों पर जिसमें कुछ तसौवफ़ और कुछ शृङ्गार रस की मिलावट हो, बस इसी प्रकार की कविता की जाय। यदि उनको सचमुच कुछ तसौवफ़ और शृङ्गार रस से लगाव होता, तो वे क्षम्य थे, परन्तु बिना किसी संबंध के या तो पुराने लोगों के नक़ल करने वाले या शब्दों का इंद्रजाल फैलाने वाले तथा पुराने विषयों पर पुराने छंदों और शब्दों में कविता करने पर दत्त चित्त हैं। ये लोग कविता इसलिए करते हैं कि केवल कवित्व को अपनी विद्वता और योग्यता की सनद समझते हैं। ऐसे ही लोगों के लिए अंग्रेज़ी कवि पोप ने कहा है, जिसका अनुवाद यह है:—

'वे लोग इसलिए कविता करते हैं कि उनके बाप भी कवि थे लेकिन (सच तो यह है कि) अपनी मूढ़ता और कुपुत्र होने का परिचय देते हैं।'

स्पष्ट है कि ऐसे लोग सच्चे कवि कहलाने के अधिकारी क्योंकर हो सकते हैं, अलबत्ता कवियों के नक़लची कहे जा सकते हैं। इन्हीं लोगों की रचनाओं से आजकल की पत्रिकायें भरी रहती हैं। लेकिन इनमें कुछ ऐसे भी हैं, जो पुरानी शैली का अनुकरण अधिक योग्यता और सावधानी से करते हैं और पुराने लोगों के स्थानापन्न कहे जा सकते हैं। लेकिन हमारे देश के कुछ मनचले नवयुवक उनकी रचना को पसंद नहीं करते। सारांश यह कि पुरानी शैली को उचित और अनुचित समझने वाले दोनों, समय की प्रगति से, पीछे हटते जाते हैं और यदि वर्तमान काल की आवश्यकताओं पर दृष्टि डाली जाय, तो ये लोग कोई उपयोगी सेवा भी नहीं करते, अलबत्ता इनके उद्योग से कविता का लंगर गतिवान अवश्य है।

यह दल पहले दल के सर्वथा विपरीत है। यह हरेक पाश्चात्य चीज़ का प्रेमी है। अपने देश की पुरानी बातों को हीन और तुच्छ समझता है। पाश्चात्य कविता की प्रशंसा में आकाश-पाताल मिला देता है और इतना नहीं समझता कि पाश्चात्य कविता शैली हम लोगों के लिए कहां तक उचित और अनुकूल हो सकती है। इसका कारण यह है कि पाश्चात्य शिक्षा की मदिरा ने इन लोगों के मस्तिष्क को चकरा दिया है और इतना अचेत कर दिया है कि वह कोई ठीक निश्चय नहीं कर सकते। इन लोगों ने नक़ल करना ही अपना धर्म समझ रक्खा है। वह हर चीज़ को नए रंग में देखना चाहते हैं। वह पुरानी बातों से या तो शरमाते हैं या उनको तुच्छ समझ कर टाल देते हैं। ऐसे लोगों के निकट नवीनता ही कविता का प्राण है।

दूसरा संप्रदाय

ये लोग इसकी तनिक भी परवाह नहीं करते कि उनकी रचना का कुछ प्रभाव पड़ता है या नहीं तथा देश की दशा के अनुकूल है या नहीं। इन लोगों ने अनुवादों से किताबों के बाज़ार को भर दिया है और वह भी बहुत बेढंगेपन से केवल बिक्री के लिए ऐसा उद्योग किया गया है। इन अनुवादों में बड़ी त्रुटि यह है कि अशुद्ध और अप्रामाणिक होने के अतिरिक्त वह अच्छी पुस्तकों के अनुवाद नहीं होते. किंतु, ऐसी पुस्तकों के भाषांतर होते हैं, जो साधारण लोगों को प्रिय हों, जैसे रेनालड्स की किताबों के अनुवाद। फिर उस पर अंधेर यह है कि बहुधा अनुवाद मूल से नहीं किए जाते, बल्कि अनुवाद के अनुवाद होते हैं, जिससे उनकी मौलिकता बिल्कुल नष्ट हो जाती है। इस अनुवाद और रद्दी पुस्तकों के अनुवाद के प्रेम के साथ एक नया ढंग चला है, जिसको अंग्रेज़ 'जोरनलीज़' कहते हैं अर्थात् ऐसी अपूर्ण भाषा जो न पूर्णतया विचारों को प्रकट कर सकती है और न भाव के सूक्ष्म भेद को शब्दों द्वारा दिखा सकती है। यह दशा उन किराए के उपन्यास लेखक टट्टुओं की है, जिनकी रद्दी और हानिकारक पुस्तकों से बाज़ार भरा हुआ है तथा जल्दबाज़ समाचार पत्र के संपादकों का यही हाल है। पुरानी शैली के त्याग करने का यह अर्थ नहीं है कि वर्णन शैली भड़कीली हो और वाक्य समूह चू-चू का मुरब्बा बन जाय। साहित्यिकों को इस बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि अपेक्षाकृत कुरूपता को सौंदर्य से, भद्देपन को सुचारु संगठन से तथा कोलाहल को सुरीले संगीत से उत्तम न समझें।

तीसरा संप्रदाय

यह मध्यम श्रेणी का महत्वपूर्ण दल है, जो नई-पुरानी दोनों शैलियों के गुणों का ध्यान रखते हुए दोनों का सम्मिश्रण करना चाहता है। यद्यपि ये लोग वर्तमान काल में हैं, परन्तु पुरानी परंपरा को अच्छी तरह से

जानते हैं और उसका आदर करते हैं। लेकिन अपने विचार अपने ही वातावरण से प्राप्त करते हैं। इसीलिए उनमें मौलिकता है। इनका आशय वही है, जो प्राचीन यूनानी देवमाला के अनुसार जेसन की थी, जो एक सुनहली भेड़ी की खोज में देश-विदेश मारा फिरता था। ये लोग भी अपने किसी प्रिय विचार के अनुसंधान में देश-विदेश के साहित्य और कविता का अध्ययन करते हैं। उनको ऐसा व्यापारी न समझना चाहिए जो एक देश से माल ख़रीद कर दूसरे देश में बेच डालता है, बल्कि ये लोग ऐसी कविता के सृजन करने वाले हैं, जिसके लिए कच्ची सामग्री (जैसे रुई आदि) अपने देश से लेते हैं और उससे नये और सुन्दर वस्त्र बुनते हैं। वे अपने और अपनी जाति के हृदय को तृप्त करने के लिए मानो अपना ही अमृत तुल्य पेय तैयार करते हैं। वे पुराने समय को समझते हैं और उससे प्रेम करते हैं, लेकिन अपने समय का भी आदर करते हैं और भविष्य की रुकावटों से नहीं डरते। इस संप्रदाय के प्रसिद्ध कवियों और गद्य लेखकों में हाली, आज़ाद, शरर, सरशार, सुरूर, महम्मद इस्माइल, अकबर इलाहाबादी, डाक्टर इक़बाल और हज़रत मोहानी इत्यादि को समझना चाहिए, जिनमें से कुछ का संक्षिप्त वर्णन आगे किया जाता है। इन लोगों ने नई-पुरानी दोनों शैलियों के गुणों का संचय कर लिया है और उन्हीं पर भविष्य की उन्नति निर्भर है।

ख़्वाज़ा अलताफ़ हुसैन उपनाम 'हाली' सन् १८३७ ई० में पानीपत में पैदा हुए। वह अंसारियों के एक कुलीन घराने के थे। ननिहाल भी सैयदों के एक प्रतिष्ठित घराने में थी और पिता की ओर से उनके मूल पुरुष ख़्वाज़ा मलिक अली थे, जो अपने समय के एक प्रसिद्ध विद्वान थे। वह ग़ाया-

हाली १८३७ ई०-१९१४ ई०

सुद्दीन बलबन के समय में हिरात से इस देश में आए और उनके निर्वाह के लिए कुछ गांव पानीपत के निकट बादशाह ने दे दिए थे; और पानीपत का क़ाज़ी बना दिया था। वह बाज़ार-दर भी निश्चित करते थे और दोनों ईद की निमाज़ पढ़ाते थे। अलताफ़ हुसैन के पिता ख़्वाज़ा ईज़िद बख़्श दरिद्रता के साथ अपना जीवन व्यतीत करते थे। उनके पिता कुछ पागल से थे, अतः उनकी शिक्षा और दीक्षा का भार उनके बड़े भाई और बहन पर पड़ा। उस समय की प्रथा के अनुसार पहले उन्होंने .कुरान कंठस्थ किया। फिर सैयद जाफ़र अली मीर ममनून देहलवी के भांजे से फ़ारसी पढ़ी। तत्पश्चात् उन्होंने मौलवी इब्राहीम अंसारी से जो लखनऊ से शिक्षा प्राप्त करके गए थे अरबी पढ़ना आरंभ किया। अभी उनकी शिक्षा समाप्त नहीं हुई थी और वह सत्तरह वर्ष के भी नहीं हुए थे कि उनकी इच्छा के विरुद्ध उनका विवाह कर दिया गया। लेकिन शिक्षा की उत्कंठा से तथा इसलिए कि उनकी स्त्री की देख-रेख करने वालों की आर्थिक दशा अच्छी थी, वह एक दिन चुपके से घर छोड़ कर सन् १८५४ ई० में दिल्ली भाग गए। वहाँ मौलवी निवाज़िश अली से जो एक प्रसिद्ध अध्यापक और धर्म प्रचारक थे, साल-डेढ़ साल तक अरबी पढ़ते रहे। उस समय वह व्याकरण न्याय और छंद शास्त्र के अच्छे ज्ञाता हो गए थे। फिर सन् १८५५ में अपने संबंधियों के आग्रह से पानीपत लौट गए और वहां पुस्तकों का अध्ययन करते रहे। सन् १८५६ में ज़िला हिसार की कलक्टरी में नौकरी कर ली, लेकिन १८५७ के ग़दर से फिर पानीपत चले गए और न्याय और दर्शन शास्त्र की पुस्तकों के साथ हदीस और तफ़सीर (.कुरान के भाष्य) पढ़ते रहे। सारांश यह कि तीन-चार वर्ष पानीपत में रहने के पश्चात् ज़िला बुलंदशहर के जहांगीराबाद के रईस नवाब मुस्तफ़ा ख़ां उपनाम शेफ़्ता से उनकी भेंट हो गई और उनके मुसाहब हो गए।

नवाब साहब बड़े विद्वान और प्रसिद्ध कवि थे। उर्दू में 'शेफ़ता' और फ़ारसी में 'हसरती' उनका उपनाम था। यह विषय विवादास्पद है कि हाली कविता में नबाव साहब के भी शिष्य हो गए थे या नहीं, लेकिन इसमें संदेह नहीं कि हाली ने उनकी नौकरी और सत्संग से बहुत कुछ लाभ उठाया। उनके लिखित पद्य से प्रकट होता है कि शेफ़ता को अपनी कविता दिखलाया करते थे :—

'हाली सख़ुन में शेफ़ता से मुस्तफ़ीज़ हूँ।'
शागिर्द मीरज़ा[1] का मुक़ल्लिद हूँ मीर[2] का।'

जहाँगीराबाद के कवि-मंडल, नवाब साहब के सत्संग और वहां के निश्चित जीवन से कविता का अंकुर जो बहुत दिनों से मुरझा रहा था, फिर पल्लवित हो गया और अब हाली अपनी ग़ज़लें ग़ालिब के पास संशोधन के लिए दिल्ली भेजने लगे। वह शेफ़ता के बेटों के लगभग आठ वर्ष तक अध्यापक भी रहे। तत्पश्चात वह भाग्य परीक्षा के लिए लाहौर गए, जहां उस समय दिल्ली से ग़दर से भागे हुओं को शरण मिला करती थी। वहां उनको गवर्नमेंट बुक डिपो में नौकरी मिल गई, जिसमें उनको शिक्षा विभाग की अंग्रेज़ी से उर्दू में अनूदित पुस्तकों की लेखन-शैली का संशोधन करना पड़ता था। इस काम से अंग्रेज़ी विचार और उसकी वर्णन शैली से उनकी जानकारी हो गई, अतः प्राच्य कविता और रचना की व्यर्थ बातों का सम्मान उनके हृदय में कम हो गया और उसी के साथ अपनी भाषा और कविता में भी उसी प्रकार लिखने का विचार हुआ। इस जगह पर लगभग चार वर्ष रहे होंगे कि फिर वहां से दिल्ली लौट आए जहां उनको एंग्लो-अरेबिक स्कूल की टीचरी मिल गई। लाहौर में क्वीन्स कालेज में भी वह आठ महीने टीचर रह चुके थे, लेकिन वह जगह उनको पसंद न आई। दिल्ली में सर सैयद अहमद खां से उनकी

---
[1] ग़ालिब। [2] मीर तक़ी।

भेंट हुई, जिनकी प्रेरणा से उन्होंने प्रसिद्ध मुसद्दस लिखा। जब वह अरबी कालेज में टीचर थे, सर आसमाँजाह हैदराबाद से अलीगढ़ आए हुए थे, जिनसे सर सैयद ने उनका परिचय कराया और उन्होंने उनकी साहित्यिक सेवा के उपलक्ष में पचहत्तर रुपया महीना निज़ाम सरकार से नियत करा दिया। पीछे जब हाली अलीगढ़ कालेज के डिप्यूटेशन के साथ हैदराबाद गए तो उक्त वेतन सौ रुपया मासिक हो गया। नौकरी से विश्राम लेने के बाद हाली पानीपत में रहने लगे और पुस्तक लेखन में अपना समय बिताने लगे। सन् १९०४ में उनको सरकार से 'शम्सुल उलमा'[1] की उपाधि मिली। सतहत्तर वर्ष की आयु में उन्होंने सन् १९१४ में शरीर त्याग कर दिया।

हाली पुराने समय के स्मरणीय लोगों में थे। बड़े सुशील, मिलनसार, सहनशील और अपने जाति के सच्चे शुभचिंतक थे। सांसारिक अभ्युदय का उनको कभी ध्यान न था। उनका जीवन एक सच्चे साहित्य-सेवी का जीवन था, जिसने लिखने-पढ़ने के आगे सांसारिक मान-मर्यादा को तुच्छ समझा। अपनी जाति की सहानुभूति उनके हृदय में भरी हुई थी, पर उनमें सांप्रदायिक भेद-भाव न था।

हाली की कविता का आरंभ दिल्ली से हुआ था, जब वह अपने घर से छिपकर वहां चले आए थे। वह ग़ालिब के पास बहुधा आया-जाया करते थे और उन्हीं के शिष्य हो गए थे। इसी बीच में वह मुशायरों में भी सम्मिलित होते थे और कविता की बारीकियों को ग़ालिब से सुलझाते थे। ग़ालिब भी उनकी प्रतिभा को देख कर उनका बहुत आदर करते थे। दिल्ली से जहांगीराबाद आए

हाली की कविता और उस पर ग़ालिब और शेफ़ता का प्रभाव

[1] यह संस्कृत में महामहोपाध्याय के समान है।

(हिन्दी अनुवादक)

तो शेफ़ता के सत्संग से उनकी कविता प्रौढ़ हो गई और यहीं से उन्होंने उसकी शैली को बदला। अब उनको पुराने ढर्रे की बातों से घृणा हो गई। सीधे-सादे शब्दों में मनोभावों को प्रकट करना उनको पसंद आ गया। ग़ालिब से वह अब भी अपनी कविता का संशोधन कराते थे, फिर भी शेफ़ता का प्रभाव उनकी उस समय की रचना में बहुत कुछ पाया जाता है।

नवाब साहब के देहांत के पश्चात् वह लाहौर चले गये, पर वहाँ उनका मन नहीं लगा। वहाँ, जैसा कि बतलाया गया है, अंग्रेज़ी उर्दू अनुवादों से उनका साहित्यिक दृष्टिकोण बहुत बदल गया। वह अँग्रेज़ी कविता को बहुत सराहने लगे। उनकी सफ़ाई और ऊँचे विचार उनको बहुत पसंद आए और उन्हों ने सोचा कि यही सब चीज़ें हमारे देश की कविता में आ जायं।

उसी समय लाहौर में सन् १८७४ में मौलाना महम्मद हुसैन आज़ाद ने एक साहित्यिक सभा स्थापित की थी, जिसके संरक्षक वहां के शिक्षा विभाग के डाइरेक्टर कर्नल होल रायड थे। उसमें मुशायरे होते थे, पर वह दूसरे प्रकार के थे अर्थात् उनमें कोई तरह[1] का मिसरा नहीं होता था, बल्कि लोग अपनी-अपनी स्वतंत्र कविता पढ़ा करते थे। हाली भी उस सम्मेलन में भाग लेते थे। अतः उनकी चार कवितायें 'वर्षा ऋतु', 'निशाते-उम्मीद', 'मनाज़रा रह्मो इंसाफ़' और 'हुब्बे वतन' उसी ज़ल्से में पढ़ी गई थीं, जिनकी श्रोताओं ने बहुत प्रशंसा की थी।

ग़ालिब और शेफ़ता के प्रभाव के विषय में ऊपर लिखा गया है।

---

[1] जैसे कवि सम्मेलनों में समस्या पूर्ति की जाती है, वैसे ही मुशायरों के लिए पद्य के एक चरण की घोषणा कर दी जाती है। उसी छन्द और उसी प्रकार के अनुप्रास में लोग अपनी ग़ज़लें लिखकर सुनाते हैं। इसी को 'मिसरा-तरह' कहते हैं।
(हिन्दी अनुवादक)

अब सर सैयद के प्रभाव में लिखा जाता है। सर सैयद उस समय मुसलमानों को सचेत करने और उनके सुधार में लगे हुए थे। उन्होंने हाली की अभिरुचि को देख कर उनसे मुसलमानों के पतन के विषय में एक कविता लिखने की प्रेरणा की। उसी पर 'मुसद्दस हाली' नामक पुस्तक की रचना हुई जो छपते ही सर्वप्रिय हो गई। उसी ढंग पर बहुत लोगों ने लिखने का उद्योग किया, लेकिन किसी को सफलता न हुई। इससे हाली एक जातीय कवि के रूप में प्रसिद्ध हो गए। इसके बाद उन्हों ने दिल्ली की तबाही और हकीम महमूद खां का मरसिया उसी रंग में लिखा, जिसमें मुसलमानों के अभ्युदय और फिर उनके ह्रास का चित्र बड़ी सफलता के साथ अंकित किया है, जिससे वह एक सुधारक और उपदेशक प्रसिद्ध हो गए। वह अपने सहधर्मियों को प्रबल और प्रभावशाली शब्दों में उत्तेजित करते थे कि अब समय आ गया है कि मुस्तैद होकर अपनी जाति को ऊपर उठाने की चेष्टा करें। उनका यह उपदेश केवल मुसलमानों ही के लिए नहीं, किंतु सच पूछिए तो समस्त देशवासियों के लिए था।

सर सैयद का प्रभाव

कुलीन स्त्रियों के संबंध में उनकी कविता 'चुप की दाद' और और 'मुनाजाते-बेवा' बहुत ही प्रभावशाली और हृदयग्राही है। अंतिम समय में उनके पद्य दार्शनिक और गहरे होते थे जैसा कि उनके तरकीब बन्द 'तुहफ़तुल अखवान' से प्रकट है।

हाली की पद्य-रचनाओं की सूची इस प्रकार है :—

रचनायें

(१) मसनवियों में मनाज़रा 'तअस्सुब व इंसाफ़', 'रह्मो इंसाफ़', 'वर्षा ऋतु', 'निशाते उम्मीद' और 'हुब्बे वतन' (२) मुसद्दस हाली (३) शिक़वा हिंद (४) कुल्लियाते हाली, जिसमें उनका दीवान और एक भूमिका शेरो शायरी का है (५) मुनाजाते बेवा और

मुप की दाद (६) ग़ालिब और हकीम महमूद खां के मरसिये (७) मज़मूआ नज़्म फ़ारसी।

हाली की मसनवियां बहुत ही सर्वप्रिय हुईं, यहां तक कि कुछ-कुछ तो यूनिवर्सिटियों के कोर्स में ले ली गई हैं। इनकी लेखन प्रणाली बहुत स्पष्ट और अत्युक्ति तथा अलंकार से रहित हैं, जिनमें नैतिक शिक्षा बहुत प्रभावशाली और चित्ताकर्षक ढंग से दी गई है। कहीं-कहीं प्रश्नोत्तर के रूप में भी है, जिसमें प्रत्येक पक्ष की अच्छाई और बुराई बड़ी कुशलता तथा ऐतिहासिक हवालों के साथ वर्णन की गई है, जैसे मसनवी 'रह्मो इंसाफ़' (दया और न्याय) में दोनों के गुण और अवगुण दिखलाये हैं और उसका निर्णय बुद्धि पर छोड़ दिया है, जिसने यह व्यवस्था दी है कि दोनों एक दूसरे के लिए आवश्यक और एक दूसरे के सहायक हैं। मसनवी वर्षा ऋतु में वर्षा के लाभ, पर्वतों और मैदानों में हरे बिछौने का बिछ जाना और समस्त जीवधारियों में एक विशेष प्रकार के उमंग और नवीन जीवन का संचार होना इत्यादि का वर्णन किया गया है। इसकी भाषा बड़ी सरल और लेखन-शैली स्वाभाविक है, जिसमें व्यर्थ अत्युक्ति और दुरूह उपमायें और रूपक नहीं हैं। यह उस ढंग की प्रारंभिक रचना है, जिसमें अंत में वह पारंगत हो गए थे। अलबत्ता यदि पुराने कवियों के दृष्टिकोण से देखा जाय तो ये कवितायें भाषा और कल्पना की दृष्टि से उच्चकोटि की नहीं हैं, लेकिन इससे किसी को इंकार नहीं हो सकता कि ये उस शैली के पथ-प्रदर्शक हैं, जिससे लोगों के हृदय में अब यह बात पैठती जाती है कि साधारण घिसे-घिसाए विषयों के अतिरिक्त कविता में कुछ और भी है, जिसको कवि पद्यबद्ध कर सकता है।

मसनवी

मौलाना हाली की यह सब से अधिक सर्वप्रिय और प्रसिद्ध

रचना है। यह एक नया युग उत्पन्न करने वाली पुस्तक है। इसका महत्व अब भी वैसा ही है, जैसा कि पहले था। यह मानो एक दैवी पुस्तक है। इसको विकास का इतिहास और उर्दू साहित्य में एक सीमाचिह्न अथवा उल्लेखनीय रचना समझना चाहिए। यह एक नवीन नक्षत्र है जो उर्दू कविता के क्षितिज पर उदय हुआ है। इससे इस देश में राष्ट्रीय कविता का सूत्रपात हुआ और इसने यह सिद्ध कर दिया कि ऐसी प्रभावशाली और वेदना सूचक कविता के लिए मुसद्दस बहुत ही उपयुक्त है।

मुसद्दस

इस में इसलाम के प्राचीन वैभव, पुराने मुसलमानों के महत्वपूर्ण कार्य, उनके ऊँचे विचार और महत्वाकांक्षा तथा विपरीत उसके वर्तमान काल में उनका पतन और शिथिलता का वर्णन है। यह पुस्तक बूढ़े, जवान सभी के हृदय पर प्रभाव डालती है। इसका इतना प्रचार हुआ जितना कि किसी उर्दू पुस्तक का नहीं हुआ। हिंदुस्तान का हर पढ़ा-लिखा मुसलमान इससे परिचित है, बल्कि कुछ लोगों ने तो इसको कंठस्थ कर लिया है। इस पुस्तक में बड़ा गुण यह है कि पुराने समय की अच्छाइयों और वर्तमान काल की बुराइयों को साथ-साथ दिखलाया गया है। इस में अरब के अंधकार युग की दशा, उस प्रायद्वीप का दुनिया के अन्य सभ्य देशों से अलग-सलग रहना, वहां के लोगों का तुच्छ-तुच्छ बातों पर लड़ना-झगड़ना उनकी धर्मांधता, असहिष्णुता, मूढ़ता तथा मूर्ति-पूजा इत्यादि का बहुत ही सच्चा वर्णन किया गया है। फिर इसी दशा में पैग़ंबर इसलम का प्रादुर्भाव, उनके प्रचार के प्रारंभिक फल, ईश्वर-उपासना की घोषणा, विद्या का प्रसार, अत्याचार का मूलोच्छेदन और नैतिक सुधार इत्यादि का उल्लेख है और यह बतलाया गया है कि इन्हीं गुणों के अभाव से आजकल के मुसलमान विपत्ति में फँसे हुए हैं,

जिनका वृत्तांत पुस्तक के अंत में विषद रूप से लिखा गया है। इसमें इसलाम की उन बहुमूल्य सेवाओं की चर्चा है, जो उसने विद्या और कला के द्वारा दुनिया में की है। फिर उनके नगर-निर्माण और देशाटन का वर्णन है कि वह अपने देश से निकल कर सुदूर स्थानों जैसे स्पेन और हिन्दुस्तान तक पहुँच गए थे। लिखा है :—

'हिमालय को हैं वाक़यात उनके अज़बर।
निशाँ उनके बाक़ी हैं जबरालटर पर॥

सर सैयद अहमद खां ने इस पुस्तक के विषय में यह लिखा था :—'यह कहना बिल्कुल मुनासिब होगा कि इस किताब ने हमारी सनफ़ नज़्म में एक नया दौर पैदा कर दिया। इसकी इबारत की .खूबी सफ़ाई और रवानी की जिस क़दर तारीफ़ की जाय कम है। यह अम्र कुछ तआज्जुब .खेज़ नहीं कि इतना मुहतिम बिश्शान मज़मून इस क़दर वाक़ीयत की पाबंदी के साथ और बिला इग़राक़ मुबालग़ा, तमसील और इस्तआरा के जो हमारी शायरी की जान और शायरों का ईमान है और फिर इस क़दर मुअस्सर और सलीस और फ़सीह तरीके. से बयान किया जाय। उसके बहुत से बन्द तो ऐसे हैं कि उनको पढ़ कर सख़्त से सख़्त दिल के लोग भी बग़ैर आँसू बहाए नहीं रह सकते, क्यों न हो जो चीज़ दिल से निकलती है, वह ज़रूर दिल में घर करती है।

शिकवा[1] हिन्द और क़सीदा ग़यासिया भी उक्त मुसद्दस के ढङ्ग पर लिखे गए हैं अर्थात् इन में भी वही इसलाम के अतीत भव्य और वर्तमान अधोगति का वर्णन है; अर्थात्

[1] इसका उत्तर बयान यज़दानी ने 'रुख़सत उरूस' के नाम से लिखा है। हाली ने हिन्दुस्तान की शिकायत की है कि उसने हमको .खराब किया। यज़दानी ने स्वयं अपनी शिकायत की है कि हमने इस देश को नष्ट किया।

(हिन्दी अनुवादक)

शिकवा-हिन्द विषय-त्याग की जगह भोग-विलास, सादगी की जगह आराम तलबी, वीरता की जगह कायरता तथा तत्परता के स्थान में शिथिलता का उल्लेख है। इसके चित्रों का रंग कहीं-कहीं अधिक चोखा और तेज़ हो गया है, परंतु इसलिए कि सोये हुए लोग चौंकें और उनकी दीर्घ निद्रा भंग हो।

ग़ालिब और हकीम महमूद खां के मरसिए भी बहुत प्रभावशाली और प्रशंसनीय हैं। पहला विशेषतया बड़ा ही वेदनापूर्ण है। मालूम होता है मानो कवि का शोक और व्यथा

मरसिए पद्य में मूर्तिमान हो गई है और सच्ची भावुकता से भरी हुई है। विशेषता यह है कि वह अत्युक्ति से रहित है, जो प्राच्य कविता का प्राण है। सच तो यह है कि केवल यही रचना हाली की कीर्त्ति के लिए प्रयाप्त है।

हकीम महमूद खां के मरसिया में भी मुसद्दस के ढंग में दिल्ली की तबाही और मुसलमानों के अध:पतन का वर्णन है।

यह छोटी सी पुस्तक हमारी समझ में मुसद्दस और शिकवा से भी अधिक सर्वप्रिय है। इसका छंद दोहे का है। यह पुस्तक उस समय लिखी गई थी, जब देश भर में सामाजिक

मुनाजात बेवा सुधार के लिए आवाज़ उठ रही थी। बंगाल में विद्यासागर विधवा विवाह के लिए उद्योग कर रहे थे। इस कविता में कवि ने विधवाओं की करुणा-पूर्ण दशा का ऐसे ढङ्ग से वर्णन किया है कि पढ़कर या सुनकर हृदय विदीर्ण हो जाता है। इसका अनुवाद इस देश की अनेक भाषाओं में हो गया है, जिसमें संस्कृत भी है।[1]

---

[1] इसका अनुवाद संस्कृत पद्यों में पं० भीमसेन शर्मा मुख्य अध्यापक महाविद्यालय ज्वालापुर ने किया था जो भारतोदय नामक पत्रिका में प्रकाशित हुआ था। (हिन्दी अनुवादक)

इस पुस्तक में स्त्रियों के गुणों और उनके कर्तव्य का वर्णन है, जिसको हैदराबाद के एक बड़े ज़लसे में हाली ने पढ़कर सुनाया था, जिसके सभापति महाराजा सर किशन प्रसाद थे। यह भी, जैसी कि उनकी शैली थी, बड़ी सीधी-सादी कविता है। विशेषता यह है कि इसमें सांप्रदायिक भेद-भाव की गंध नहीं है।

चुप की दाद

इसके आरंभ में शेरो शायरी पर एक विस्तृत प्रस्तावना है, जिस में कविता की मीमांसा बड़ी योग्यता के साथ की गई है। इसमें नई पुरानी ग़ज़लें, रुबाई, क़सीदे, तरकीब बन्द और तारीखें इत्यादि सब कुछ हैं। क़िर्तों में प्रायः नैतिक विषयों को कहानी या प्रश्नोत्तर के रूप में वर्णन किया है। कोई-कोई क़िते तो वस्तुतः प्रौढ़ और गहरे विचारों से ओत-प्रोत हैं। ग़ज़लें सब से अधिक हैं, जिनमें उलझे हुए विचार नहीं हैं। नई शैली की ग़ज़लों में पुरानी शैली के परिवर्तन का आरंभ मालूम होता है। ये सब ग़ज़लें भावुकता से भरी हुई हैं, कुछ शेरों में कोई विचार या शृङ्खला-बद्ध घटना का वर्णन है। रुबाइयाँ विविध विषयों पर बहुधा नैतिक और उपदेशात्मक हैं और उनमें बहुत सी उपयोगी बातें प्रभावशाली और ओजस्वी शब्दों में वर्णन की गई हैं, जिनका बहुत आदर हुआ है। उनका भाषांतर अंग्रेज़ी में मिस्टर जी० ई० वार्ड ने किया है। क़सीदों में पुराने ढंग के विपरीत केवल किसी की प्रशंसा ही भड़कीले शब्दों में नहीं की गई, बल्कि उनको अपने कर्तव्य और उत्तरदायित्व से भी सूचित किया गया है, जिसका उदाहरण निज़ाम के अभिषेक का क़सीदा है।

दीवान हाली

इसमें कविता के तत्व की विवेचना की गई है और पद्य के ऊँचे आदर्श का वर्णन है। इसके संबंध में प्राच्य और पाश्चात्य कवियों और समालोचकों की सम्मतियाँ उदाहरण

मुक़द्दमा शेरो शायरी सहित लिखी गई हैं। यह प्रस्तावना यद्यपि बड़ी योग्यता से लिखी गई है, फिर भी इस में कुछ ऊपरी बातें हैं। उनकी धारणा है कि उर्दू की ग़ज़लों और अन्य प्रकार की कविता में सुधार की आवश्यकता है। वह गज़लों में सौंदर्य और प्रेम के वर्णन को पसन्द नहीं करते, किंतु उनको ऊँचे स्थान पर देखना चाहते हैं, जिसमें विशुद्ध प्रेम का प्रकाशन हो। इसी प्रकार वह स्त्रियों के बनाव-शृङ्गार और शेख़ व ज़ाहिद (भक्त और उपदेशक) से छेड़-छाड़ के भी पक्ष में नहीं हैं।[1] ग़ज़ल का क्षेत्र विस्तृत होना चाहिए। उसमें न केवल शृङ्गार रस हो, बल्कि दार्शनिक—सूफ़ियाना और नैतिक विषय हों तथा प्राकृतिक, राष्ट्रीय और राजनैतिक बातों के लिए भी स्थान हो। भाषा, शब्द और मुहावरों की शुद्धता का ध्यान हो। इसी प्रकार अलंकारों और पद्य के वाह्य तड़क-भड़क की भी भरमार न हो। छंद क़ाफ़िया (तुक) और रदीफ़ (तुकांत) सरल और मधुर हों। मुसहफ़ी इंशा और शाह नसीर के ढंग के कठिन और बाज़ारी न हों। यथासंभव तो रदीफ़ को उड़ा देना ही चाहिए।[2]

हाली पहले कवि थे, जिन्हों ने मुसद्दस की तरह ग़ज़लों में जातीय कविता की है।

हाली का स्थान उर्दू साहित्य में विशेषतया बहुत ऊँचा है। सब

---

१ इस पर उर्दू अनुवादक ने यह नोट लिखा है कि मौलाना हाली का तात्पर्य यह था कि केवल दो सूरतों में शेख़ व ज़ाहिद पर आक्षेप करना चहिए। एक तो यह कि जिनको उन लोगों से विरोध हो, दूसरे उनकी त्रुटियां और बुराइयों को दूर करने के लिए।

२ इस पर भी उक्त अनुवादक का नोट है कि हाली का कहना यह है कि रदीफ़ ऐसी हो जो क़ाफ़िये से मेल खाती हो। धीरे-धीरे ऐसी ग़ज़लें कम लिखना चाहिये और इस समय तो केवल क़ाफ़िये पर सन्तोष करना चाहिए।

से पहले उन्हों ने ग़ज़ल और क़सीदा में नए रंग का संचार किया। मुसद्दस के महत्व को सिद्ध किया और मुसलमानों के अधःपतन की चर्चा ग़ज़ल और मुसद्दस में किया। जन्म-भूमि (भारत माता) पर पद्य लिखे। पुराने ढर्रे की कविता पर जिनमें बनावट और अस्वाभाविक अधिक थीं, कुठाराघात किया। विचारों की समता का ध्यान रक्खा और लेखन शैली को व्यर्थ बातों से रहित किया। उन्हों ने राजनैतिक विषयों पर भी कविता की।

हाली का साहित्य

सारांश यह कि आज़ाद के साथ हाली को भी नवीन शैली का प्रवर्तक समझना चाहिये। उनकी रचना की विशेषताएँ ये हैं :—

नेचर (प्रकृति) का अनुकरण, अत्युक्ति से घृणा, सादगी और सफ़ाई, भावुकता और प्रभाव। उनकी लेखन शैली सरल और जल्द समझ में आने वाली है। अलंकारों का उपयोग बहुत कम और सावधानी के साथ किया है। बेजा आत्म-प्रशंसा और अपनी विद्वता प्रकट करने से दूर रहे।

हाली ने कहीं-कहीं छंद शास्त्र के नियमों का उल्लंघन किया है। शब्दों और मुहावरों की शुद्धता का ध्यान नहीं रक्खा। अपरिचित अंग्रेज़ी शब्द कहीं-कहीं लिख गए हैं। शायद इसलिए कि उनकी रचना में एक विशेषता पाई जाय। कभी तो उनका विचार बहुत ऊँचा देख पड़ता है और कभी तुकबंदी के दल-दल में फँस कर रह गया है। एक सुधारक और नेशनलिष्ट की हैसियत ने भी कहीं उनकी कविता को नीरस कर दिया है। लेकिन फिर भी उनके काव्य कौशल पर कोई धब्बा नहीं आता। निस्संदेह वह जिस तरह जातीय और राष्ट्रीय कविता के आविष्कारक हैं, वैसे ही प्राकृतिक दृश्य और नेचुरल कविता में भी उनकी रचना अनुपम है ; और उनका यह

हाली की त्रुटियाँ

उपकार कभी न भूलेगा कि उन्हों ने उर्दू कविता को उस कूड़ा-करकट और अनैतिक हानिकारक चीज़ों से पवित्र कर दिया, जो उसमें बहुत दिनों से घुसी हुई थीं और उसमें एक नए जीवन का संचार कर दिया। सारांश यह कि यदि वह उर्दू कवियों की अग्र श्रेणी में न भी गिने जायं तो सब से बड़े उपकारक अवश्य समझे जायँगे।

शम्सुल उल्मा मौलवी महम्मद हुसैन आज़ाद को नई शैली का प्रवर्तक और उर्दू साहित्य का आविष्कारक समझना समुचित है।

मौलाना महम्मद हुसैन आज़ाद

यह वर्तमान काल के बहुत बड़े साहित्यिक, सुप्रसिद्ध गद्य लेखक, नामी समालोचक, शिक्षा प्रणाली के बहुत बड़े ज्ञाता और प्रसिद्ध समाचार पत्र लेखक थे। इन गुणों के अतिरिक्त नवीन फ़ारसी के पूरे उस्ताद और भाषा विज्ञान के जानकार थे। उनकी सेवाएँ और उपकार उर्दू भाषा पर अधिक हैं। उर्दू कविता में इस रंग का देने वाला और उसमें नए जीवन का संचार करने वाला यदि सचमुच कोई कहा जा सकता है तो वह आज़ाद ही थे। वह स्वतः बहुत बड़े साहित्यसेवी थे। उनका कुछ संक्षिप्त वर्णन अगले गद्य विभाग में किया जायगा, जिससे उनका विशेष संबंध है। यहाँ उनकी कविता के विषय में कुछ चर्चा की जाती है।

आज़ाद जन्म-सिद्ध कवि थे। उनका गद्य भी इतना रोचक और कवित्व विचारपूर्ण है कि पद्य से कम नहीं है। उनके पिता ज़ौक़ के मित्र थे। अतः आज़ाद भी लड़कपन ही से पिता के साथ ज़ौक़ के यहां आया-जाया करते थे और उनके सत्संग से लाभ उठाते थे।

आज़ाद की कविता

उनके साथ दिल्ली के बड़े-बड़े मुशायरों में जाते थे, जहां बड़े-बड़े उस्तादों की रचना के गुण-दोष की जानकारी का अवसर मिलता था। ज़ौक़ भी नवयुवक आज़ाद की अभिरुचि को देख कर उनको बहुत

चाहते थे। इसी वातावरण में आज़ाद को भी कविता का शौक़ पैदा हो गया। सन् १८५७ का जब ग़दर हुआ तब दिल्ली की दशा उथल-पुथल हो गई। साहित्यिक लोग निर्वाह के लिए इधर-उधर तितर-बितर हो गए। लाहौर दिल्ली के निकट था, अतः वहीं आज़ाद राय बहादुर मुंशी प्यारेलाल, पं० मन फूल मौलवी सैयद अहमद, करीमुद्दीन और हाली चले गए। पंजाब में उस समय कर्नल हालराइड शिक्षा विभाग के डाइरेक्टर थे, जो फ़ारसी और उर्दू के अच्छे ज्ञाता थे। उन्हीं के संकेत से आज़ाद ने एक साहित्य गोष्टि 'अंजुमन पंजाब' के नाम से खोली। उसके अधिवेशन मासिक हुआ करते थे। उसका उद्देश्य था कि उर्दू कविता में अतिशयोक्ति, उपमा और रूपक का जो ढेर लगा हुआ है, वह निकाल दिया जाय और मुशायरों में मिसरा तरह का रिवाज बंद कर दिया जाय, जिससे कवि गण विविध विषयों पर अपनी कविता पढ़ा करें। इससे पहले आज़ाद ने व्याख्यान और कुछ रोचक पद्यों के द्वारा कुछ लोगों को इस नवीन शैली के अनुकरण के लिए तैयार कर लिया था। मई सन् १८७४ में उक्त सभा के उद्घाटन के अवसर पर उन्होंने अपने अभिभाषण द्वारा उर्दू कविता के दुर्गुणों, जैसे पुनरुक्ति, अत्युक्ति की भरमार, व्यर्थ रूपक और अलंकार, बनावट और अस्वाभाविक बातों का वर्णन इत्यादि का खोल कर वर्णन कर दिया था; और कवियों को सचेत कर दिया था कि यदि उर्दू कविता का पुनरुद्धार चाहते हो तो प्रेम और रूप के ढकोसलों को त्याग करके कविता रूपी वधू को अँधेरी कोठरी से निकाल कर नई रोशनी में लाओ। सादगी, स्वाभाविकता और प्रभावशीलता, हिंदी भाषा से और सीधा वर्णन, तथा विस्तृत-अवलोकन, योरपीय साहित्य से सीखो।

आज़ाद ने जैसा प्रचार किया उसी के अनुसार अनुष्ठान भी किया। उन्होंने नवीन शैली की अनेक छोटी-छोटी मसनवी और कुछ

आज़ाद की पद्यात्मक रचनाएँ

पद्य लिखे। ज़ौक़ के मरने पर वह हकीम आग़ा जान ऐश को अपनी कविता संशोधनार्थ दिखलाते थे और दिल्ली के मुशायरों में सुनाते थे। कहा जाता है कि उस समय की उनकी सब रचनाएं ग़दर के उपद्रव में नष्ट हो गईं। उसके बाद उनको जींद की रियासत में एक जगह मिल गई थी। वहाँ वह सलाम, मरसिया, रुबाइयाँ, ग़ज़लें और क़सीदे लिखते रहे। उसका कुछ भाग उनके बेटे मौलवी महम्मद इब्राहीम ने सन् १८९९ में 'नज़्मे आज़ाद' के नाम से प्रकाशित कर दिया है। लाहौर के सन् १८७४ के उक्त मुशायरे में उन्होंने अपनी नए ढंग की कविता 'शबेक़द्र' के नाम से पढ़ी थी, जिसमें रात्रि का आगमन और संध्या की समाँ का वर्णन है। पुराने ढर्रे के लोगों ने इस नवीन परिवर्तन का बहुत विरोध किया, जिसका प्रभाव नई उमंग वालों पर तो न पड़ा, लेकिन इतना अवश्य हुआ कि वह मुशायरा एक वर्ष से अधिक न चल सका। लेकिन आज़ाद अपने उद्देश्य से विमुख नहीं हुए और कुछ न कुछ नए रंग की कविता करते रहे। कभी-कभी वह उर्दू पद्य अंग्रेज़ी पद्य के ढंग पर लिखते थे, जो अंग्रेज़ी का अनुवाद तो नहीं होता था, बल्कि उसके भाव को उर्दू के साँचे में ढाल दिया था, जैसे उनकी कविता 'उलुल अज़मी के लिए कोई सिद्द राह नहीं' (व्यग्र उत्साह के लिए कोई रुकावट नहीं है) जो वस्तुतः टेनेसन के 'इक्सेल सियर' के ढंग पर है। इसी नए रंग की उनकी और कवितायें मसनवी 'शराफ़त हक़ीक़ी', 'मारफ़त इलाही', 'सलाम अलेक', 'जैसे चाहो समझ लो', 'जुग़राफ़िया तबई की पहेली', 'एक तारे का आशिक़' और 'मिहनत करो' नाम की हैं।

आज़ाद भी पहले उसी पुराने ढंग की कविता करते थे, जो उनके संग्रह मजमूआ नज़्मे आज़ाद के अंत में ग़ज़ल और क़सीदों के रूप में

आज़ाद की नई और पुरानी शैली

हैं, पर उनमें भी कुछ पद्य रोचक, ओजस्वी और सूफ़ियाना रंग के हैं, जिनको भविष्य की नई शैली की नीव समझना चाहिए।[1]

नए ढग की मसनवियों में 'शबेक़द्र' उनकी सर्वश्रेष्ठ रचना है, जिसमें विविध लोगों के रात के कार्य-कलाप का बड़ा सुन्दर वर्णन है, जिसका कुछ नमूना नीचे दिया जाता है।

तालिब इल्म (विद्यार्थी)

हैं मद्रसे के तालिबे-इल्म अपने हाल में।
कल सुबह इम्तहाँ है, सो इसके ख़याल में॥
मिल मिल के याद करते हैं आपस में दूर से।
पढ़ते जुदा-जुदा भी हैं कुछ फ़िक्रो ग़ौर से॥
कर लें जो कुछ कि करना है शब दरमियान है।
कल सुबह अपनी जान है और इम्तहान है॥
जी छोड़ बैठे मर्द यह हिम्मत से दूर है।
क़िसमत तो हर तरह है पे मिहनत ज़रूर है॥

महाजन

और वह जो लखपती है महाजन जहान में।
आधी बजी है पर वह अभी है दुकान में॥
गिंती में दाम-दाम के है दम दिए हुए।
बैठा है गोद में बही खाता लिए हुए॥
है सारे लेन देन की मीज़ां तमाम की।
लेकिन ग़ज़ब है विध नहीं मिलती छदाम की॥

शायर (कवि)

इस तरिह शब में शायरे रोशन दिमाग़ है।
बैठा अँधेरे घर में जलाए चिराग़ है॥

डूबा है अपने सर को गरीबां में डाल के।
उड़ता मगर है खोले हुए पर खयाल के॥
लाता फ़लक से है कभी तारे उतार कर।
जाता ज़मीं के तह में है फिर ग़ोता मार कर॥
पढ़ता है ज़र्रा-ज़र्रा पे अफ़सूं नए-नए।
हो जाते हैं वही दुरे मज़मूँ नए-नए॥
मज़मून ताज़ा गर कोई इस आन मिल गया।
यों खुश है जैसे नक़्शे सुलैमान मिल गया॥
इस तरिह शब्र के पर्दे में शायर जो चोर है।
फिरता टटोलता हुआ मानिन्द कोर है॥
मतलब उड़ाता शेर से मज़मूँ ग़ज़ल के है।
लाता फिर ऐसे ढब से लिफ़ाफ़ा बदल के है॥
तारीफें उसकी करते हैं जो शेर सुनते हैं।
मज़मूँ लिया है, जिनका वह सिर बैठे धुनते हैं॥

अपने विषय में

आलम है अपने बिस्तरे राहत के ख्वाब में।
आज़ाद सर झुकाए .खुदा के जनाब में॥
फैलाए हाथ सूरते उम्मीदवार है।
और करता सिद्क़ दिल से दुआ बार-बार है॥
मुझ को तो मुल्क से है न है माल से ग़रज़।
रखता नहीं ज़माना के जंजाल से ग़रज़॥
खोटा अगर ज़बाँ का है दिल का खरा तो है।
इतना ज़रूर है कि जरा मसखरा तो है॥

(२) मसनवी हुब्बे वतन दूसरे ढंग की है। इसमें अपने उद्देश को कुछ सच्ची और कुछ कल्पित घटनाओं से सिद्ध किया है।

(३) मसनवी ख्वाबे-अमन बहुत ही ओजपूर्ण है, जिसमें यह दिखलाया गया है कि हर प्रकार की सामाजिक उन्नति केवल शांति ही के समय में हो सकती है।

(४) मसनवी अब्र करम में इस देश की वर्षा ऋतु का वर्णन है।

(५) सुबह उम्मीद नामक मसनवी में यह दिखलाया है कि दुनिया के विविध कारोबार जैसे कृषि, व्यापार, देशविजय और शिक्षा इत्यादि में आशा ही काम करती है और उसी पर सफलता निर्भर है।

आज़ाद, हाली के समान कविता के लोलुप न थे। उनकी रचना भी कविता संबंधी त्रुटियों से मुक्त नहीं है। हाली सर सैयद की प्रेरणा से और स्वयं अपनी अभिरुचि से एक जातीय कवि हो गए, और इसलाम के अधःपतन के राग को अपनी ओजस्वी रचना में अलापा। आज़ाद में इस प्रकार की कोई विशेषता न थी।

आज़ाद और हाली की तुलना

आज़ाद साहित्यिक स्वभाव के आदमी थे। वह बहुत बड़े गद्य लेखक और कवि होने के अतिरिक्त एक प्रसिद्ध शिक्षानीतिज्ञ, पत्रकार और समालोचक भी थे। उन्हों ने समय की गति देखकर अपनी रुचि को जो उस समय फैली हुई थी, नए रंग में बदला और इसी क्षेत्र में उन्हों ने नाम पैदा किया। उनके काव्य संग्रह से पाया जाता है कि वह पद्य की अपेक्षा गद्य को अधिक आवश्यक समझते थे और इसी में अपने देशवासियों का लाभ समझते थे। उनके मनोभावों और उद्गार का निरूपण जितना गद्य में हुआ, उतना पद्य में नहीं हो सका। उनके गद्य में पद्य का आनंद आता है।

महम्मद इसमाइल १८ नवंबर सन् १८४४ को पैदा हुए। मेरठ के निवासी थे। सोलह वर्ष की अवस्था में शिक्षा विभाग में नौकर हुए। थोड़े दिनों के बाद फ़ारसी के हेड मौलवी हो

मौलवी महम्मद इसमाइल गए। पहले सहारनपुर फिर मेरठ में बहुत दिनों तक रहकर सन् १८८८ ई० में आगरे के नारमल स्कूल में बदल गए, जहां से सन् १८९९ में पेंशन ले ली और अपने घर में आकर पुस्तक रचना करने लगे। उनकी साहित्यिक सेवाओं के उपलक्ष में उनको खां साहब की उपाधि सरकार से मिली थी। अंत में पहली नवंबर सन् १९१७ को उनकी मृत्यु हो गई।

जब वह आगरे में थे तब उन्हों ने अपनी रीडरें और प्रायमरें लिखीं, जो बहुत दिनों स्कूलों के कोर्स में चलती रहीं। ये पुस्तकें बहुत सादा, स्पष्ट और रोचक लिखी गई हैं जो बच्चों की समझ के लिए बहुत उपयोगी हैं। इस मामले में उन्हों ने इस प्रांत में वही काम किया जो आज़ाद ने पंजाब में किया था, बल्कि एक तरह से इन्हों ने उन से भी बढ़कर यह काम किया। इन सब पुस्तकों की भाषा बड़ी सरल और विषय संचय बहुत ही उत्तम है। सच पूछिए तो इनके जोड़ की किसी प्रांत में ऐसी पुस्तकें नहीं बनीं।

मौलवी साहब कवि और गद्य लेखक दोनों थे और सादगी और सफ़ाई के उस्ताद थे। कविता में नई और पुरानी शैली दोनों में हर प्रकार की रचना की है अर्थात् शृङ्गार रसात्मक, राजनैतिक, नैतिक, सामाजिक और प्राकृतिक इत्यादि।

मौलाना शिबली कहा करते थे कि हाली के पश्चात् यदि किसी ने कुछ सुनने योग्य कहा है तो वह इसमाईल ही हैं।

उनकी रचना का संग्रह सन् १९०१ में प्रकाशित हुआ था। उसमें कहीं-कहीं तसौवफ़ की भी छटा पाई जाती है और प्रतिभा तथा कविता पर अधिकार तो उनके प्रत्येक शब्द से प्रकट है।

मौलवी साहब का तसौवफ़ की ओर भी झुकाव था और वह हज़रत ग़ौस अलीशाह पानीपती के मुरीद (शिष्य) थे।

उनके नई शैली के पद्य बड़े सुंदर हैं और वे आजकल की नेचुरल कविता के पथ प्रदर्शक है। ब्लैंक वर्स अर्थात् अतुकांत कविता भी उन्होंने लिखी है, जिसमें बड़े अच्छे ढंग से अपने विचारों का प्रदर्शन किया है। कुछ कहानियां भी उन्होंने पद्य में लिखी हैं, जिनका बहुत ही अच्छा नैतिक परिणाम निकाला गया है। आगरे के क़िले के संबंध में उनकी एक प्रसिद्ध कविता है, जिसमें उन्हों ने मुसलमानों के प्रारंभिक उत्कर्ष का समय दिखाकर वर्तमान उन्नति का मार्ग बतलाया है। वह उर्दू का कोष और व्याकरण नए ढंग से लिखना चाहते थे, जिनकी पांडु लिपि सुरक्षित है। आशा की जाती है कि कभी प्रकाशित हो जायगी अंत में वह अमीर .खुसरो की रचनाओं की आलोचना और उनकी जीवनी लिख रहे थे। क़िरातुल सा‍ेन तक लिख चुके थे कि मृत्यु ने आकर उनका काम रोक दिया। यह भी सुना जाता है कि उर्दू साहित्य का भी एक इतिहास लिखने वाले थे, लेकिन वह भी मन ही मन में रह गया।

'मेरे मन कुछ और है कर्ता के मन और'

सारांश यह कि मौलवी साहब का, वर्तमान काल के कवियों और गद्य लेखकों में, बहुत ऊँचा स्थान था तथा नवीन और प्राचीन दोनों शैली के सम्मिश्रण थे।

मुंशी दुर्गा सहाय उपनाम 'सुरूर' को भी उर्दू कविता की नवीन शैली का एक स्तंभ समझना चाहिए। वह उन लोगों में थे, जिन्हों ने नई शैली की ओर सब से पहले राह

सुरूर जहानाबादी

दिखलाई। जहानाबाद ज़िला पीलीभीत के निवासी थे। सन् १८७३ में पैदा हुए। कविता की ओर उनकी स्वाभाविक रुचि थी; और नए-पुराने दोनों ढंग के सम्मिश्रण थे;

वह ले लीं, शेष छोड़ दीं। जैसे पुरान कावया का वदन। आर प्रभाव

और ऊँची उड़ान, संक्षिप्त शब्दावली, नए-नए विषय तथा जन्म-भूमि का प्रेम बहुत सुंदरता के साथ उनकी रचनाओं में मिला-जुला है और वर्तमान काल की साधारण नीरस बातों और पुराने समय के अश्लील छेड़-छाड़ से उनकी कविता रहित है। स्वच्छ शब्दों के साथ ऊँची कल्पना और पवित्रता मिली हुई है।

सुरूर को कविता से बहुत ही अनुराग था, बल्कि यह कहना चाहिए कि वह उसी में तल्लीन थे। उनकी प्रत्येक बातों से कवितत्व टपकता था, जैसा कि बहुधा कवियों की दशा थी। वह बड़े स्वतंत्र स्वभाव के औला-मौला आदमी थे। आज उनको कल की चिंता न थी और इसी लिए वह कष्टमय जीवन व्यतीत करते थे, लेकिन इससे उनके कवितत्व पर कोई आघात नहीं पहुँचता था। वह धार्मिक कट्टर-पन से बिल्कुल रहित थे। उनको वाह्य आडंबर का ज़रा भी शौक़ न था बल्कि उनका जीवन बेपरवाही और निश्चिंता का नमूना था। उनमें छल-कपट लेश मात्र न था। अतः उनका दुर्गुण भी गुण ही मालूम होता था। उनमें सब से बड़ा ऐब सुरापान का था, लेकिन इससे भी ग़ालिब की तरह उनकी कविता और विचारों की उड़ान में सहायता मिलती थी। दुःख के साथ कहना पड़ता है कि इस बुरी आदत के कारण उनके होनहार और आदरणीय जीवन का असमय अर्थात् केवल सैंतीस वर्ष की अवस्था में सन् १९१० में अंत हो गया।

(१) उनकी कविता की सब से बड़ी विशेषता भाव चित्रण तथा वेदना और प्रभाव है। इस रंग में वह अपने समय में अद्वितीय थे।

उनकी कविता के विशेषण

मीर तक़ी की तरह उनके स्वभाव में भी निराशा और दुख-दर्द कूट-कूट कर भरा हुआ था, इसी लिए उनकी रचना उनके मनोभावों का दर्पण होता था। उनकी इस प्रकार की

रचनाएँ 'दोबारे-कुहन', 'हसरते शबाब', 'अंदोहे .गुरबत', 'मुर्ग़ाने क़फ़स', 'यादे तिफ़ली' 'बुलबुल का फ़िसाना', 'हसरते दीदार', और 'मातमे आरज़ू.' इत्यादि हैं।

(२) दूसरी विशेषता उनका देशानुराग था। इसमें भी वह अनुपम थे। लेकिन वह किसी दल के पक्ष में न थे, बल्कि उनको इस देश का राष्ट्रीय कवि कहना चाहिए। उनका संबोधन केवल हिंदुओं से न था, बल्कि पूरी जनता से। उनकी इस प्रकार की रचनाएं 'ख़ाके वतन', 'उरुसे हुब्बे वतन', 'हसरते वतन', 'यादे वतन, और 'मादरे हिन्द' इत्यादि हैं। पिछली कविता बा० बंकिमचंद चटरजी के 'वन्देमातरम्' का भाषांतर है। इन सभी में स्वदेश प्रेम का सच्चा जोश और ऊँचे विचार भरे हुए हैं। इनके अतिरिक्त कुछ शृङ्गार रस के पद्य इसी ढंग के हैं जैसे 'फ़िसाना गुलो बुलबुल' और 'शमा व परवाना' इत्यादि।

(३) इसके बाद उनकी ऐतिहासिक और धार्मिक कविताएँ हैं। वे भी विशुद्ध भाव, सचाई, स्वच्छता, पद्य-प्रवाह से परिपूर्ण हैं। इस प्रकार की रचनाएं 'पद्मनी', 'पद्मनी की चिता', 'सीता जी की गिरियो ज़ारी' (विलाप), 'महाराजा दशरथ की बेक़रारी (विकलता)', 'यमुना' 'गंगा', 'प्रयाग का संगम', 'सती', 'नूरजहाँ का मज़ार (समाधि)', हसरते दीदार', और 'नल दमयंती' हैं जो सब ऊँचे विचारों तथा वेदना और तड़प से सराबोर हैं। इनमें गंगा और यमुना विशेषतया सराहनीय हैं, जो कविता के गुणों के अतिरिक्त भावुकता और प्रभाव से ओत-प्रोत हैं। यमुना में तो विशेषतया हिंदुओं के प्राचीन ऐतिहासिक संकेत बहुत रोचक हैं।

(४) सुरूर की चौथी विशेषता, जो उनको समकालीन कवियों से प्रथक् करती है, वह यह है कि उन्हों ने उर्दू पद्य में हिंदी शब्दों को ऐसा खपाया कि उसकी शोभा बढ़ गई, विशेष कर धार्मिक रचनाओं

में पुराने ठेठ हिंदी शब्दों का ऐसी कुशलता के साथ समावेश किया है कि पद्य का आनंद दुगना हो गया है। ऐसे ही रामायण और अन्य हिंदुओं की पुस्तकों के कोई-कोई दृश्य बहुत ही ज़ोरदार लिखे हैं, जो हिंदुओं के हृदय पर बहुत ही प्रभाव डालते हैं।

सुरूर का अँग्रेज़ी भाषा का ज्ञान परिमित था, केवल हाईस्कूल तक पढ़े हुए थे, लेकिन वह अनुवाद करने में निपुण थे। अतः उन्होंने

अँग्रेज़ी पद्यों के अनुवाद

अंग्रेज़ी कविता के भाषांतर किए हैं। यद्यपि वे शाब्दिक नहीं हैं, फिर भी उनमें मूल का आनंद आ जाता है। उनकी इस प्रकार की कवितायें बीस से कम नहीं हैं। उन्होंने किसी अंग्रेज़ी पद्य को लेकर अपने ढंग से उसको आवरण पहनाया है। उनकी इस प्रकार की कवितायें 'मुर्ग़ाबी', 'तराना ख्वाब', 'बच्चा और हिलाल (दूज का चाँद)' 'कारोज़ार हस्ती', 'उम्मीदे तिफ़ली', तथा 'मोसिम सरमा का आख़िरी गुलाब' इत्यादि हैं। ये सब अपने ढंग में बहुत ही उत्तम और चित्ताकर्षक हैं। ऐसी ही नेचुरल कविताओं में 'बीर बहोटी' और 'कोयल' को समझना चाहिए। सुरूर ने कुछ नैतिक पद्य भी लिखे हैं, लेकिन यह ध्यान रक्खा है कि कविता की शोभा, उपदेशात्मक रूखी-फीकी बातों से कम न हो। उनके इस प्रकार के पद्य 'ज़ने .खुशख़ू', 'बेसबाती दुनियां', और 'अदाय शर्म' इत्यादि हैं, जिन में ऊँचे विचारों को बड़े सुंदर ढंग से प्रकट किया है।

सुरूर बहुत बड़े होनहार कवि थे। वह इसी में दिन-रात डूबे रहते थे और बहुत जल्दी कविता करते थे। उन्हों ने मसनवी, ग़ज़ल, रुबाई, क़िता, तरजीय बन्द, और तरकीब बन्द इत्यादि सभी प्रकार की कविता की है, लेकिन मुसद्दस उनको बहुत पसंद थी और इसी में वह अपने विचारों का वेग दिखलाते थे।

सारांश यह कि उनकी रचनाओं में भाव व्यंजना, वेदना, प्रभाव, ऊंचे विचार, मधुर और प्रिय भाषा, मनोगत भावों का यथातथ्य निर्देश, बहुमुख विचार तथा विशाल अवलोकन इत्यादि सभी प्रकार की विशेषता है।

उनकी रचनाओं के दो संग्रह छपे हैं। एक 'ज़माना' प्रेस कानपुर से '.खुमख़ाना सुरूर' के नाम से, दूसरा इंडियन प्रेस इलाहाबाद से 'जामे सुरूर' नामक है। उनकी बहुधा कवितायें नष्ट हो गईं और इस से बढ़ कर खेद की बात यह है कि उनकी कुछ रचनाओं को लोगों ने कुछ देकर और कुछ यों ही हथिया लिया। उनकी मृत्यु के बाद जो पत्र प्रकाशित हुए हैं, उन से प्रकट होता है कि किसी ने उन से विविध विषयों पर लिखवा कर अपने नाम से प्रकाशित कर दिया है।

अकबर का व्यक्तित्व अपने समय में बहुत महान था। उन्हों ने एक नई शैली की नींव डाली, जो उन्हीं के साथ समाप्त भी हो गई, क्योंकि उसका अनुकरण असंभव था और किसी की वहां तक पहुँच नहीं हो सकी। वह एक अद्वितीय कवि होने के साथ जाति के उपदेशक और सूफ़ी भी थे। गद्य में पत्र भी बहुत रोचक लिखते थे। साथ ही साहित्य, समाज और शासन प्रणाली के समालोचक भी थे। फिर विनोद में तो उनकी कोई बराबरी नहीं कर सकता था।

अकबर इलाहाबादी

सैयद अकबर हुसैन रिज़वी १६ नवंबर सन् १८४६ को पैदा हुए। उनके माता-पिता की आर्थिक दशा अच्छी न थी। पहले उनको देसी मदरसा और सरकारी स्कूल में शिक्षा मिली। सन् १८६६ में मुख़तारी पास करके नायब तहसीलदार हुए। फिर सन् १८७० में हाईकोर्ट के पेशकार हो गए। सन् १८७२ में कानून पास करके सन् १८८० तक वकालत करते रहे। फिर वह मुंसिफ़ हो गए और बढ़ते-

बढ़ते डिस्ट्रिक्ट जजी तक पहुँच कर पेंशन ले ली। इसी बीच में सरकार से उनको 'ख़ानबहादुरी' की उपाधि मिली। इलाहाबाद यूनीवर्सिटी के '.फेलो' भी थे। सितम्बर सन् १८२१ में उनकी मृत्यु हो गई।

अकबर का व्यक्तित्व

अकबर बड़े सुशील, प्रफुल्ल-चित्त, हँसमुख और मिलनसार थे। वह अपने समाज के प्राण समझे जाते थे। जो मित्र उनसे मिलने आते थे, उनको सभ्यतापूर्ण हंसी-दिल्लगी और चुटकुलों से प्रसन्न कर देते थे। उच्चा-चरण, भद्रता, सरलता, सहानुभूति और अतिथि-सेवा उनकी विशेषता थी। लेकिन उनमें इतना नैतिक बल न था, कि जिस बात का उनको निश्चय था, उसको उसी तरह से वह प्रकट करते, जैसी उनके व्यक्तित्व को देखते हुए उनसे आशा की जाती थी।

बहुधा उन्हों ने पालिसी का सहारा ढूँढा है। जो पत्र उन्हों ने ख़्वाज़ा हसन निज़ामी, अज़ीज़ लखनवी, मुंशी दया नरायन निगम, अहसन मारहवरी और अपने अन्य मित्रों को लिखे थे, उनसे उनकी असलियत प्रकट हो जाती है।

उन्हों ने कुछ ऐसी बातें भी कही हैं जिनकी उनसे आशा नहीं की जा सकती थीं, लेकिन वह केवल इसलिए कि वह अपने को और दूसरों को संकट में नहीं डालना चाहते थे। वह सुन्नी थे पर शियों से उनको कोई विरोध नहीं था। इसी प्रकार यद्यपि वह एक पक्के मुसलमान थे, लेकिन धार्मिक कट्टरपन से वह कोसों दूर थे। अंत में वह रोग-ग्रस्त होकर कुछ आत्मीय वियोग के शोक में फँस गए थे। अपनी स्त्री[1] और "प्रिय पुत्र हाशिम की मृत्यु का उन पर

[1] अकबर ने अपनी स्त्री का नाम 'अकबरी बेगम' और अपने निवास-स्थान का नाम, अपने पुत्र इशरत हुसैन की संगति से 'इशरत मंजिल' रक्खा था अतः अपनी

बहुत प्रभाव पड़ा। इस पर उन्हों ने निम्न लिखित क़िता पद्य-बद्ध किया था।

'वह चमन ही मिट गया जिस में कि आई थी बहार।
अब तुम्हें पाकर मैं ऐ वादे बहारी क्या करूँ॥

बज़्म इशरत में बिठाना था जिसे, वह उठ गया।
अब मैं ऐ फ़रदा, तिरी उम्मीद वारी क्या करूँ॥'

अकबर स्वाभाविक कवि थे। बचपने ही से उनको कविता का शौक़ था। उनकी प्रारंभिक कविता उनके संग्रह में है। पहले वह अपनी रचना ग़ुलाम हुसैन 'वहीद' को दिखलाते थे, जो आतिश के शिष्य थे। उसी समय अक़बर ने फ़ारसी-अरबी की शिक्षा समाप्त कर ली थी, जो उनको आगे चल कर बहुत सहायक हुई। नौकरी की दशा में उन्हों ने अंग्रेज़ी पढ़ी और उसमें उन्हों ने अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। अकबर ने अपनी कविता पाँच युगों में विभाजित की है।

अक़बर की कविता

इस समय की रचना पुराने ढंग की है, जिसका उस समय प्रचार था। यह समय उनके नौसिखएपन का समझना चाहिए, जिसमें उन्हों ने लखनऊ और दिल्ली के प्रसिद्ध कवियों के अनुकरण में उसी ढंग की ग़ज़लें लिखीं और बहुधा मुशायरों में पढ़ीं। उन में वही निश्चित विषय हैं, जिन पर लोग प्रायः कविता किया करते थे। उन में कहीं-कहीं शृङ्गार रस बहुत सफ़ाई और सादगी के साथ मौजूद है, उस समय की कविता से आगे

पहला युग : आरंभ से १८६६ तक

पत्नी की मृत्यु पर यह पद लिखा था :—

'हाय अकबर की अकबरी न रही। बज़्मे इशरत की वह परी न रही॥'

(हिन्दी अनुवादक)

उन्नति का चिह्न पाया जाता है, यद्यपि उस में कुछ बनावट अवश्य है।

इस युग में उनकी रचना में भावुकता और सचाई अधिक पाई जाती है। उनके शेरों में वास्तविकता स्पष्ट है। सफ़ाई और मार्जन भी अधिक है। रचना की झाड़-पोंछ, निश्चय रूप से प्रकट है। साधारण प्रथा के विषय कम हो गए हैं, लेकिन बिल्कुल त्याग नहीं दिए गए। बनावट की जगह असलियत आ गई है। उनका व्यक्तित्व परंपरागत प्रथा की सीमा को तोड़ रहा है। प्रतिभा पुराना चोला उतार कर फेंक रही है। रचना में अधिक सावधानी देख पड़ती है। लेकिन ग़ज़लें अब भी उन्हीं के मन की हैं। सारांश यह कि इस युग में कला, विचार शैली और शब्द-विन्यास में स्पष्ट उन्नति पाई जाती है।

दूसरा युग
१८६६-१८८४

इस युग में बहुत उन्नति हुई। इसमें कवि को अपनी रचना पर पूरा अधिकार प्राप्त हो गया। अब वह टटोलते नहीं और न कहीं ठिठकते हैं, बल्कि साहसपूर्वक अग्रसर होते चले जाते हैं। अब उनकी रचना में पूरा उस्तादाना रंग आ गया। अनुभव और अभ्यास का समय समाप्त हो गया। रचना में नवसिखिएपन की झिझक और रुकावट न रही। ग़ज़लें अधिक हैं। विनोद की मात्रा भी अधिक है, जिसमें अभी वह बात तो नहीं है, जो आगे चलकर हुई। रचना में व्यंग का भी मिश्रण होता जाता है। ग़ज़लों से पुराना रंग हट गया है; और उनमें नैतिक-तत्व आ गया है। वर्णन शैली में नवीनता और विनोद पर अधिक ध्यान दिया गया है। उनमें आध्यात्मिक और तसौवफ़ के विषय का समावेश हो गया है। ग़ज़लें अपने ढंग, उद्देश्य और भाषा में तो

तीसरा युग
१८८४–१६०८

उसी प्रकार की हैं और उनमें ग़ज़ल के नियमों का उल्लंघन नहीं किया गया। इस युग के उनके पद्य उनके संग्रह की पहली और दूसरी जिल्द में हैं।

इस युग और पिछले युग की कविता में अधिक अंतर नहीं है। अब वह वस्तुतः 'लस्सानुल अस्र' (समय की जिह्वा) की पदवी के जल्दी ही अधिकारी हो गए। पुराने ढंग की ग़ज़लों की मात्रा कम हो गई और उनमें दार्शनिक-तत्व अधिक बढ़ गया। विनोद वैसा ही रहा, बल्कि और तीव्र हो गया; और उसी रंग में वर्तमान घटनाओं और पाश्चात्य सभ्यता पर बल-पूर्वक आलोचना की गई। बल्कि यह कहना अनुचित न होगा कि अब विनोद निरंकुश हो गया। नैतिक, आध्यात्मिक, दार्शनिक और राजनैतिक सभी प्रकार के रंग उनकी रचना में आ गए, लेकिन साथ ही शृङ्गार-रस भी उनमें मौजूद है। प्रेम की कानाफूसी अभी बंद नहीं हुई, पर वह राजनैतिक कोलाहल में मध्यम पड़ गई। अब अकबर अपनी कला के पूरे उस्ताद हो गए और उनकी रचना में प्रौढ़ता आ गई। विचारों की गति तरंगित हो गई। अब। नई-नई सूझ छंद संबंधी नियमों से दबती नहीं। विचारों के निदर्शन के लिए नए-नए रास्ते सामने आ गए और उनकी रचना नए-नए रोचक अनुप्रास तथा उसी प्रकार के रूपक और उपमाओं से विभूषित हो गई। तसौवफ़ की भी मात्रा बराबर रही। विनोद का साम्राज्य अब भी वैसा ही रहा।

चौथा युग
१६०६--१६१२

इस समय की रचना उनके संग्रह की तीसरी जिल्द में प्रकाशित की गई है। इस युग में शृङ्गार रस घट कर बहुत कम रह गया है। अब उनके पद्य राजनैतिक, नैतिक और आध्यात्मिक रंग में रँगे हुए हैं या फिर वही

पाँचवां युग

१६१२--१६२१ विनोद प्रकट है। इस युग में उनकी कविता उच्चतम स्थान पर पहुँच गई थी। कुछ लोग यह भी कहते हैं कि उनकी इस समय की कविता में वह लोच और उल्लास नहीं है, जितना पहले था और यह ठीक भी है। उनकी दीर्घ आयु ने उनको अधिक दार्शनिक बना दिया और वह तसौवफ़ में अधिक डूब गए। जीवन का अर्थ उन पर प्रकट हो गया। इस समय के उनके बहुधा पत्र इस योग्य हैं कि लोग उनके अनुसार अपने जीवन का नियम बना लें। इस युग में उन्होंने इतनी कविता की है कि उसके दो संग्रह बन सकते हैं। उनकी कुछ रचना गुप्त रक्खी गई है, जिनको वह प्रकाशित करना नहीं चाहते थे; क्योंकि उनमें विचार बहुत उग्र थे। उन्होंने मरने से कुछ पहले एक असहयोग का इतिहास 'गाँधी नामा' के नाम से लिखा था, लेकिन उसको भी प्रकाशित करना उन्हों ने उचित नहीं समझा, क्योंकि तत्कालीन परिस्थिति के अनुसार उसके प्रकाशन में उन्हों ने अपने को और दूसरों को संकट में डालना बुद्धिमानी नहीं समझा।

उनकी कविता के तीन संग्रह छपे हैं। दो तो उनके जीवन काल में और तीसरा उनके बाद उनके पुत्र ने प्रकाशित किया है। आशा है उनकी कविता का एक और संग्रह प्रकाशित होगा।

उनके पत्र

अकबर ने चिट्ठियां भी बहुत लिखी हैं। उन्हों ने जो पत्र ख़्वाज़ा हसन निज़ामी मुंशी दया नरायन निगम, अहसन मारहरवी, मिर्ज़ा महम्मद हादी, अज़ीज़ लखनवी और अब्दुल माजिद दरियाबादी के नाम लिखे थे, वे छप गए हैं। उनसे उनका स्वभाव और कुछ निजी बातें मालूम होती हैं और उनसे उनकी जीवनी के लिए प्रचुर सामग्री मिल सकती है।[१] ये चिट्ठियां बड़ी रोचक हैं, लेकिन ग़ालिब

१ अकबर की एक जीवनी उर्दू में सैयद तालिब अली एम० ए० इलाहाबा

के पत्रों की बराबरी नहीं कर सकतीं। अकबर कोई बड़े गद्य-लेखक नहीं थे। उनका कोई गद्य, सिवा इन चिट्ठियों और 'अवध-पंच' के कुछ लेखों के, और पठनीय नहीं है। 'अवध-पंच' ही से उन्होंने विनोदात्मक लिखना सीखा होगा।

सुसंगठन, सरलता, प्रवाह, ऊँचे विचार और उत्तम उपमायें अकबर की ग़ज़लों के प्राण हैं। दुनियां, उसके वैभव और उसके आनंद की असारता से उनकी ग़ज़लें परिपूर्ण हैं तथा यह दिखलाया गया है कि इन सब का फल कितना कड़ुवा होता है।

अकबर की ग़ज़लें

करुणा, शोक और निराशा भी उनमें बहुत है। लेकिन उनकी ग़ज़लों से उनकी ख्याति नहीं हुई। उनसे तो उनकी योग्यता का केवल एक ही अंग दृष्टिगोचर होता है। उनकी ग़ज़लों के कुछ चुने हुए पद्य आगे दिए जाते हैं[1]:—

पुराने रंग में

'लिखा हुआ है जो रोना मेरे मुक़द्दर में।
ख़याल तक नहीं जाता कभी हँसी की तरफ़॥
निगाह पड़ती है उन पर तमाम महफ़िल की।
वह आँख उठा के नहीं देखते किसी की तरफ़॥
यही नज़र है कि जो क़ातिले ज़माना हुई।
यही नज़र है जो उठती न थी किसी की तरफ़॥
हज़ार जलवए हुस्ने बुतां हों ऐ 'अकबर'।
तुम अपना ध्यान लगाए रहो उसी की तरफ़॥'

ने लिखकर प्रकाशित की है।

[1] इनमें और आगे वही पद्य लिखेंगे, जिनके समझने में हिंदी जानने वालों को अधिक कठिनाई न हो।

(हिन्दी अनुवादक)

मध्यम काल की रचना

"पैग़ाम आ रहा है दिले बेक़रार का।
क़ायम है सिलसिला मेरे अश्कों के तार का॥
शायक़ हुआ है बोसए दामाने यार का।
अल्ला रे हौसला मेरे मुश्ते ग़ुबार का॥
बाग़े जहाँ में कोई रविश बेख़लिश नहीं।
दौड़ाऊँ गुल पे हाथ तो खटका है ख़ार का॥
शम्सो क़मर को देखते हैं तुमको भूल कर।
क्या शोब्दा है गरदिशे लोलो निहार का॥'

अंतिम समय की रचना

'जब यह देखा कि जहाँ में कोई मेरा न रहा।
शिद्दते यास से मैं आप भी अपना न रहा॥
इसकी परवा न रही .खुश रहे दुनिया मुझ से।
आक़िलों में मेरी गिंती हो, यह सौदा न रहा॥
हैरत अफ़ज़ा है मेरा हाल मगर कौन सुने।
दीदनी भी है मगर देखने वाला न रहा॥
देखने की तो यह है बात रहा क्या उसमें।
आप अकबर से अबस पूछते हैं क्या न रहा॥'

निम्नलिखित रचनाओं का पद्य-प्रवाह देखिए :—

'है दो रोज़ा क़याम सराय फ़ना,
न बहुत की .खुशी है, न कम का गिला॥
ये कहाँ का फ़िसानए सूदो ज़ियाँ,
जो गया वो गया, जो मिला वो मिला॥
नज़र को हो ज़ौक़ मारफ़त का, करे तू शौक़ इज़तराब पैदा।
सवाल पैदा जो होंगे दिल में, उन्हीं से होंगे जवाब पैदा॥

काबे से जो बुत निकले भी तो क्या? काबा ही गया जब दिल से निकल।
अफ़सोस कि बुत भी हम से छूटे, क़ब्जे से .खुदा का घर भी गया॥'

अकबर विशेषतया अपने विनोद और व्यंग के लिए प्रसिद्ध हुए, जो उनके सुनहले पद्यों में चमकदार मोतियों के समान गुँथे हुए हैं।

अकबर का हास्य रस

आरंभ में उन्होंने यह रंग 'अवध-पंच' में लिखने से सीखा था। लेकिन वह बहुत जल्दी उसमें उन्नति कर गए। उनको बचपन ही से इस ओर लगाव था। लेकिन ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता गया और उन्होंने अपनी सोसाइटी की दशा देखी, त्यों-त्यों वह रंग बढ़ता गया और उसमें प्रौढ़ता आ गई। इस रंग ने उनकी चुलबुली तबीअत के लिए नए-नए रास्ते खोल दिए और उन्होंने इससे बड़े-बड़े उपयोगी काम लेना आरंभ किया। सच तो यह है कि इस शैली में वह अनुपम थे। यद्यपि बहुतों ने उनकी नक़ल करनी चाही, लेकिन कोई भी उन तक नहीं पहुँच सका। वह सच्चे विनोद और अभ्यस्त कवि-मस्तिष्क के सम्मिश्रण थे। उनकी तीसरे युग की रचना इस रंग में बहुत ही सफलतापूर्वक हुई है, जिसमें उन्हों ने बड़ी शक्ति और कुशलता के साथ ऐसे पद्य केवल विनोद के लिये लिखे हैं। लेकिन अंत में इस शैली में कुछ अंतर आ गया था अर्थात् हंसी-दिल्लगी के पर्दे में उन्होंने अनेक उपयोगी विषयों का प्रतिपादन किया। यद्यपि वह शिथिल हो गए थे, पर उनका कवि-मस्तिष्क बराबर अपना काम करता रहा। इस समय वह हास्य-रस को नैतिक, राजनैतिक, और आध्यात्मिक विषयों के प्रदर्शन के लिए एक प्रभावशाली साधन समझते थे। उनकी हंसी-दिल्लगी केवल हंसी-दिल्लगी न थी, किंतु उसके द्वारा उनका असली ध्येय सचाई की शिक्षा देनी थी।

अकबर के विनोद का विश्लेषण इस प्रकार है :—

(१) नई और ललित उपमाएँ तथा उदाहरण साधारण निरीक्षण

द्वारा चुने गए हैं, जिनका उपयोग इधर-उधर से नहीं, किंतु आस-पास के वातावरण मे नवीन अर्थ के साथ किया गया है।

(२) नए-नए विचित्र तुक और तुकांत हिंदी, अंग्रेज़ी और उर्दू से लिए गए हैं।

(३) साधारण शब्दों को ऐसे अनोखे ढंग से व्यवहृत किया गया है, जो उससे पहले कभी नहीं सुने गए थे।

(४) ऐसे मामूली और हल्के शब्द, जिनको कवियों ने प्रायः नहीं अपनाया था, उनको अकबर ने बड़ी चारुता और नवीन अर्थ में उपयोग किया है। उनकी रचना में इस प्रकार के इतने अधिक शब्द हैं कि उनका एक संक्षिप्त कोश तैयार हो सकता है; जैसे कल्लू, सल्लू, पीरू, बुद्धू, नसीबन और जुम्मन इत्यादि को नए-नए अर्थों में बड़ी कुशलता के साथ उपयोग करके उनको प्रभावशाली बना दिया है। इसी प्रकार अनेक बाज़ारू शब्द जैसे 'गिटपिट' (उलझी हुई अंग्रेज़ी) तथा फ़ालतू (अनावश्यक) इत्यादि मुहावरे, जो प्रायः कानों को कटु मालूम होते हैं और पद्य में नहीं खप सकते उनको उन्होंने ऐसी चातुरी के साथ ले लिया है कि उनसे पद्य का प्रभाव बढ़ जाता है। इसी तरह ऐसे भी शब्द हैं जो अन्य अर्थों में व्यवहृत हुए लेकिन अकबर ने उनको दूसरे अर्थ में प्रयुक्त किया है। अँग्रेज़ी शब्द भी ऐसे लिखे गए हैं, जो उर्दू में अभी तक प्रचलित नहीं हुए थे और रचना में बेमेल प्रतीत होते थे। उनकी काट-छांट में कोई रंगीनी अथवा गहरा अर्थ नहीं पैदा किया गया बल्कि लोगों के दिल बहलाव के लिए केवल हँसने-हँसाने का तात्पर्य था।

अकबर का विनोद केवल विनोद ही नहीं है, बल्कि उसकी तह में गहरे अर्थ होते हैं। उनके शब्द और अर्थ में सदैव चोली दामन का साथ होता है। उनका उपदेश कभी कटु नहीं मालूम होता और न वह साधारण है किंतु उसमें बहुत विस्तृत भाव होता है। उन्होंने

किसी विशेष व्यक्ति की हंसी नहीं उड़ाई, बल्कि उनके विनोद रूपी तीर सभी ओर चलते हैं। तत्कालीन घटनायें और राजनीतिक अवस्था उनकी रोचकता की विशेष चीजें थीं। पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली और लोगों के अँग्रेज़ी सभ्यता पर लट्टू होने के विषय में उन्होंने बहुत कुछ लिखा है। इसी तरह समाज की बुराइयों और शिक्षा-संबंधी तथा धार्मिक त्रुटियों पर भी मज़ाक उड़ाया है। अमीर-गरीब, पढ़े-बेपढ़े, हिंदू-मुसलमान, शिया-सुन्नी सब की ख़बर बिना किसी भेदभाव के ली गई है।

अकबर की विशेष परिभाषायें ये हैं। मिस, शेख़, सैयद, ऊँट, गाय, कलीसा (गिर्जा), मसजिद, मंदिर, बुत, कालेज, बरहमन, लाला और इसी प्रकार के अन्य शब्द, जो उनकी रचना में विशेष अर्थ रखते हैं। जैसे मिस से पाश्चात्य शिक्षा की ओर चित्ताकर्षण, शेख़ से पुराने ढर्रे के मुसलमान जो अंग्रेज़ी सभ्यता से अनभिज्ञ हैं, सैयद से सर सैयद अहमद खां जो अंग्रेज़ी शिक्षा और सभ्यता के अधिक लोलुप थे अथवा उनके अनुयायी जो अलीगढ़ कालेज की शिक्षा के प्रेमी, ऊँट से मुसलमानों का पुराना वैभव और गाय से हिंदू-मुसलिम एकता का तात्पर्य उन्हों ने लिया है। उनकी विनोद तथा व्यंगात्मक रचनाओं के कुछ नमूने नीचे दिए जाते हैं।

धर्म संबंधी

'बजाएं शौक़ से, नाक़ूस बरहमन, 'अकबर'।
यहां तो शेख़ को धुन है बिगुल बजाने की॥

मरऊब हो गए हैं विलायत से शेख़ जी।
अब सिर्फ़ मना करते हैं देसी शराब को॥

मुसीबत में भी अब यादे ख़ुदा आती नहीं उनको।
दुआ मुँह से न निकली पाकिटों से अर्ज़ियां निकलीं॥

शेख पर गोकि रश्क़ाता है अ। ऊँट के सब लग़ात जानते हैं ॥
हैं मगर ऊँट पर हमीं क़ाबिज़। काम की हम यह बात जानते हैं ॥

इसलाम की रौनक़ का क्या हाल कहें तुम से।
कौंसिल में बहुत सैयद मसजिद में बहुत जुम्मन ॥

ये बोले रोके 'पीरू' और 'गयादीन।
धरम दुनिया से उठा और गया दीन ॥

राजनीतिक

मुरीद उनके तो शहरों में उड़े फिरते हैं मोटर पर।
नज़र आते हैं लेकिन शेख जी अब तक मियाने में ॥

बाबू कहने लगे बजट पे लड़ो।
मुल्क को देखो अपने हक़ पे लड़ो ॥

कह दिया साफ़ हमने, ऐ महराज।
हो मुबारक तुम्हें यह काम यह काज ॥

मा, मुक़ीमाने कूए दिल्दारेम।
या डिपूटेशनस्त या ग़म मीम ॥

खींचो न कमानों को न तलवार निकालो।
जब तोप मुक़ाबिल हो तो अखबार निकालो ॥

ब्रिटिश की रियाया हैं लठ लेके जब उठेंगे।
जर्मन तेरी तोपों में हम बाँस चला देंगे ॥

कामयाबी का सुदेशी पर हरेक दर बस्ता है।
चोंच तोताराम ने खोली मगर परबस्ता है ॥

मेम्बर अली मुराद हैं या सुखनिधान हैं।
लेकिन मुआइने को •यही नाबदान हैं ॥

नई शिक्षा और सभ्यता

हम ऐसी कुल किताबें क़ाबिले ज़ब्ती समझते हैं।
कि जिनको पढ़ के लड़के [illegible] को खब्ती समझते हैं ॥

शौके लैलाए-सिविल सरविस ने, इस मजनून को।
इतना दौड़ाया लँगोटी कर दिया पतलून को ॥
तालीम जो दी जाती है हमें, वह क्या है? फ़क़त बाज़ारी है।
जो अक़्ल सिखाई जाती है, वह क्या है? फ़क़त सरकारी है ॥
न बाहम अदब है न वह मिहरबानी।
यही कहती फिरती है लड़के की नानी ॥
हरेक शाख में पास यह ऐ! बुआ है।
मेरा लाल कालेज का काका-तुआ है ॥

स्त्री शिक्षा और पर्दे के विषय में

तालीम लड़कियों को ज़रूरी तो है मगर।
खातूने खाना हों वह सभा की परी न हों ॥
हामिदा चमकी न थी इंगिलिश से जब बेगाना थी।
अब है शमए अंजुमन, पहले चिराग़े खाना थी ॥
तालीम लड़कियों से ये उम्मीद है ज़रूर!
नाचे दुल्हिन .खुशी से .खुद अपनी बरात में ॥
ज़ीइल्म, मुत्तक़ी हों जो हों उनके मुंतज़िम।
उस्ताद अच्छे हों मगर 'उस्ताद जी' न हों ॥
ग़रीब अकबर ने बहस पर्दे की, की बहुत कुछ, मगर हुआ क्या?
नक़ाब उलट ही दी उसने, कहकर कि कर ही लेगा मेरा, मुआ क्या?
नज़र में तीरगी है औ रगों में नातवानी है।
ज़रूरत क्या है पर्दे की, जहाँ बंबे का पानी है ॥
तरक्क़ी की नई राहें जो ज़ेरे आसमाँ निकलीं।
मियाँ मसजिद से निकले औ, हरम से बीबियाँ निकलीं ॥

हँसी दिल्लगी

अज़ानों से सिवा, बेदार कुन इंजन की सीटी है।
इसी पर शेख बेचारे ने छाती अपनी पीटी है ॥

कहां बाक़ी रहे अब हमने औरादे सहरगाही।
वज़ीफ़ा की जगह या 'पानियर' या आई.डी. टी[1] है॥
गए शरबत के दिन यारों के आगे अब तो ऐ अकबर।
कभी सोडा, कभी लेमनेड, कभी ह्विस्की, कभी टी[2] है॥
शेख़ जी घर से न निकले और यह फ़रमा दिया।
आप बी० ए० पास हैं, बंदा भी बीबी पास है॥
पका लें पीस कर दो रोटियां थोड़े से जौ लाना।
हमारी क्या है ऐ! भाई न मिस्टर हैं न मौलाना॥
अगरचे लोगों ने लिक्खा है हाल वादे वफ़ात।
मगर कोई भी नहीं कहता यक़ीनी बात।
जो ठीक बात थी वह हमको हो गई मालूम।
हमारे शेर की दुनियां में मच गई है धूम॥
बतायें आप से मरने के बाद क्या होगा?
पुलाव खाएँगे अहबाब फ़ातहा होगा॥

व्यङ्गात्मक पद्य

न निमाज़ है, न रोज़ा, न ज़कात है, न हज है।
तो खुशी फिर इसकी क्या है, कोई जंट कोई जज है।
डिनर से तुमको कब फ़ुरसत, यहां फ़ाक़ा से कब खाली।
चलो बस हो चुका मिलना, न तुम खाली न हम खाली।
शेख़ जी को जो आया गुस्सा। लगे कहने ये फेंक कर घुस्सा॥
तुम हो शैतान के मुतीओ मुरीद। तुमको हर एक जानता है प्लीद॥
है तुम्हारी नमूद बस इतनी। जिस तरह हो पड़ी परेड पे लीद॥

अकबर के इस प्रकार के पद्य दो तरह के हैं। एक तो तुच्छ और असार हैं। उनमें हँसी दिल्लगी पहले है और कुछ पीछे।

---

[1] इंडियन डेली टेलीग्राफ़। [2] चाय।

अकबर की राजनीतिक रचनायें

अर्थात् विनोदात्मक विचार समुचित भाषा में केवल विनोद के लिए व्यक्त किए गए हैं। जिनका तात्पर्य यह है कि लोग उनको पढ़ कर खूब खिलखिलाकर हँस पड़ें।

दूसरे प्रकार के वे पद्य हैं, जिनमें राज-शासन विषयक सचाइयाँ दिखलाई गई हैं, जिनमें उनका क्रोध और फटकार भी है। इनमें विनोद का रंग इसलिए दिया गया है कि सच्ची बात की कटुता दूर होकर कवि का आशय श्रोताओं के हृदयंगम हो जाय, जैसे डाक्टर चीनी में लपेट कर कुनैन की गोलियां रोगियों को दिया करते हैं। साधारण आदमियों के लिए वे केवल हँसने-हँसाने का काम देते हैं, पर जो लोग उनका स्वभाव जानते हैं, उनके लिए उनमें बहुत गहरा अर्थ होता है। लेकिन उनको समझने के लिए विचार की आवश्यकता है। ऐसी कविता में वह पाश्चात्य व्यवस्थाओं का भंडा फोड़ते हैं, कि ये सब प्राच्य आध्यात्मिकता के शिकार के लिए फंदे बिछाए गए हैं। राजनीतिक अधिकार दासता की बेड़ियों की कड़ियां हैं, जो भोले-भाले भारतीयों के फँसाने के साधन हैं। सरकारी स्कूल क्लर्कों को तैयार करने के कारखाने हैं, जिनसे दासता की प्रवृत्ति अधिक बढ़ाई जाती है और अँग्रेज़ी शिक्षा से गुलामी की जंज़ीर की कड़ियां अधिक कसती जाती हैं। ईसाइयों के इस लांछन के उत्तर में कि इसलाम तलवार से फैलाया गया, वह पूछते हैं कि क्या योरप अपनी तोपों से रुपया वसूल नहीं करता और प्रजा को गुलामी की जंज़ीर में नहीं जकड़ता?[1]

लेकिन यह उनकी निजी राय है, क्योंकि वह एक बड़े कवि तो अवश्य थे लेकिन राजनीतिज्ञ नहीं थे, न उनको इसकी शिक्षा मिली

---

[1] 'यह तो मालूम हुआ तेग़ से फैला इसलाम।
यह न मालूम हुआ तोप से फैला क्या है॥'

थी। वह एक सरकारी नौकर थे और विविध पदों पर योग्यता के साथ काम करके पेंशन पा गए थे और उसके उपलक्ष्य में उनको खान बहादुरी की उपाधि भी मिली थी। कवि होने से वह हर प्रकार का विचार कविता में प्रकट करते थे, चाहे वह उनका हो या किसी दूसरे का। उनको तो अपने ढंग से उसको व्यक्त करना होता था। वह कभी सरकार के पक्ष में और कभी उसके विरुद्ध लिखते थे। कवि होने से वह सरकार की पकड़ से निश्चिंत थे। उनके विचार किसी राजनीतिज्ञ के विचार नहीं कहे जा सकते। फिर उनकी उक्तियों में कहीं-कहीं पर स्वर विरोध भी है। यों तो वह बहुत सावधानी से काम लेते थे और ऐसी बात नहीं कहते थे जिसके परिणाम में वह संकट में पड़ें। वह पहले कवि थे, फिर कुछ और। वह किसी दल की निर्बलता को पकड़ते हैं और उसको अपने पद्य में संक्षिप्त विनोदात्मक ढंग से उपस्थित करते हैं। कभी वह मुसलमानों के इस पक्ष में हैं कि वे अंग्रेज़ी शिक्षा प्राप्त करें, और फिर दूसरी जगह वह इसके घोर विरोधी हैं कि इससे वे अपने धर्म से विमुख हो जाते हैं। वह नैतिक सिद्धांतों को किसी सुधारक या दार्शनिक की तरह विस्तार के साथ वर्णन करना नहीं चाहते बल्कि संक्षेप में रोचक ढंग से कह जाते हैं। लेकिन यही संकोच उनके विषय को अधिक सार्थक और ओजस्वी बना देता है। फिर शब्द-सचय में तो वह अद्वितीय थे ही, एक ही शब्द से अनेक अर्थ निकालते हैं जो जल्दी लोगों की समझ नहीं आते।

उनकी राय में तमाम राजनीतिक रोगों की जड़ इस देश की निर्बलता है। केवल चापलूसी, गिड़गिड़ाहट और रोने-चिल्लाने से कुछ लाभ न होगा। इसमें हमारी शक्ति और नष्ट होती है। इसी प्रकार कांग्रेस के उग्रदल की भी उन्हों ने खूब खबर ली है। ये सब विषय विचित्र रूपक, सूक्ष्म संकेत और ऊँचे दर्जे के विनोद के पर्दे में छिपे हुए हैं। साधारण पाठकों को तो वह दिल्लगी का पिटारा मालूम होते हैं,

लेकिन उनकी तह में गहरे अर्थ छिपे हुए हैं। उनकी कुछ रचनाओं पर सरकार को कानपुर के मसजिद के बलवे और पिछले योरप के महायुद्ध के समय में, उनको चेतावनी देनी पड़ी थी। उनके पद्य छोटे से बड़े, पढ़े, बेपढे सभी की जिह्वा पर थे, और लोग अपनी समझ के अनुसार उनका आशय निकाल कर आनंद उठाते थे। वह उर्दू और हिंदी दोनो भाषाओं के प्रेमी[1] थे और दोनों को बराबर पसंद करते थे। उनकी कुछ रचनायें इस बात की द्योतक हैं।

अकबर राजनीतिक और नैतिक क्षेत्र में एक जातीय कवि थे। वह अपनी जाति के लोगों को सचेत करते थे कि तुमने अपना जातीय आदर्श और जातीय विशेषता का त्याग कर दिया और पाश्चात्य रहन-सहन तथा पाश्चात्य शिक्षा में अनुरक्त हो गए। उनका विश्वास था कि अंत में अध्यात्मवाद की जड़वाद पर विजय अवश्य होगी। उनके विचार में राजनीतिक बुराइयों का इलाज ईश्वर और उनकी शक्ति पर भरोसा करना है।

अकबर द्वारा समाज की आलोचना

अकबर का जन्म उस समय हुआ था जब यह देश मानो नया जन्म ले रहा था। पाश्चात्य शिक्षा रूपी मदिरा का नशा हिंदुस्तानियों के सिर पर चढ़ चुका था, जिसके कारण वह अपनी मानसिक सभ्यता को खो बैठे थे। महान परिवर्तन देश भर में फैल चुका था। पाश्चात्य सभ्यता और उसके हर प्रकार के प्रभाव से लोगों की आंखें चकाचौंध हो गई थीं और लोग इतने

---

[1] लिखते हैं:—

'फ़र्क़ मानी नहीं उर्दू हो कि हिन्दी हो लुग़त।
माघ में धूप तलफ्फ़ुज़ न सही घाम तो है॥'

उनकी हिन्दी मिश्रित रचनाओं के नमूने देखिए:

योरोपियन स्वभाव के हो गए थे कि अंग्रेज़ बनने में बड़ा गर्व समझते थे। उनको इसी में आनंद आता था कि पुरानी सभ्यता और पुराने विचारों की हँसी उड़ाएँ। वह प्रत्येक हिंदुस्तानी चीज़ को तुच्छ समझते थे। योरोपियन नाम, योरोपियन वस्त्र, योरोपियन भोजन तथा योरोपियन रहन-सहन के बड़े लोलुप हो गए थे। अंग्रेज़ी बोलना तो बहुत बड़ी सभ्यता का चिह्न समझा जाता था। सारांश यह कि सभी योरोपियन चीजें उत्तम समझी जाती थीं। विजेताओं ने विजितों की बुद्धि, विवेक इत्यादि सभी पर अधिकार जमा लिया था। यहाँ तक कि पुराने रस्मो रिवाज और

'दरे दैर पर मैंने की दंडवत। भरी थी मेरे दिल में ठाकुर की पीत॥
किया शोर चेलों ने यह हर तरफ़। महाराज की जय, गुरूजी की जीत॥
हर तरफ़ से जो टूटती है आस। आदमी हर का नाम जपता है॥
गरमिए मौसिमे शबाब उफ़-उफ़। यह समझिए कि जेठ तपता है॥

अजब बे तमीज़ी है इस दौर की।
ज़माने को देख और 'शिव-शिव' पुकार॥

पपीहे को कहते हैं अब पी को छोड़।
ज़रूरत तरक्क़ी की है क्यु पुकार॥

खा पी के घर में बैठिए और गाइए भजन।
काशी से जल प्रयाग से अमरूद लीजिए॥

किसी को भी किसी से कुछ नहीं, इस बाब में झगड़ा।
करो तुम ध्यान परमेश्वर का, दिल में उसका दर्शन हो॥
मगर मुश्किल तो यह है, नाम सब लेते हैं मज़हब का।
ग़रज़ लेकिन यह होती है, जथा हो और भोजन हो॥

कल बिरगिड था जिनका बराती। उनके क़ब्र पे फूल न पाती॥
इबरत है यह दोहा गाती। सत्तर पूत बहत्तर नाती॥
जिन रावन के दिया न बाती॥

(हिन्दी अनुवादक)

धर्म का भी निरादर आरंभ हो चला था और योरप की प्रत्येक बातों का अनुकरण अंधों की तरह हो रहा था।

ऐसे विकट समय में कुछ दूरदर्शी लोग सचेत हुए और उन्होंने बड़ी सावधानी के साथ आगे आने वाले भय का अनुभव किया। उन्होंने दौड़ते हुए लोगों को जो बिना नकेल के ऊँट की तरह भागे हुए जा रहे थे, रोका और उनको मार्ग के भय से सचेत किया। बंगाल के सुप्रसिद्ध कहानी लेखक बंकिमचन्द्र चटरजी इसी प्रकार के लोगों में थे, जिन्होंने अपने ओजस्वी और रोचक उपन्यासों में अंग्रेज़ी सभ्यता और अंग्रेज़ी समाज की खूब धज्जियाँ उड़ाई हैं। जो काम उनकी कहानियों से निकला वह किसी उपदेश और आलोचना से नहीं हो सकता था। बात यह है कि बंगाल को अधिक हानि पहुँची, वहां धर्म परिवर्तन का अधिक ज़ोर हुआ।

अकबर ने भी यही मार्ग ग्रहण किया, लेकिन गद्य नहीं, पद्य द्वारा। उन्होंने लोगों की चाल-ढाल, उनकी बेवक़ूफ़ियों और मिथ्या विश्वास की खूब हँसी उड़ाई। लेकिन कहीं-कहीं वह चूक भी गए हैं। उन्होंने समय की गति का ध्यान न रखकर बहुधा पाश्चात्य सभ्यता को समूल नष्ट करना चाहा। वह समय के साथ चलना नहीं चाहते थे; और पाश्चात्य शिक्षा के स्थायी लाभ को नहीं मानते थे। शायद इसी अधिक प्राचीनता के पक्ष में होने के कारण पूरी जनता उनके साथ न थी और इसी से उनकी ख्याति पर कुछ प्रभाव पड़ा।[1]

उस नए परिवर्तन के समय में सर सैयद अहमद खां पहले आदमी थे, जिन पर पाश्चात्य सभ्यता के लाभ का अधिक प्रभाव पड़ा। वह समझते थे कि मुसलमानों की निद्रा भंग करने और उनको पतन के

---

[1] इस पर उर्दू अनुवादक ने यह नोट लिखा है कि अकबर पाश्चात्य सभ्यता के गुण के विरोधी न थे, अलबत्ता जब उसका संघर्ष धर्म से होता था तब वह उनका घोर विरोध करते थे और इसलिए उनकी कविता की ख्याति बराबर बनी रही।

गर्त से निकालने का यही एक साधन है। इसके विपरीत अकबर नवीन सभ्यता के पूरे अनुकरण और उसकी हर बात मानने से सहमत न थे। हमारी राय में उनका यह विचार, कि पाश्चात्य शिक्षा और सभ्यता पूर्णतया निकृष्ट और अनुकरणीय नहीं है, ठीक न था। समय की धाराप्रवाह गति को रोकना या उसके विरुद्ध चलना बुद्धिमानी नहीं है।

अकबर आधुनिक शिक्षा के इसलिए विरोधी थे, कि उसमें धर्म का स्थान नहीं है और लोग स्वतंत्र विचार के होकर धर्म की हँसी उड़ाते हैं। वह स्त्रियों के पर्दे को तोड़ने या कम करने के विरोधी थे, क्योंकि ऐसा करने से बहुत हानि होने का भय है। वह जानते थे कि योरप और अमेरिका में स्त्री-पुरुषों में स्वतंत्रतापूर्वक समागम होने से कितने बुरे परिणाम निकल रहे हैं। वह यह सोचकर काँपते थे कि यदि ऐसा ही सम्मेलन यहाँ भी हुआ तो कितना भयंकर उपद्रव उठेगा। उनकी राय में पाश्चात्य और प्राच्य सभ्यता और संस्कृति में आकाश-पाताल का अंतर है। इस देश की दशा, इसकी विचार-धारा और इसके रस्मोरिवाज योरप से बिल्कुल भिन्न हैं और बहुधा परस्पर विरुद्ध हैं।

इसी प्रकार वह पाश्चात्य ढंग से स्त्री शिक्षा के भी घोर विरोधी, थे इस भय से कि इससे उनके आचरण पर बुरा प्रभाव पड़ेगा। इन्हीं कारणों से उन्होंने योरप के प्रेमियों की अपनी कविता में खूब हँसी उड़ाई है और व्यगांत्मक शब्दों का उपयोग किया है, कि हिंदुस्तानी प्रेमियों को चाहिए कि प्रेम का पाठ योरप से पढ़ें. और इसी प्रकार यहाँ की प्रेमिकाएँ हाव-भाव तथा लुभाने का ढंग अपनी योरोपियन बहनों से सीखें। कमेटियों और चंदे का ज़माना है। स्त्रियों और पुरुषों के भाव और विचार में घोर परिवर्तन हो गया है। लोग पुराने जातीय आदर्श को खो बैठे हैं या अतीत काल को सौंप दिया है।

विद्वान लोग अपना पुराना ढंग छोड़कर विषय वासना और ख्याति के लोलुप हो गए हैं, सूफ़ी (महंत) अपने साधन और तपस्या का व्यापार करने लगे। उपदेशक लोग अब लोगों के पथ प्रदर्शक नहीं रहे। स्त्रियां अब गृहदेवियाँ नहीं रहीं रहीं, बल्कि सभाओं का आभूषण बन गई हैं। लिखते हैं :—

'हामिदा चमकी न थी इंग्लिश से जब बेगाना थी।
अब है 'शमए-अंजुमन' पहले 'चिराग़े खाना' थी।'

जड़वाद का समय है। लोगों ने चापलूसी को उन्नति का साधन समझ लिया है। यही सब इस समय के विषवृक्ष के कड़ुए फल हैं, जिनसे किसी प्रकार का लाभ नहीं हो सकता।

इसी पुरानी प्रथा के अधिक अनुयायी होने के कारण वह सर सैयद अहमद और अलीगढ़ कालेज के नेताओं के भी घोर विरोधी थे। दोनों की चाल एक दूसरे के विरुद्ध थी, बहुधा बहुत कुछ आक्षेप उन्होंने कविता के तात्पर्य के लिए किए थे।

अकबर ने न केवल नए विचार और नई सभ्यता की निंदा की है, किंतु जातीय संस्कृति और शिक्षा के ह्रास पर भी शोक प्रकट किया है और उन बुराइयों के दूर करने के बड़े पक्षपाती थे, जो बाहर के प्रभाव से प्राच्य सभ्यता में घुस गई हैं।

वह यों तो स्त्री-शिक्षा के मूल सिद्धांत के विरुद्ध न थे, किंतु उसकी ठीक प्रणाली चाहते थे। जैसे स्त्रियाँ शिक्षित हो कर अच्छी गृह-देवियां और मातायें बनें, अच्छी नागरिक न बनें। लिखा है :—

'दो उसे शौहरो अतफ़ाल के ख़ातिर तालीम।
क़ौम के वास्ते तालीम न दो औरत को॥'

वह पुरानी भद्रता, सचाई, समवेदना, संतोष और आत्म-सम्मान इत्यादि की कमी तथा वर्तमान समय की पालिसी, दुरंगी, स्वार्थ और बेमुरव्वती पर क्रोध और शोक प्रकट करते हैं कि लोग अपनी

निजी उन्नति की अंधी चाल के पीछे अपने माता-पिता, भाई-बहन और अन्य संबंधियों के साथ उत्तरदायित्व को भूल बैठे यहाँ तक कि ईश्वर की सत्ता भी उनके हृदय से उठ गई। दुनिया के बखेड़ों के पीछे धर्म को भुला बैठे। यह प्रकृति-पूजा का समय, जिसमें द्रुत-गामिनी रेल, तार और टेलीफ़ोन के विलक्षण कामों को देख कर चकाचौंध हो गए हैं, हमारे हृदय को किसी प्रकार की शांति नहीं दे सकता। वर्तमान काल के विज्ञान और मशीनों के चमत्कारों में निरा लाभ ही नहीं है, किंतु अकाल मृत्यु, जो बहुधा अधिक घबराहट और गति से हो जाया करती है तथा अल्प आयु और स्वास्थ्य का ह्रास, इन्हीं सब का प्रमाण है।

नवीन शिक्षा प्रणाली, जैसा कि समझा जाता था, नैतिक और आत्मिक रोगों की अचूक औषधि सिद्ध नहीं हुई। विज्ञान की उन्नति और प्रकृति की कुछ जानकारी ने हृदय के कष्ट को दूर नहीं किया और न वह क्लेश निवारण किए, जिनके नष्ट होने की आशा की जाती थी। दोनों प्रकार की सभ्यता में एक गहरा खड्ड पड़ा हुआ है। पाश्चात्य सभ्यता, सांसारिक अभ्युदय, व्यापार की उन्नति और धनोपार्जन की ओर लगी हुई है और प्राच्य संस्कृति का मुख्य उद्देश्य आत्मिक उन्नति है। वह थोड़ी सी चीज़ पर सुगमता के साथ संतुष्ट हो जाती है। उसको दूसरे देशों के हड़प करने की लालसा नहीं है। संतोष और त्याग उसका ध्येय है।

अकबर कवि होने के अतिरिक्त, एक जातीय उपदेशक, सुधारक, प्रचारक और दार्शनिक भी थे। वह ईश्वर की एकता और प्रार्थना के फल को हृदय से मानते थे। उनका विश्वास था कि धर्म का संबंध हृदय से है। उसमें दर्शन, विज्ञान और तर्क का स्थान नहीं है। वह धार्मिक झगड़ों और तुच्छ भेद-भाव तथा धर्मांधता से सर्वथा रहित थे और इसीलिए वह कठ मुल्लाओं

अकबर के धार्मिक-सिद्धांत

की संकीर्णता को बुरा समझते थे[1]। उनकी धारणा थी कि धर्म एक जीता जागता प्रेम करने की चीज़ है। उसको विविध प्रकार के दार्शनिक विचारों का संचय न समझना चाहिए। वह कोई ऐसी आलोचना सहन नहीं कर सकते थे जो धार्मिक-विश्वास के प्रतिकूल हो, क्योंकि यही धर्म का प्राण है। उसमें धर्मांधता और कट्टरपन लेश मात्र नहीं है। इसलाम और अन्य धर्मों का ओछा भेद-भाव एक उदार ईश्वर-वादी की दृष्टि में सर्वथा तुच्छ जान पड़ता है। वह प्रायः अपनी कविता में मनुष्य की असारता की चर्चा करते हैं, जिससे अपनी सफलता पर उसको अभिमान न हो। उनका कहना था कि चाहे साइंस की उन्नति को मानो, पर किसी दशा में ईश्वर को न भूलो। वह नीति, दर्शन और सत्य के सिद्धान्तों की प्रशंसा करने में बड़े निपुण थे। धर्म की गौण बातों की वह परवाह नहीं करते थे। वह संयम और इंद्रिय-निरोध को आवश्यक समझते थे। बाहरी रस्मोरिवाज छिलके के समान हैं और कर्म तथा आचरण को गूदा समझना चाहिए। वह धर्मांधता और क्रोध को बहुत बुरा समझते थे, क्योंकि इन से हृदय में

(१) मुहर्रम और दशहरा जब साथ-साथ पड़ा था, तब अकबर ने निम्नलिखि[illegible] पद्य द्वारा उपदेश दिया था :—

'मुहर्रम और दसहरा [illegible]ाथ होगा।
निबाह इसका [illegible]मारे सा[illegible] [illegible]ोगा॥
.खुदा ही [illegible] तरफ़ से है वह संजोग।
तो क्यों [illegible]खें बाहम [illegible] हम लोग॥'

इसी प्रकार हिन्दू मुसलिम [illegible] उन्हों[illegible]

'मालवी का माल कुछ [illegible] [illegible] कुछ।
कहते हैं बाज़ार में अकबर स[illegible] तू [illegible] तोल कुछ॥
बोला वह दुनिया का सौदा [illegible] इक खेल है।
उम्दगी है माल में और [illegible] में जन मेल है॥'

(हिन्दी अनुवादक)

संकीर्णता पैदा होती है, जो ऊँचे विचारों और विशाल अवलोकन से दूर हो जाती है। उनका कहना था कि धर्म-परिवर्तन से सामाजिक व्यवहार में अंतर नहीं होना चाहिए; न एक ईसाई को अंग्रेज़ों की नक़ल करनी चाहिए। पीछे वह दर्शन और तसौवफ़ के विषय पर बहुत लिखते थे, क्योंकि अंत में वह बड़े सूफ़ी हो गए थे और ख्वाजा हसन निज़ामी से गहरा संबंध हो गया था। उनके अंतिम समय के पद्यों को उनकी कविता का निचोड़ समझना चाहिए।

अकबर बहुत बड़े विचारवान और विनोदप्रिय थे। उनकी अपनी विशेष शैली थी। भाषा और कविता पर उनका असाधारण अधिकार था। वह एक बहुत बड़े कलाकार थे। उन्होंने ऊँचे विचारों को सुंदर भाषा से संयुक्त कर दिया था। उनके पद्य शक्ति, तीक्ष्णता, हास्य रस, चारुता और मनोहरता से ओत-प्रोत हैं तथा ऊँचे विचारों से लदे हुए हैं। उनके समान कोई भी कवि सर्वप्रिय नहीं हुआ। उनकी कविता सब के लिए सुगम है और सभी उससे आनंद उठाते हैं। उनके बहुत से पद्य लोगों के कंठस्थ होकर घरेलू हो गए हैं।

अकबर की शैली और उसका महत्व

साहित्य-क्षेत्र में अकबर का पद बहुत ऊँचा है। विनोद तथा वंशात्मक और सामयिक विषयों पर लेखक तथा सुधारक, नीतिज्ञ, उपदेशक, कवि, दार्शनिक, सूफ़ी और सुंदर पत्रकार की दृष्टि से उर्दू के सर्वश्रेष्ठ कवियों में, अकबर का स्थान सब से आगे है।

काव्य क्षेत्र में अकबर का स्थान

नादिर अली खां उपनाम 'नादिर' नवीन शैली की कविता के एक बहुत उत्साही समर्थक थे। उन्हों ने आज़ाद और सुरूर का अनुकरण करके नए ढंग की बड़ी सुंदर कविताएँ की हैं। सच्चा करुणा-रस ऊँचे

नादिर काकोरवी

विचार और मातृभूमि का प्रेम उनकी कविता के विशेषण हैं। वह बायरन और टामस मूर की रचनाओं के बड़े प्रेमी थे और पाश्चात्य विचारों को सरलता और स्वच्छता के साथ उर्दू में लिखने के इच्छुक थे। उनकी कुछ प्रसिद्ध रचनाएँ निम्न-लिखित हैं:—

'शमा व परवाना', 'शुआय उम्मीद', 'पैकरे बेज़बान,' और 'फ़लसफ़ा शायरी' इत्यादि।

वह अपनी जन्म-भूमि भारतमाता के अपूर्व भक्त थे। इस विषय पर उनकी कविता 'मुक़द्दस सर ज़मीन' और 'मादर-इंडिया' दर्शनीय हैं। इनके अतिरिक्त उन्होंने टामस मूर की पुस्तक के ढङ्ग पर एक मसनवी 'लाला रुख़' के नाम से लिखी है।

खेद है कि केवल पैंतालीस वर्ष की अवस्था में सन् १६१२ ई० में उनका शरीरांत हो गया और इस प्रकार से वह उस आशा को पूरा न कर सके, जिसका उदाहरण उन्होंने अपनी स्वच्छ, मनोरम, ज्वलंत और भावुकता पूर्ण रचनाओं से दिया था।

परिशिष्ट

निम्नलिखित कवियों का वृत्तांत पीछे मिला है जो यहां लिखा जाता है।

नज़र लखनवी

मुंशी नौबतराय नज़र सकसेना कायस्थ थे, जिनके पूर्वज लखनऊ की नवाबी में बड़े-बड़े प्रतिष्ठित पद पर नियत थे। नज़र सन् १८६६ में पैदा हुए। बचपन ही से बड़े प्रतिभाशाली थे। उर्दू, फ़ारसी और अंग्रेज़ी शिक्षा से निवृत्त होकर शायरी में संलग्न हो गए, जिसमें लखनऊ का समाज उस समय डूबा हुआ था। उन्हों ने सितम्बर सन् १८६७ में अपनी साहित्यिक पत्रिका 'खदंग नज़र' के नाम से जारी किया, जिसमें पहले केवल ग़ज़लें हुआ करती थीं। पीछे पत्र का भी उसमें समावेश हो गया। वह शायरी में आग़ा मज़हर लखनवी के शागिर्द थे, जिनके उद्योग से वहां मुशायरे हुआ करते थे और वही ग़ज़लें 'खदंग नज़र' में प्रकाशित होती थीं। थोड़े दिनों के बाद उक्त पत्र बंद हो गया।

सन् १६०४ में वह कानपुर की 'ज़माना' नामक पत्रिका के उप-संपादक हुए और बड़ी योग्यता और तत्परता के साथ अपना काम करते रहे, जैसा कि उस समय के उक्त पत्रिका के लेखों से प्रकट होता है। सन् १६१० में वह इलाहाबाद के इंडियन प्रेस के 'अदीब' नामक उर्दू मासिक पत्र के संपादक हुए, जो उस समय नया जारी हुआ था। यह उच्च श्रेणी का पत्र था। नज़र ने उसको बहुत उन्नत किया। डेढ़-दो वर्ष रह कर वह फिर 'ज़माना' के संपादन विभाग में चले गए

और लगभग दो वर्ष तक वहां रहे। इस बीच में वह साप्ताहिक 'आज़ाद' की भी देख-रेख करते रहे। फिर वह लखनऊ चले गए और वहाँ मि० हामिद अली बैरिस्टर के द्वारा नवल किशोर के अध्यक्ष राय बहादुर मु० प्राग नरायन से मिले और उनके प्रेस से निकलने वाले साप्ताहिक समाचार 'तफ़रीह' के संपादक हो गए। थोड़े दिनों के पश्चात् अवध अखबार की भी संपादकी उनको मिल गई। वहाँ उन्हों ने इतने परिश्रम से काम किया कि उनका स्वास्थ्य बिगड़ गया और उनके प्यारे नाती तथा इकलौती पुत्री का देहांत हो गया जिस से उनको अत्यंत दुख हुआ और फलतः उनको अवध अखबार से अपना संबंध विच्छेद करना पड़ा। साथ ही आर्थिक संकट में भी वह ग्रस्त हो गए। अंत में वह दमा के रोग से ५६ वर्ष की अवस्था में १० अप्रैल सन् १९२३ को इस संसार से चल बसे। लखनऊ के सभी शायर उनके मित्र थे। अतः सब को अत्यंत दुख हुआ। उनमें से मिर्ज़ा काज़िम हुसैन महशर ने निम्न लिखित पद्य द्वारा उनकी मृत्यु की तारीख़ कही है।

'किल्क महशर ने लिखा साले वफ़ात।
शायरे कामिल नज़र से छिप गया॥'

नज़र एक स्वाभाविक कवि थे और इसी कारण से अभ्यस्त होकर वह एक नामी शायर हो गए। शागिर्द भी एक प्रसिद्ध उस्ताद के थे।

सितम्बर सन् १९१९ के 'ज़माना' में उन्हों ने अपनी प्रारंभिक रुचि और यह कि सन् १८८४ में वह आग़ा मज़हर के क्यों कर शिष्य हुए, बहुत रोचक शब्दों में लेखबद्ध किया है। जैसा ऊपर वर्णन हुआ, शोक और व्यथा की घनघोर घटाओं से उनका अंतिम जीवन अंधकारमय हो गया था, जैसा कि नीचे के पद्यों से प्रकट है।

'नज़र अब चल के करना चाहिए आबाद मरक़द को।
बहुत है मुंतज़िर अपनी ज़मीं गोरे ग़रीबां की॥

ज़िंदगी की कशमकश से मर के पाई कुछ नजात।
इससे पहले ऐ 'नज़र' .फ़ुरसत कभी ऐसी न थी ॥
दिल था तो हो रहा था इहसास ज़िंदगी भी।
ज़िंदा हूँ अब कि मुर्दा मुझको खबर नहीं है ॥
आहें भरीं बहुत कुछ दम तोड़ना है बाक़ी।
इस आह में भी देखूँ है या असर नहीं है ॥
दुनिया से जा रहे हो क्या लेके ए 'नज़र' तुम।
ज़ादे सफ़र नहीं है, रखते सफ़र नहीं है ॥
खत्म दिलचस्पी तिरी ऐ दार फ़ानी हो गई।
हम भी ज़िंदा थे कभी वह ज़िंदगानी हो गई ॥
हर क़दम पर एक नाला हर क़दम पर एक आह।
ज़िंदगी क्या एक शरहे सख्त जानी हो गई ॥
हिज्र में आँखों से जारी है बराबर सैल अश्क।
बन्द दो कूज़ों में दरिया की रवानी हो गई।
मै को दुनियाँ आतिशे सैयाल कहती है नज़र।
लेकिन अपने जाम में आते ही पानी हो गई ॥"

नज़र की रचना में सरलता, आनन्द, ऊँचे विचार इत्यादि सभी कुछ कविता के गुण विशेषतया वह सब चीजें जो ग़ज़ल की प्राण हैं, पूर्णतया उपस्थित हैं। वह ग़ज़ल ही .खूब कहते थे और इसी कला में वह अपने समय में प्रसिद्ध थे। लोग उनका बहुत आदर करते थे। मुसद्दस भी बहुत अच्छी कहते थे। उस मुसद्दस के कुछ अंश जो अपने प्यारे नाती की मृत्यु पर लिखा था, इस प्रकार है।

'हुआ तमाम उमीदों का खातमा तुम पर।
किसी से अब न तवक्का न है किसी पे नज़र ॥
जहां में अपना हो अंजाम क्या नहीं है खबर।
मरे पे देखिए मिलता है अब कफ़न क्यों कर ॥

कहां गए मिरी बिगड़ी संवारने वाले।
पुकार लो मुझे 'लाला' पुकारने वाले॥
.फ़ुग़ाने बुलबुले जाँ दिल के पार होती है।
नज़र के बाग़ से रुख़सत बहार होती॥

इसी प्रकार उन का वह मुसद्दस, जो दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह के अवसर पर लिखा था, दिल हिला देने वाला है। अंत में वह नए रंग में भी लिखने का उद्योग करते थे। लेकिन उसमें उनको सफलता नहीं हुई, क्यों कि उसमें कुछ न कुछ पुराना रंग फूट निकलता था और वह भी ग़ज़ल ही मालूम होने लगता था।

कविता के सिवा वह समालोचना और गद्य लिखने में भी कुशल थे। बहुत दिनों तक 'ज़माना' में नक़्क़ाद लखनवी के नाम से पुस्तकों की समालोचना लिखते थे। मसनवी गुलज़ार नसीम के विषय में जब शरर और चकबस्त से वाद-विवाद हो रहा था, तब नज़र ने भी उस में भाग लिया था। उनकी राय सदैव जची-तुली, निष्पक्ष और न्याय-संगत होती थी, जिस से उनकी योग्यता और कवित्व-शक्ति का पता चलता था।

यह देखते हुए कि नवीन आलोचना-कला के वह पूरी तौर से जानकार न थे उनकी आलोचनाएं आश्चर्यजनक मालूम होती थीं।

सारांश यह कि नज़र एक उच्चकोटि के ग़ज़ल लेखक और समा-लोचक थे। उनकी रचना स्वच्छता में मुंशी दुर्गा सहाय सुरूर से बहुत मिलती-जुलती है।

उनके शागिर्दों में इस समय मुंशी विश्वेश्वर प्रसाद उपनाम मुनौवर लखनऊ में मौजूद हैं। खेद है कि नज़र की रचनाएं, सिवा उसके जो पत्रिकाओं में छप चुकी हैं, और संग्रहीत नहीं हो सकीं। यदि कोई उनकी पूरी कविता एकत्रित करके प्रकाशित कर दे तो उर्दू साहित्य में एक उपयोगी वृद्धि हो जायगी।

चकबस्त लखनवी

नवीन शैली के प्रसिद्ध पथ-प्रदर्शक, नए और पुराने ढंग के सम्मिश्रण पंडित ब्रजनरायन चकबस्त सन् १८८२ में .फैज़ाबाद में पैदा हुए। आरंभ ही में वह लखनऊ आ गए। वहां उन्हों ने कैनिंग क़ालेज से बी० ए० पास करके सन् १६०८ में कानून पास किया और वहीं वकालत करने लगे। अपनी योग्यता और ईमानदारी तथा मुस्तैदी से जल्द ही उच्चकोटि के वकील हो गए। उनके कवित्व से बहुत कुछ आशा बंधी हुई थी। लेकिन दुख के साथ कहना पड़ता है कि युवा अवस्था ही में १२ जनवरी सन् १६२६ को राय बरेली में फ़ालिज से उनका देहांत हो गया, जहां वह एक मुक़दमे की पैरवी में गए हुए थे। इस दुर्घटना से लखनऊ में शोक छा गया। अदालतें बंद हो गईं। चीफ़ कोर्ट के बड़े जज और ज़िला जज ने शोक प्रकट किया। शोक सूचक जलसे हुए, जिनमें कुछ शायरों के पद्य नीचे लिखे जाते हैं।

सफ़ी लखनवी ने लिखा था :—

शमा बज़मे शोअरा ब्रज नरायन चकबस्त।
बे वफ़ा उम्र ने तुम से न वफ़ा की अफ़सोस॥
दाग़े .फुरक़त से तुम्हारे अदबे उर्दू पर।
दह सफ़्फाक़ ने इक ताज़ा जफ़ा की अफ़सोस॥
शोर मातम है बया हल्क़ए अहबाब में आज।
शान इस बज़्म में है बज़्मे एज़ा की अफ़सोस॥
हाय बे ताबिए दिल और वह बेताबिए दिल।
जब ज़बां बन्द हो इक नुक़्ता मरा की अफ़सोस॥"

अज़ीज़ लखनवी ने लिखा था :—

शायरे नक्का सरा ब्रज नरायन चकबस्त।
जिसको .कुदरत ने दिया ज़ौक़े सख़ुन रोज़े अलस्त॥

ख़ादिमे क़ौम, सफ़ा केश, मरंगां व मरंज।
 सफ़िए मैकदए नुक्ता रसी जामे बदस्त ॥
आमोज़ है हर नज़्म मुरस्सा उसकी।
 साफ़ तरशे हुए हीरे हैं कि लफ़्ज़ों की निशिस्त ॥

इनके सिवा महशर, महरूम और सिहर हत्गामी ने बड़ी प्रभावशाली कविताएँ लिखीं थीं। विशेषतया सिहर का मरसिया बहुत ही हृदयबेधक है। महशर ने तो और भी चमत्कार दिखलाया कि चकबस्त ही के मिसरा के एक शब्द 'ईज़ा' में कुछ बढ़ाकर तारीख़ निकाली है, जो इस प्रकार है :—

'उनके ही मिसरा से तारीख़ है हमराह 'इज़ा।'
 मौत क्या है इन्हीं अजज़ा का परीशां होना'॥

चकबस्त को बचपन ही से शायरी का शौक़ पैदा हो गया था। कहा जाता है कि उन्हों ने नौ वर्ष ही की अवस्था में ग़ज़ल लिखी थी। विद्यार्थी जीवन में भी वह इस से प्रथक् नहीं रहे। कालेज के मुशायरों में शरीक होकर इनाम और तमग़े प्राप्त करते थे। शायरी में वह अपना नाम नहीं चाहते थे। अतः उन्हों ने अपना कोई तख़ल्लुस (कवि नाम) नहीं रक्खा। यथा अवसर केवल 'चकबस्त' शब्द का व्यवहार करते थे। स्वयं लिखा है।

'ज़िक्र क्यों आएगा बज़्मे शोअरा में अपना।
 मैं तख़ल्लुस का भी दुनिया में गुनहगार नहीं।'

पहले तो वह मामूली ग़ज़लें लिखा करते थे, फिर राष्ट्रीय, राजनीतिक, सामाजिक पद्य लिखने लगे, जिनमें उन्होंने बड़ी योग्यता का परिचय दिया। मुसद्दस भी वह बहुधा लिखा करते थे।

तख़ल्लुस की तरह उन्हों ने पुरानी प्रथा के अनुसार कविता में किसी को अपना उस्ताद नहीं बनाया। पुराने कवियों मीर, ग़ालिब, अनीस और आतिश इत्यादि की रचनाओं को सामने रखकर उन्हीं के

अनुसार लिखा करते थे। पद्य में मौलाना महम्मद हुसैन के अनुयायी थे।

चकबस्त का दृष्टिकोण बहुत विशाल था। मसनवी गुलज़ार नसीम की भूमिका में लिखते हैं :—

'याद रहे कि महज़ इबारत सादा नज़्म करना शायरी नहीं है। शायरी की आम तारीफ़ यह है कि नसर (गद्य) से ज्यादा दिलकश (चित्ताकर्षक) हो और पुर तासीर हो। नसर के विपरीत शायरी में यह उसूल मद्दे नज़र रहता है कि जो मज़मून बाँधा जाय महज़ एक हालत का इशारा करे। तरकीब-अलफ़ाज़ (शब्द विन्यास) ऐसी हो कि उस हालत के निस्बत मुख्तलिफ़ नक़शे पढ़ने वाले कि आँखों के सामने गुज़र जायं।"

वह शब्द विन्यास का बहुत ध्यान रखते थे। मानो आतिश का यह शेर उनके सामने रहता था :

'बंदिशे अलफ़ाज़ जड़ने से नगों के कम नहीं
शायरी भी काम है आतिश मुरस्सा साज़ का'।।

शब्द विन्यास के साथ समुचित हिन्दी शब्दों का भी उपयोग करते थे और नए-नए विषयों और विचारों को स्वच्छ और सरल ढंग से पद्य बद्ध करने में सामर्थ्य रखते थे। अतः एक जगह लिखते हैं।

"नया मुसलिक, नया रंगे सखुन ईजाद करते हैं।
उरूसे शेर को हम कैद से आज़ाद करते हैं"।

चकबस्त की मुद्रित रचना बहुत कम है। इसका कारण शायद यह हो कि अपने पेशा के काम के कारण शायरी के लिए बहुत कम समय मिलता था। उनका पद्य संग्रह इंडियन प्रेस इलाहाबाद में छप गया है, जिस पर उर्दू साहित्य के प्रेमी सर तेज बहादुर सप्रू ने एक योग्यतापूर्ण प्रस्तावना लिखी है। उनकी समालोचनाएं और अन्य लेख भी उसी प्रेस से प्रकाशित हुए हैं। चकबस्त ने स्वयं एक मासिक पत्रिका 'सुब्ह उम्मीद' के नाम से सन् १९१८ में जारी किया था, जो

सरवेंट आव इंडिया सोसाइटी का मुख्य पत्र था। उसमें वह बहुधा राजनीतिक विषय के लेख लिखा करते थे, जो अब तक अलग प्रकाशित नहीं हुए।

ग़ज़लों में चकबस्त पुराने ढग से सर्वथा अलग रहना चाहते थे। उन्हों ने उसमें एक विशेष नवीनता पैदा की अर्थात् पुरानी घिसी हुई उपमा और रूपकों को बिल्कुल निकाल दिया। माधुर्य और स्वच्छता का विशेष ध्यान रक्खा और यही चीजें ऐसी हैं, जो उनकी रचना को दूसरों से पृथक करती हैं। उनके संग्रह में मुश्किल से पचास ग़ज़लें होंगी और उनमें भी बहुधा अपूर्ण हैं। लेकिन उन्हीं में उन्हों ने अपनी जादूबयानी का पूरा चमत्कार दिखलाय" है और बहुधा शेर ऐसे टकसाली हैं, जो सदा याद रहेंगे। नीचे उनके कुछ पद्य देखिये :-

ग़ज़लें

'ज़िंदगी क्या है अनसिर में ज़हूरे तरतीब।
मौत क्या है इन्हीं अजज़ा का परीशां होना॥
आबरू क्या है तमन्नाये वफ़ा में मरना।
दीन क्या है किसी कामिल की परिस्तश करना॥
फ़ना का होश आना ज़िंदगी का दर्द सर जाना।
.अजल क्या है खुमारे बादए हस्ती उतर जाना॥
कमाले बुज़दिली है पस्त होना अपनी आंखों में।
अगर थोड़ी सी हिम्मत हो तो फिर क्या हो नहीं सकता॥
उभरने ही नहीं देती हमें वे सायगी दिल की।
नहीं तो कौन क़तरा है जो दरिया हो नहीं सकता॥
अगर दर्दे मुहब्बत से न इनसां आशना होता।
न मरने का अलम होता न जीने का मज़ा होता॥
दिले अहबाब में घर है शिग़ुफ़्ता रहती है ख़ातिर।
यही जन्नत है मेरी और यही बाग़े अरम मेरा॥

वह सौदा ज़िंदगी का है कि ग़म इनसान सहता है।
नहीं तो है बहुत आसान इस जीने से मर जाना॥
जहां में रहके यूँ क़ायम हूँ अपनी बे सबाती पर।
कि जैसे अक्स गुल रहता है आबे जूय गुलशन में॥
दिल में इस तरह से अरमान हैं आज़ादी के।
जैसे गंगा में झलकती है चमक तारों की॥
हमारे और वायज़ों के मज़हब में फ़र्क़ अगर है तो इस क़दर है।
कहेंगे हम जिसको पास इनसां वह उसको खौफे. .खुदा कहेंगे॥

इनमें ऊपर के गुणों के अतिरिक्त स्थानीय रंग और हिन्दी शब्दों की अच्छी वृद्धि हुई है, जिसमें उनकी रचना का प्रभाव दुगुना हो जाता है। इन कविताओं का मुल्की रंग, देश की पुरानी कथाएँ, रस्मोरिवाज, नई-नई उपमा और रूपक, ऊँचे आदर्श इन रचनाओं को साहित्यिक रत्न बना देते हैं। उनके इस प्रकार के पद्य पांच प्रकार के हैं। (१) मरसिए जो देश के नेताओं की मृत्यु पर लिखे गए (२) राष्ट्रीय और राजनीतिक पद्य, जो देश के महत्वपूर्ण विषयों पर लिखे गए, जिनमें से ऊँचे विचारों के साथ कवि के राजनीतिक आदर्श का पता चलता है। बल्कि यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो देश के तमाम शिक्षित नवयुवकों के ऊँचे विचारों के सूचक हैं (३) सामाजिक पद्य (४) धार्मिक और (५) नेचुरल पद्य।

लंबे पद्य

इन में वह ओजस्वी और करुणामय पद्य हैं, जो देश में प्रसिद्ध नेताओं की मृत्यु पर लिखे गए हैं। यह प्रायः मुसद्दस के रूप में हैं और ओज तथा प्रभाव से ओत-प्रोत हैं। बल्कि वह स्वतंत्रता के विचार हैं जो किसी स्वतंत्रता के पताकाधारी के इस संसार से विदा होने से कवि के हृदय में उमड़े हैं और उसकी लेखनी से आँसू

मरसिए

के समान टपक पड़े हैं।

यहां उसके कुछ नमूने दिए जाते हैं। गोपाल कृष्ण गोखले के संबंध में लिखते हैं :—

'अजल के दाम में आना है यों तो आलम को।
मगर यह दिल नहीं तैयार तेरे मातम को॥
पहाड़ कहते हैं दुनिया में ऐसे ही ग़म को।
मिटा के तुझको अजल ने मिटा दिया हमको॥
जनाज़ा हिन्द का दर से तिरे निकलता है।
सुहाग क़ौम का तेरी चिता में जलता है॥

बाल गंगाधर तिलक की मृत्यु पर :—

'उड़ गया दौलते नामूस वतन का वारिस।
कौम मरहूम के एज़ाजे कुहन का वारिस॥
जाँ निसारे अज़ली शेर दकन का वारिस।
पेशवाओं के गरजते हुए रन का वारिस
थी समाई हुई पूना की बहार आँखों में।
आख़री दौर का बाक़ी था खुमार आँखों में'॥

पं० बिशुन नरायन दर की मृत्यु पर :—

'हमने देखे हैं तिरे अश्क मुहब्बत अकसर।
जिन पे सदक़े हैं ज़बाँ और क़लम के जौहर॥
दो नगीने थे हमीअत के तिरे कल्बो जिगर।
हुई ग़ैरों को न इस पाक ख़ज़ाने की ख़बर॥'
ज़ाहिरी हुस्न लियाक़त के ये दीवाने हैं।
शमा देखी नहीं फ़ानूस के परवाने हैं'॥

राष्ट्रीय पद्य

इन में भी वही ढंग और वही सच्चे मनोभाव प्रकट हैं जो मरसियों में हैं। वही शब्दों की स्वच्छता और वही अनूठे विचार।

खाक हिन्द से ऐ खाक हिन्द तेरी अज़मत में क्या गुमां है।
दरियाए फैज़ कुदरत तेरे लिए रवां है॥
तेरी जबीं से तूरे हुस्ने अज़ल अयां है।
अल्ला री ज़ेबो ज़ीनट क्या औज इज़्ज़ो शां हैं॥
हर सुबह है यह ख़िदमत .खुरशेद पुर ज़िया की।
किरनों से गूंधता है चोटी हिमालिया की॥
जो दिल से कौम के निकली है वह दुआ है यही।
था जिसपे नाज़ मसीहा को वह सदा है यही॥
दिलों को मस्त जो करती है वह अदा है यही।
ग़रीब हिन्द के आज़ार की दवा है यही
न चैन आएगा बे होम रूल पाए हुए।
फ़कीर कौम के बैठे हैं लौ लगाए हुए॥
यह जोशे पाक ज़माना दबा नहीं सकता।
रगों में खूँ की हरारत मिटा नहीं सकता॥
यह आग वह है जो पानी बुझा नहीं सकता।
दिलों में आके यह अरमान जा नहीं सकता॥
वतन का राग से तलब फ़जूल है काँटे की फूल के बदले।
न लें बिहिश्त भी हम होम रूल के बदले॥
तूने पौदा जो लगाया था वह फल लाया है।
आबरू कौम ने पाई है वह दिन आया है॥
हम ने भूले हुए बरसा का निशां पाया है।
मरने वालों की वफ़ा का यही सरमाया है॥
दिल तड़पता है कि स्वाराज का पैग़ाम मिले।
कल मिले आज मिले सुबह मिले शाम मिले॥
हुक्म हाकिम का है फरयाद ज़बानी रुक जाय।
दिल की बहती हुई गंगा की रवानी रुक जाय॥

क़ौम कहती है, हवा बन्द हो पानी रुक जाय।
पर यह मुमकिन नहीं अब जोश जवानी रुक जाय॥

मिसेज़ बेसेंट की नज़रबंदी पर :—

हों खबरदार जिन्होंने यह अज़ीयत दी है।
कुछ तमाशा नहीं यह क़ौम ने करवट ली है॥

जब सन १६१४ में महात्मा गांधी हिन्दुस्तानियों की दशा देखने और उसको सुधारने के लिए दक्षिण अफ्रीका गए थे तो चकबस्त ने एक कविता 'फरयादे कौम' के नाम से लिखी थी जिसमें महात्मा जी को संबोधन करके लिखते हैं :—

'वतन से दूर हैं हम पर निगाह कर लेना।
इधर भी आग लगी है ज़रा खबर लेना॥'

सन् १६१८ में जब कांग्रेस में कुछ फूट पैदा हुई और कुछ नेता उससे अलग हो गए तो उन्हों ने 'नालए दर्द' के नाम से एक कविता लिखी थी। इसी तरह लखनऊ कांग्रेस के जलसे में एक ओजस्वी कविता पढ़ी थी, जिसका एक पद्य यह है :—

बरतानिया का साया सिर पर क़बूल होगा।
हम होंगे ऐश होगा और होम रूल होगा॥

पिछले महायुद्ध में जब हिंदुस्तानी सिपाही यहां से गए थे, तो चकबस्त उनको इस प्रकार से उत्साहित करते हैं।

'हाँ दिलेराने वतन धाक बिठा कर आना।
तंतना जर्मने .खुदबीं का मिटा कर आना॥
क़ैसरी तख्त की बुनियाद हिलाकर आना।
नदियां खून की बरलिन में बहा कर आना॥
यही गंगा है सिपाही के नहाने के लिए।
धार तलवार की है पार लगाने के लिए॥

सामाजिक मामलों के सुधार में भी राजनीतिक मामलों की तरह

उनका मध्यम मार्ग था। उनकी कविता 'फूल माला' जो हिन्दुस्तानी स्त्रियों के लिए है उसमें अधिक स्वतंत्रता

सामाजिक कवितायें

और अंग्रेज़ियत की बुराइयों से चेतावनी दी गई है जो इस प्रकार है :—

'रविशे ख़ास पे मर्दों के न आना हरगिज़।
दाग़ तालीम में अपनी न लगाना हरगिज़॥
नाम रक्खा है नुमाइश का तरक़्क़ी व रिफ़ार्म।
तुम इस अंदाज के धोखे में न आना हरगिज़॥
रंग है जिसमें मगर बूए वफ़ा कुछ भी नहीं।
ऐसे फूलों से न घर अपना सजाना हरगिज़॥
नक़्ल योरप की मुनासिब है मगर याद रहे।
ख़ाक में ग़ैरते क़ौमी न मिलाना हरगिज़॥
रुख से परदे को उठाया तो बहुत .ख़ूब किया।
परदए शर्म को दिल से न उठाना हरगिज़॥
पूजने के लिए मंदिर है जो आज़ादी का।
उसको तफ़रीह का मरकज़ न बनाना हरगिज़॥

यह विधवा विवाह के भी समर्थक थे। सन् १६१७ में उन्हों ने एक कविता 'बर्क़ इसलाह' के नाम से इसी विषय पर काश्मीरियों के लिए लिखी थी।

इस विभाग में उन्हों ने अपनी लेखनी का बहुत ज़ोर दिखलाया है। रामायण का वह दृश्य जहाँ श्री राम चन्द्र जी बनवास से पहले अपनी माता से विदा होने जाते हैं बहुत ही प्रभावशाली और करुणामय शब्दों में लिखा है।

धार्मिक कवितायें

'कुशल कन्हैया' श्री कृष्ण जी के जन्म के विषय में एक छोटी सी कविता बहुत ही रोचक और पवित्र रचना है; और सब से अधिक

चित्ताकर्षक और प्रभावशाली कविता 'गाय' पर है जिसके दो बन्द् यहाँ लिखे जाते हैं :—

'देखे जंगल में कोई शाम को तेरी रफ़्तार।
बे पिए जैसे किसी को जवानी का .खुमार॥
मस्त कर देती है शायद .कुदरत की बहार।
वह उतरती हुई धूप और वह सब्ज़ा का निखार॥
एक-एक गाम पे शोखी से मचलना तेरा।
पी के जंगल की हवा झूम के चलना तेरा॥
साहबे दिल तुझे तसवीर वफ़ा कहते हैं।
चश्मए .फ़ैज़ .खुदा, मर्द .खुदा कहते हैं।'
दर्द मंदों की मसीहा शोअरा कहते हैं।
माँ तुझे कहते हैं हिन्दू तो बजा कहते हैं॥
कौन है जिसने तिरे दूध से मुंह फेरा है।
आज इस क़ौम के रग-रग में लुहू तेरा है॥

इनकी संख्या बहुत कम है। लेकिन जितनी हैं सब ऊँचे विचार और सुन्दर शब्द संगठन से परिपूर्ण हैं। पुरानी उपमाएं और उदाहरण उन में तनिक भी नहीं हैं। इस प्रकार की

नेचुरल अर्थात् प्राकृतिक कविताएं

कविताएं 'फूल', 'कश्मीर', 'जलवए सुबह' और 'सैर देहरादून' के नाम से हैं, जिनमें पिछली कविता लालित्य और सौंदर्य में सब से बढ़ कर है।

कुछ रुबाइयां भी लिखी हैं, जिनमें एक स्वयं अपने विषय में इस प्रकार है :—

रुबाइयां

बेकार तअल्ली से है नफ़रत मुझको।
लूँ दादे सख़ुन नहीं यह आदत मुझको॥

किस वास्ते जुस्तजू करूं शुहरत की।
इक दिन खुद ढूँढ लेगी शुहरत मुझको॥

उनकी भाषा बहुत ही स्वच्छ और मृदु है। शब्द बहुत ही समुचित रोज़ की बोल-चाल में और ज़ोरदार हैं। रचना में लखनऊ का रंग है, लेकिन बहुत ही उच्च कोटि का। एक विशेषता यह भी है कि उचित हिन्दी शब्दों के समावेश से रचना की मिठास और प्रभाव दुगुना हो गया है।

चकबस्त की भाषा

चकबस्त उच्चकोटि की अँग्रेज़ी जानने के कारण प्राच्य और पाश्चात्य दोनों प्रकार की आलोचनाओं के जानकार थे। इसी से उनकी सम्मति, साहित्यिक मामलों में उनकी राय बहुत जँची-तुली; न्याय संगत और निष्पक्ष होती थी। वह कभी किसी की प्रशंसा या निन्दा आँख मूँद कर या अत्युक्ति के साथ नहीं करते थे। व्यक्तिगत आक्षेप से सदा बचते थे और उत्तेजना होने पर भी मध्यम मार्ग को नहीं छोड़ते थे। बेजा वाद-विवाद और तूतू-मैंमैं में कभी नहीं पड़े। अतः लिखते हैं :—

चकबस्त समालोचक के रूप में

उलझ पड़ूँ किसी दामन से मैं वह ख़ार नहीं।
वह फूल हूँ जो किसी के गले का हार नहीं॥

उनके लेख दाग़ और सरसार के विषय में बहुत उच्च कोटि के हैं, जिनसे उनकी बड़ी जानकारी का पता [illegible]ता है। शरर और चकबस्त से जो प्रसिद्ध वाद-विवाद हुआ था उस में उनकी गंभीरता और कलाकारी की योग्यता प्रकट होती है। इस विषय में अनेक साहित्यिकों ने उनकी प्रशंसा की है। जो संग्रह गालिब और आतिश इत्यादि की रचनाओं का 'इत्र सखुन' के नाम से उन्हों ने किया है वह उनके मर्मज्ञ होने का सूचक है।

उनका गद्य में भी पद्य के समान पद बहुत ऊँचा था। 'सुबह

उम्माद' के अतिरिक्त वह बहुधा अन्य प्रसिद्ध पत्रिकाओं जैसे 'कश्मीरी दर्पण' 'खदंग नज़र' और 'ज़माना' इत्यादि में लेख लिखा करते थे। उनके लेख बहुत ही गंभीर, अर्थ सूचक, ओजस्वी और स्वच्छ हुआ करते थे। मुंशी सज्जाद हुसैन, मिर्ज़ा मच्छू बेग, नवाब सैयद महम्मद आज़ाद, मुंशी ज्वाला प्रसाद बर्क़, पं० बिशन नरायन दर और पं० दयाशंकर कौल तथा पं० त्रिभुवन नाथ हिज्र के विषय में जो विवरण व संक्षिप्त लेख उन्हों ने लिखे हैं वे पढ़ने योग्य हैं।

चकबस्त का गद्य लेख

श्री रामचन्द्र जी का बनवास के समय माता से बिदा होने का दृश्य जो उन्हों ने लिखा है वह नीचे दिया जाता है। उससे उनके भाषा पर अधिकार और शब्दों के सुसंगठन का पूरा पता चलता है जो अनीस के रंग में है।

'रुख़सत हुआ वह बाप से लेकर ख़ुदा का नाम।
राहे वफ़ा की मंज़िले औव्वल हुई तमाम॥
मंज़ूर था जो माँ की ज़ियारत का इन्तज़ाम।
दामन से अश्क पोंछ के दिल से किया कलाम॥
इज़हार बे कसी से सितम होगा और भी।
देखा हमें उदास तो ग़म होगा और भी॥
दिल को संभालता हुआ आख़िर वह नवनिहाल।
खामोश माँ के पास गया सूरते खयाल॥
देखा तो एक दर में है बैठी वह ख़स्ता हाल।
सकता सा हो गया है यह है शिद्दते मलाल॥
तन में लहू का नाम नहीं ज़र्द रंग है।
गोया बसर नहीं तसवीर संग है॥'

यह विचित्र बात है कि ग़ालिब और अनीस का प्रभाव आजकल की कविता पर इतना छाया हुआ है कि इस समय के कविगण

जब किसी चीज़ को प्रभावशाली और करुण बनाना चाहते हैं तो वही रंग अपनाते हैं। इसलिए चकबस्त की लगभग दो तिहाई कविताएँ जो 'सुबह वतन' में छपी हैं मुसद्दस के रूप में हैं। जैसे 'मुरक्क़ा इबरत' जो किसी जातीय जलसे के लिए लिखी गई थी। मुसद्दस हाली के अनुकरण और उसी रंग में जाति और नवयुवकों की दशा, धर्म, धन, स्वतंत्रता और सुधार इत्यादि के विषय में आठ-आठ, दस-दस बन्द लिखे हैं। नवजवानों के विषय में लिखते हैं :—

'मौजूद है जिन बाज़ुओं में ज़ोरे ज़वानी।
तूफ़ां से उन्हें किश्तिए क़ौमी है बचानी॥
पुर है मए ग़फ़लत से सिरों में यह गरानी।
आराम पसंदी में यह रखते नहीं सानी॥
पहलू में किसी के दिले दीवाना नहीं है।
हैं मर्द मगर हिम्मते मर्दाना नहीं है॥
इबरत इन्हें देता नहीं नैरंग ज़माना।
उम्र उनकी फ़क़त लहवलअब का है फ़िसाना॥
तालीम कहाँ और कहाँ सुहबते दाना।
बस पेशे नजर रहता है आईनवो शाना'॥

मज़हब के संबंध में :—

'सौदाय मुहब्बत में नहीं उनके है खामी।
.खुद बीनी से ख़ाली नहीं मज़हब के हैं हामी॥
उरफ़ां की खबर लाती हो जो तबा गिरामी।
है नफ़्स की मंजूर हक़ीक़त में ग़ुलामी॥
कुछ क़ौम की परवा है न फ़िक्रे किहोमह है।
हो जाय नजात अपनी तमन्ना है तो यह है॥
आलम के दिखाने के लिए ख़ाक नशीं हैं।
दावा है कि हम मालिके फ़िरदौसे वरीं हैं॥

दुनिया की तरक्क़ी पे सदा चीं बजबीं है।
गोया कि यही राजे इलाही के अमीं हैं ॥

डाक्टर इक़बाल

डाक्टर सर शेख़ महम्मद इक़बाल का वर्तमान काल के दार्शनिक कवियों में बहुत ऊँचा स्थान था। उनकी प्रसिद्धि हिन्दुस्तान से निकल कर अफ़ग़ानिस्तान, ईरान तथा योरप, अमेरिका तक पहुँची थी। उनका नाम कवियों की अग्रश्रेणी में है। सन् १८७५ में सियालकोट (पंजाब) में पैदा हुए। लेकिन उनके पूर्वज काश्मीर के निवासी थे; जैसा कि उनके निम्नलिखित पद्य से प्रकट होता है :—

हिन्दोस्तान में आए हैं कश्मीर छोड़ कर।
बुलबुल ने आशियाना बनाया चमन से दूर ॥
कश्मीर का चमन जो मुझे दिल पिज़ीर है।
इस बाग जाँ फ़िज़ाँ का यह बुलबुल असीर है।
वरसा में हम को आई है आदम की जायदाद।
जो है वतन हमारा वह जन्नत नज़ीर है ॥

पहले उन्होंने एक मकतब में पढ़ा। फिर अंग्रेज़ी पढ़ने के लिए स्कूल में भरती हुए जहां वह अपने सहपाठियों में सब से ऊँचे रहते थे और इनाम तथा स्कालरशिप पाया करते थे।

शिक्षा — मैट्रीकुलेशन पास करके स्काट्स मिशन कालेज सियालकोट में नाम लिखाया जहां अरबी फ़ारसी के प्रसिद्ध प्रोफेसर सैयद मीर हसन से शिक्षा पाते रहे। उन्हीं के सत्संग से उनको शायरी का शौक़ पैदा हुआ। इंटर प्रथम श्रेणी में पास करके गवर्नमेंट कालेज लाहौर में भरती हुए और अन्य विषयों के साथ फिलासफी (दर्शनशास्त्र) लिया, जहां से बहुत प्रतिष्ठा के साथ बी० ए० पास किया और अरबी और अंग्रेजी में विशेष योग्यता

प्राप्त की। इसके पश्चात् जब एम० ए० की परीक्षा दी तो यूनीवर्सिटी भर में सर्वप्रथम रहे।

लाहौर में अलीगढ़ कालेज के प्रसिद्ध प्रोफेसर आर्नल्ड से उनका संपर्क हुआ, जिससे उनको बहुत लाभ हुआ। इसका उभय पक्ष पर बहुत प्रभाव पड़ा। जब आर्नल्ड इंगलैंड जाने लगे तो इक़बाल ने एक कविता 'नालए फ़िराक़' के नाम से लिखी। अब वह लाहौर ही में रहने लगे। शिक्षा समाप्त करके वह पहले वहां के ओरियंटल कालेज में इतिहास, दर्शन और अर्थ-शास्त्र पढ़ाने लगे, फिर गवर्मेंट कालेज में अंग्रेज़ी और दर्शन के प्रोफेसर हो गए।

मि० आर्नल्ड संपर्क

सितम्बर सन् १९०८ में वह उच्च शिक्षा के लिए इंग्लैंड गए। वहां केम्ब्रिज यूनीवर्सिटी में डाक्टर मेकटेग्रेट से पाश्चात्य दर्शन पढ़ना आरंभ किया और वहीं प्रोफेसर ब्राउन, निकलसन और सारली से लाभ उठाया। वहां से एथिक्स (नीति विज्ञान) में डिग्री लेकर जर्मनी गए और म्युनिक में कुछ दिन ठहर कर अपना निबंध 'फ़लसफ़ा ईरान' के संबंध में पेश किया, जिस पर वहां से पी० एच० डी० की डिग्री मिली और उनका उक्त निबंध 'मिटाफ़िज़िक्स आव परशिया' के नाम से इंग्लैंड में प्रकाशित हुआ और मि० (अब सर टामस) आर्नल्ड के नाम से समर्पित हुआ। जर्मनी से इंग्लैंड जाकर उन्होंने बारिस्ट्री पास की। जब आर्नल्ड लंदन यूनीवर्सिटी के अरबी के प्रोफेसर हो गए थे, तब इक़बाल ने कुछ दिनों तक उनकी जगह काम किया था। लंदन से लाहौर आकर उन्होंने बारिस्ट्री आरंभ की और साथ ही अवकाश के समय शायरी भी करते रहे। सन् १९२२ में उनको 'नाइट हुड' अर्थात् सर की उपाधि मिली। सन् १९३८ में उनका देहांत हो गया।

इंग्लैंड में

इक़बाल एक विशाल दृष्टिकोण के कवि थे। उन्होंने प्राच्य और पाश्चात्य दोनों दर्शन का अध्ययन किया था और ईरानी दर्शन के अतिरिक्त हिन्दुस्तान के दर्शन के भी ज्ञाता थे। फ़ारसी में उनकी योग्यता उनकी रचनाओं से प्रकट है।

रचनाएं

(१) इल्मुल इक़तज़ाद—उर्दू में जो सन् १८६६ में छपी थी।

(२) फ़लसफा ईरान।

(३) मसनवी इसरार .खुदी फ़ारसी में। इसका अनुवाद अँग्रेज़ी में प्रोफेसर निकलसन ने किया है।

(४) रमीज़ बेखुदी। यह भी फारसी की मस्नवी है।

(५) पयाम मशरिक़ फ़ारसी में।

(६) बाँग दिरा। यह उर्दू कविता का संग्रह है। ऐसा ही एक और संग्रह 'कुल्लयात इक़बाल' के नाम से छपा है।[१]

इक़बाल को कविता की रुचि आरंभ ही से थी जब वह सियालकोट के स्कूल में पढ़ते थे। लाहौर में उसमें और भी उन्नति हुई। वहां

इक़बाल की कविता

उन्होंने एक मुशायरे में अपनी ग़ज़ल पढ़ी, जिसमें उर्दू के प्रसिद्ध कवि और भाषाविज्ञ मिर्ज़ा अरशद गोरगानी उपस्थित थे। उन्होंने निम्न शेर की बहुत प्रशंसा की।

'मोती समझ के शान करीमी ने चुन लिए।
क़तरे जो थे मिरे अरके. इन्फ़आल के ॥

इस बीच में इक़बाल अरशद के शिष्य हो गए। लेकिन कुछ

---

१ इक़बाल ने अंत में एक और बड़ी पुस्तक फ़ारसी में 'जावेद नामा' के नाम से लिखी है।

(हिन्दी अनुवादक)

दिनों के बाद वह दाग़ के शागिर्द हुए जैसा कि उन्हों ने स्वयं कहा है :—

'नसीमो तिशनही इक़बाल कुछ उस पर नहीं नाज़ाँ।
मुझे भी फ़ख्र. है शागिर्दिए दाग़े सख़ुन्दाँ पर ॥

लेकिन यह शागिर्दी बहुत दिन तक न रही। आरंभ में इक़बाल अपनी कविता अपने मित्रों के सामने और विशेष मुशायरों में सुनाते थे। जनता में उनकी कविता का आरंभ उस समय हुआ जब उन्होंने 'अंजुमन हिमायत इसलाम' के सन १८९९ के जलसे में 'नालए यतीम' के नाम से पढ़ी। उसके पश्चात् उन्होंने अपनी दूसरी कविता उसी अंजुमन के दूसरे जलसे में 'हिमालय' के नाम से सुनाई, जो लाहौर के 'मखज़न' नामक पत्रिका के पहले अंक में प्रकाशित हुई थी। इसके पश्चात् जब तक वह विलायत नहीं गए बराबर कविता लिखते रहे जो विविध पत्रों में छपती रही तथा कान्फ्रेंसों में सुनाई जाती रही। इस बीच में उनका अभ्यास भी बहुत बढ़ गया। उनकी स्मरण शक्ति भी बहुत तीव्र थी। बहुधा पूरी कविता बिना देखे पढ़ देते थे। वह एक न एक कविता उक्त अंजुमन के सालाना जलसे पर सुनाया करते थे, जिससे उनकी प्रसिद्धि उर्दू जगत में बहुत फैल गई। 'तसवीर दर्द', 'फ़रयादे उम्मत', 'हमारा देश', 'नया शिवालय', 'तराना' इत्यादि कविताएं उसी अवसर पर पढ़ी गई थीं।

इक़बाल ने योरप में जाकर शायरी छोड़ दी थी, लेकिन प्रोफ़ेसर आर्नल्ड, और शेख़ अब्दुल क़ादिर आदि अपने मित्रों के आग्रह से फिर करने लगे। लेकिन उर्दू के स्थान में फ़ारसी को अपनाया। पर हिन्दुस्तान में आकर उर्दू फ़ारसी दोनों में कविता करने लगे और उनका झुकाव 'पैन इसलामिज़्म' अर्थात् दुनिया भर के मुसलमानों के संगठन की ओर अधिक हुआ। 'जवाब शिकवा' आदि कविता उसी समय की हैं।

इक़बाल की कविता के तीन युग स्पष्टतया देख पड़ते हैं। पहला सन १८६६ से १६०५ तक का जब कि वह विलायत नहीं गए थे। सच पूछिए तो यह उनकी तैयारी का समय था। इस समय की रचना अधिकांश ग़ज़लों के रूप में है, जिससे उनकी प्रतिभा की झलक देख पड़ती है। लेकिन आरंभिक अभ्यास के कारण शब्दों के चुनाव और उनके संगठन में भोंडापन है और उसमें सुरीलापन और शब्दो की चित्रकारी पूरी तरह से नहीं आई, पर उसका अस्तित्व अवश्य पाया जाता है और उज्ज्वल भविष्य का पता देता है। इक़बाल इस युग में एक सांप्रदायिक शायर नहीं बल्कि एक स्वदेशी कवि थे। उनकी कविताएं 'हिमालय', 'तराना हिन्दी' 'हिन्दुस्तानी बच्चों का क़ौमी गीत' और 'नया शिवालय' इत्यादि उसी समय की रची हुई हैं जिनसे इक़बाल ने तमाम हिन्दुस्तानियों के हृदय में स्थान पा लिया था और उनकी ख्याति इस देश के कोने-कोने में पहुँच गई थी।

इक़बाल की शायरी के तीन युग

दूसरा युग सन १६०५ से सन १६०८ तक का है, जब वह विलायत में थे। वहाँ उन्होंने बहुत कम कविता की है। तीन बातों का इस युग के साथ विशेष संबंध है। एक यह कि उनकी रुचि फ़ारसी की ओर अधिक हो गई थी और उसी भाषा को वह अपने विचारों के प्रकट करने का साधन बनाए हुए थे। दूसरे यह कि वह एक अत्यंत सांप्रदायिक कवि हो गए थे[1] और उनके समस्त विचार

[1] पहले उन्होंने एक कविता लिखी थी, जिसका पहला शेर यह है :—

'सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा।
हम बुलबुलें हैं इसकी यह गुलसिताँ हमारा॥
मज़हब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना।
हिन्दी हैं। हम वतन है हिन्दोस्ताँ हमारा॥

उसी एक केंद्र पर एकत्रित हो गए थे। तीसरे यह कि उनकी कविता में विचार बड़े गहरे थे, लेकिन दार्शनिक रंग उसमें अधिक आ गया था, जो उनके पूर्व और पश्चिम के दर्शनों के अध्ययन का परिणाम था। 'तराना मिल्ली' इत्यादि उसी समय की रचनाएँ हैं।

तीसरा युग सन् १६०८ से आरंभ होता है, जब विलायत से लौट कर आए। अब उनका अभ्यास अधिक बढ़ गया था। इस में उनकी रचना ज़ोरदार और मीठे शब्दों का भंडार है। लेकिन ये शब्द अधिकांश फ़ारसी के हैं। सांप्रदायिकता का तत्व अधिक और देशानुराग का भाव कम है। इसी से देशी भाषा उर्दू की कमी है जो

लेकिन पीछे पैन इसलामिस्ट हो जाने पर उन्होंने इसको बदल कर इस प्रकार लिखाः—

'चीनो अरब हमारा हिन्दोस्ताँ हमारा।
मुसलिम हैं हम वतन है सारा जहाँ हमारा॥
तेगों के साये में हम पल कर जवाँ हुए हैं।
खञ्जर हिलाल का है खूनी निशाँ हमारा॥ इत्यादि

ऐसा ही और भी लिखा है :—

बाज़ू तिरा तौहीद की क़ूवत से क़वी है।
इसलाम तिरा देस है तू मस्तफ़वी है॥
हो क़ैद मुक़ामी तो नतीज़ा है तबाही।
रह बह्र में आज़ाद वतन सूरते माही॥
है तर्क वतन सुनते महबूब इलाही।
दे तू भी नबूअत की सिदाक़त पे गवाही॥
गुफ़तार सियासत में वतन और ही कुछ है।
इरशाद नबूअत में वतन और ही कुछ है॥

(हिन्दी अनुवादक)

पहले युग में न थी। फ़ारसी की अधिकता उनके फ़ारसी शब्दों, फ़ारसी संगठन और फ़ारसी कवियों की रचना की तज़मीन से प्रकट है।

इक़बाल की उर्दू ग़ज़लें और अन्य रचनाएँ

अन्य कवियों की तरह इक़बाल ने भी ग़ज़लों से कविता आरंभ की थी। जैसा पहले लिखा गया, पहले वह अरशद और फिर दाग़ के शिष्य हुए थे, जैसा कि दाग़ के मरसिए में उनकी चर्चा बहुत प्रेम और कृतज्ञता के साथ की है तथा अन्य कविताओं के अंतिम पद्य में उनकी ओर संकेत किया है। लेकिन यह संबंध बहुत दिनों तक नहीं रहा। उनकी प्रारंभिक ग़ज़लों में कोई विशेष बात नहीं है, लेकिन आगे की उन्नति का पता अवश्य चलता है। कहीं-कहीं संगठन भोंडा है, लेकिन बिचार ऊँचे हैं। ज्यों-ज्यों अनुभव बढ़ता गया, रचना परिपक्व होती गई। साथ ही शब्द विन्यास का सौंदर्य बढ़ता गया और त्रुटियां कम होने लगीं। ग़ज़लें केवल सत्ताईस हैं। लेकिन गंभीरता उच्च, और दार्शनिक विचारों में वह ग़ालिब की ग़ज़लों से टक्कर खाती हैं। अतः यदि इक़बाल ग़ालिब के स्थानापन्न कहे जायँ तो बेजा न होगा। यद्यपि ग़ालिब के समान सूक्ष्म विचार और विशेष वाक्य-विन्यास इक़बाल के यहां न सही, फिर भी कविता का भावुकता से परिपूर्ण होना और तसौवफ़ तथा दार्शनिक रंग में सराबोर होना उनको ग़ालिब के निकट पहुँचा देता है।[1] लेकिन कहीं-कहीं फ़ारसियत के बाहुल्य और कृत्रिमता की त्रुटियों से पद्य प्रवाह, शब्दों का सुरीलापन, प्रभाव, विचारों की ऊँचाई और विशाल दृष्टिकोण आदि के गुण दूर हो गए हैं। चाहे दिल्ली और लखनऊ वाले छोटी-छोटी शाब्दिक

[1] इक़बाल ने अकबर के रंग में भी कुछ लिखने का परिश्रम किया था, लेकिन सच यह है कि इसमें वह सफल नहीं हुए।

(हिन्दी अनुवादक)

त्रुटियों पर मीन-मेष निकालें और पुराने उस्ताद छंदशास्त्र की अशुद्धियां दिखलायें, लेकिन इससे इंकार नहीं हो सकता कि इक़बाल के प्रत्येक शेर पर उनकी प्रतिभा का ठप्पा लगा हुआ है, जिससे उनकी कविता बहुत सी बातों में अनुपम है।

ऐसी रचनाएं बहुत साफ़ और सरल हाली और इस्माईल के रंग में हैं। ये अधिकांश उस समय की हैं जब उन पर फ़ारसियत की छाप अधिक नहीं थी। इन में से अनेक बच्चों की पुस्तकों में आ गई हैं, जिनसे कुछ न कुछ नैतिक परिणाम निकाला गया है। कुछ के नाम ये हैं। 'हमदर्दी', 'एक मकड़ा और मक्खी', 'एक गाय और बकरी', 'एक पहाड़ और गिलहरी' 'बच्चे की दूआ' और 'माँ का ख्वाब' इत्यादि।

छोटी कविताएं

बड़ी-बड़ी कविताओं से इक़बाल की प्रसिद्धि अधिक हुई जिनमें उनका विशेष रंग और विचार पाया जाता है। इनमें उन्हों ने अपने कवित्व का चमत्कार दिखलाया है और दर्शन, तसौवफ़ तथा देशानुराग की भावुकता के साथ उत्तम परिमार्जित भाषा, सरलता, ऊँचे विचार, प्रभाव और नई-नई उपमाएं और उदाहरण उन में पाए जाते हैं। 'हिमालय', 'खिज्र राह', 'शमा व शायर', 'शिकवा' और 'जवाबे शिकवा' इसी प्रकार की कविताएं हैं। इनको साधारण पद्य न समझना चाहिए, बल्कि सच्ची भावुकता के निर्मल दर्पण, लेखन शैली और उच्च विचारों के उत्तम नमूने हैं।

बड़ी कविताएं

'हिमालय' में विषय की ऊँचाई के साथ लेख शैली भी दर्शनीय है। हिमालय पर्वत इस देश का रक्षक है। कवि को अपने देश से घनिष्ट प्रेम है, अतः वह हिमालय का भी प्रेमी है। 'वालिदा मरहूमा की याद' नामक इक़बाल ने जो कविता लिखी है वह सच्ची भावुकता से परि

पूर्ण है। 'खिज्र राह' उनकी स्वजातीय भावनाओं का परिणाम है। इसमें वह आधुनिक पाश्चात्य उन्नति को अपने देशवासियों के लिए शंका और अविश्वास की दृष्टि से देखते हैं। 'शिकवा' में एक बहुत ही लालित्य पूर्ण कवित्व से उन तमाम आपदाओं और गिरावट की चर्चा की है जो दुर्भाग्यवश मुसलमानों के हिस्से में आ गई है,। 'जवाब शिकवा' में उन्हीं सब बातों का जवाब है और उनका कारण बतलाया गया है। तरक़्क़ी इसलाम में भी यही सब बातें हैं। 'शमा व परवाना' एक बहुत ही ऊंचे दर्जे की काल्पनिक कविता है।

अन्य कवितायें

इक़बाल की वह चीज जिससे उनके प्रेम का बीज तमाम हिन्दुस्तानियों के हृदय में बो गया, वह उनका देशानुराग है, जिसको उन्हों ने कुछ रचनाओं में बड़े जोश और सचाई के साथ प्रकट किया है; और जो वस्तुतः अद्वितीय है। ऐसी कविताएं जो किसी विशेष प्रयोजन से लिखी जाती हैं, ऐसी प्रभावशाली सिद्ध नहीं होतीं, जितनी निष्काम भाव से कल्पित लिखी जाती हैं। उनकी 'जुगनू', 'चाँद', और 'हुस्नो इश्क़' इत्यादि इसी प्रकार की रचनाएं हैं, जिनको प्रत्येक आदमी पसंद करता है। 'हिन्दुस्तानी' बच्चों का क़ौमी गीत' हिन्दुस्तान का एक उत्तम गीत है। 'नया शिवालय' हिन्दू-मुसलिम एकता की कविता है। जो संक्षिप्त कविताएं उन्हों ने दाग़, ग़ालिब, स्वामी रामतीर्थ, शिबली, हाली, शेक्सपियर, उरफ़ी और नानक इत्यादि के विषय में तथा प्राकृतिक दृश्य पर लिखी हैं, वे बहुत ही उच्च कोटि की हैं।

इक़बाल ने काव्य जगत में एक हिन्दुस्तानी कवि के रूप में पदार्पण किया और उनकी कविता ने नवयुवक हिन्दुस्तानियों को मोह लिया।

इक़बाल एक हिन्दुस्तानी कवि के रूप में

उस समय की उनकी कविता देशानुराग से ओत-प्रोत है। जैसे 'हिमालय' और 'सदाय दर्द' में उससे भी अधिक है। इसमें देश की

तमाम बुराइयों का कारण दिखलाया गया है। 'सैयद की लौह तुरबत' में धार्मिक कट्टरपन की निंदा की गई है। 'तसवीर दर्द' को हिन्दुस्तान का एक मरसिया समझना चाहिए। 'हिन्दी तराना' और 'क़ौमी गीत' से भारत माता का प्रेम हमारे हृदय में उमड़ने लगता है। 'तराना हिन्दी' को बंगाल का 'बन्देमातरम' समझना चाहिए, जिससे बढ़कर हिन्दुस्तान में कोई दूसरा जातीय गीत सर्वप्रिय नहीं हुआ और जो इस देश के कोने कोने में लोगों की जिह्वा पर है। सब से बढ़कर उनका देश प्रेम उनकी 'नया शिवालय' नामक कविता से छलकता है, जिस में वह इस देश की धूल के एक एक कण को देवता समझते हैं और जो इस प्रकार है :—

'सच कह दूँ ऐ बरहमन गर तू बुरा न माने।
तेरे सनम कदों के बुत हो गए पुराने ॥
अपनों से बैर रखना तूने बुतों से सीखा।
जंगोजद्दल सिखाया वाइज़ को भी ख़ुदा ने ॥
पत्थर की मूर्तों में समझा है तू ख़ुदा है।
ख़ाके वतन का मुझ को हर ज़र्रा देवता है ॥
आ ग़ैरियत के पर्दे इक बार फिर उठावें।
बिछड़ों को फिर मिलावें नक़्शे दुई मिटावें ॥
सूनी पड़ी हुई है मुद्दत से दिल की बस्ती।
आ इक नया शिवालय इस देश में बनावें।
दुनियां के तीर्थों से ऊँचा हो अपना तीरथ।
दामाने आसमाँ से इसका कलस मिलावें ॥
शक्ती भी शांती भी भक्तों के गीत में है।
धरती के बासियों की मुक्ति भी प्रीति में है ॥

लेकिन यह देशानुराग विलायत जाने पर मद्धिम पड़ गया। वहां उन्होंने जो कविताएँ लिखी उनमें यह भाव लगभग नष्ट हो गया है।

योरप में रहकर इक़बाल के हृदय में पैन इसलामिज़्म'(अर्थात् दुनिया भर के मुसलमानों के संगठन)[1] का भाव पैदा हुआ, जब वह लंदन की इस सोसाइटी के जलसों में आया-जाया करते थे। पैन का अर्थ संगठन है। इक़बाल ने इस शब्द को उस सोसाइटी के नाम से यह कहकर उड़ा दिया कि मुसलमानों में संगठन का तत्व पहले से मौजूद है, चाहे वे किसी देश के रहने वाले हों। अतः इस संस्था का नाम केवल 'इसलामिक सोसाइटी' रहना चाहिए। मुसलमानों के राजनीतिक दृष्टिकोण पर इसका क्या प्रभाव पड़ा? इस पर डाक्टर लतीफ़ ने जो लिखा है उसका सार नीचे दिया जाता है :—

इकबाल पैन इसलामिस्ट के रूप में

'सन् १९११ में जब इटली का आक्रमण त्रिपुली पर हुआ तो मुसलमानों के राजनीतिक आंदोलन के दृष्टिकोण में बहुत परिवर्तन हुआ। उनका कार्यक्षेत्र भारत ही तक सीमित न रहा, किंतु समस्त मुसलमानी देशों में जितने मुसलमान हैं उनकी रक्षा और स्वतंत्रता के लिए वह आंदोलन करने लगे। इसी का नाम 'पैन इसलामिज़्म' था। इस देश के बड़े-बड़े मुसलमान नेताओं ने भी लेखनी और जिह्वा द्वारा इसमें बहुत भाग लिया। लेकिन पिछले योरप के महायुद्ध से इसकी समाप्ति हो गई। डाक्टर इक़बाल कुछ दिनों तक इस आंदोलन के मुख्य कार्यकर्ताओं में थे और इसलिए उस समय की कविताओं में उन्होंने इसका भाव बहुत जोश के साथ प्रकट किया है।

इक़बाल ने तमाम दुनिया के मुसलमानों को प्रेरित किया है कि यदि तुम को अपनी स्थिति को अचल रखना है तो तुच्छ धार्मिक भेद-

---

[1] इस पर लाहौर के एक नवयुवक कवि आनन्द किशोर मेहता ने एक कविता लिखकर किसी पत्र में प्रकाशित की थी।

(हिन्दी अनुवादक)

भावों को छोड़ कर एक हो जाओ। क्योंकि इस समय उनक शक्ति छिन्न-भिन्न है, इसलिए वे पाश्चात्य आक्रमणों को रोक नहीं सकते और शीघ्र उनके शिकार हो जाएँगे।

हिकमते मग़रिब से मिल्लत की यह कैफ़ीयत हुई।
टुकड़े-टुकड़े जिस तरह सोने को कर देता है गाज़॥
यही मक़सूद फ़ितरत है यही रमजे. मुसलमानी।
अखौवत की जहांगीरी मुहब्बत की फ़िरावानी॥
बुताने रंगोखूँ को तोड़कर मिल्लत में गुम हो जा।
न तूरानी रहे बाक़ी न ईरानी न अफ़ग़ानी॥
पिरोना एक ही तसबीह में इन बिखरे दानों को।
जो मुश्किल है, तो इस मुश्किल को आसाँ करके छोडूँगा॥

जब इक़बाल योरप जा रहे थे तो रास्ते में जहाज़ से सिसिली टापू देख पड़ा, जो कभी अरबों के अधिकार में था। उसको देख कर उन्होंने अपना उद्‌गार इस तरह से प्रकट किया है।:—

"रोए अब दिल खोलकर ऐ ददिए खूँना बार-बार।
वह नज़र आता है तहज़ीबे हिजाज़ी का मज़ार॥
था यहां हंगामा उन सहरा नशीनों का कभी।
बह्र बाज़ी गाह था जिनके सफ़ीनों का कभी॥
ज़ल ज़ले जिन से शहंशाहों के दरबारों में थे।
बिजलियों के आशियाने जिनकी तलवारों में थे॥

इक़बाल इसी पैन इसलामिज़्म के कारण मुसलमानी देशों के अतिरिक्त योरप और अमेरिका में भी प्रसिद्ध हो गए थे।

इक़बाल केवल अच्छे कवि ही नहीं बल्कि दार्शनिक भी थे, जो उनकी रचनाओं से प्रकट है। उनके सिद्धांत थे (१) अपने अस्तित्व को पहचानो और (२) उसको सिद्ध करो। इसी में

इक़बाल के दार्शनिक विचार

जातियों की उन्नति का रहस्य है। पूर्व के लोगों के दिलों में भ्रम और संदेह भरा रहता है। उनको निकाल कर श्रद्धा और विश्वास को स्थान देना चाहिए।

'.खुदाए लम यज़ल का दस्त .कुदरत तू, ज़बां तू है।
यक़ीं पैदा कर ऐ ग़ाफ़िल कि मग़लूबे गुमाँ तू है॥'

इक़बाल पाश्चात्य जड़वाद के शत्रु हैं। कहते हैं :—

'दयार मग़रिब के रहने वालो .खुदा की बस्ती दुकाँ नहीं है।
खरा जिसे तुम समझ रहे हो वह अब ज़रे कम अयार होगा॥
तुम्हारी तहज़ीब अपने खंजर से आप ही .खुदकुशी करेगी।
जो शाखे नाजुक पे आशियाना बनेगा नापायदार होगा'॥

कुछ योरोपियन समालोचकों का विचार है कि इक़बाल ऐसी रचनाओं के लिए कुछ पाश्चात्य दर्शनों के ऋणी हैं। इक़बाल ने इसका खंडन किया है, लेकिन इतना अवश्य है कि उनके दार्शनिक विचारों का इक़बाल पर प्रभाव अवश्य पड़ा है।

इक़बाल की हार्दिक इच्छा थी कि उनके सहधर्मी अपने को पहचान कर कार्य क्षेत्र में उतर पड़ें, क्योंकि कार्यशीलता ही जीवन और अकर्मण्यता मृत्यु है। उनका संदेश

इक़बाल का संदेश

बहुत ही सच्चा है। वह मुसलमानों को डंके की चोट सुनाना चाहते थे कि शिथिलता और लापरवाही छोड़ दें। उनका उद्देश्य देश का विस्तार या राजनीतिक उन्नति न थी, बल्कि यह चाहते थे कि मुसलमानों में सादगी, वीरता और साहस उत्पन्न हो तथा अपने पर भरोसा करने की शक्ति हो, जैसा कि उनके पूर्वजों में थी। इस पर यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि पुराने क़िस्सों को याद करना, घड़ी की सुई उल्टी घुमाना है, लेकिन यह कहना व्यर्थ है। बात यह है कि इक़बाल वर्तमान

काल का चित्र काले और अतीत काल का चमकते हुए रंग में खींचते हैं, इस हेतु से कि मुसलमान उससे उपयोगी शिक्षा ग्रहण करें। सारांश यह कि उनका संदेश उद्योग और कर्म का संदेश है।

'यही आईन .कुदरत है यही उसलूब फ़ितरत है।
जो है राहे अमल में गामज़न महबूब फ़ितरत है' ॥

इक़बाल निराशावादी कवि नहीं थे। उनकी रचनाओं में आशा और आनंद की झलक है, जो दूसरों से उनको पृथक् करती है।

इक़बाल की रचना में आशा और आनंद

उनका विश्वास है कि कष्ट और विफलता ही मनुष्य के चरित्र को परिपक्व और दृढ़ बनाती है, जैसे सोना तपाने से चमक उठता है। वह अंधकार और कष्टमय पूर्व के लिए एक उज्ज्वल भविष्य देखते हैं और कभी हतोत्साह नहीं होते।

इक़बाल काल्पनिक कवि होने पर भी एक क्रियात्मक कवि थे। वह हर चीज़ का व्यावहारिक पक्ष देखते थे। यद्यपि उनके विचार

इक़बाल एक क्रियात्मक कवि थे

गगनचुंबी थे और वह स्वयं पृथ्वीमाता के निवासी थे। उनको मनुष्य की कमज़ोरियां मालूम थीं, फिर भी उनकी दुनिया व्यावहारिक दुनिया है, जिसमें सुख-दुख, आशा और निराशा का चोली-दामन का साथ है। वह इस सच्चाई को भूलना नहीं चाहते थे।

इस प्रकार की भी इक़बाल की कविताएँ अनुपम हैं। जैसे जुगनू, चाँद, सुबह का सितारा, एक परिंदा और जुगनू तथा अब्र इत्यादि।

इक़बाल की प्राकृतिक रचनाएँ

ऊँचे विचार, वास्तविक वर्णन और माधुर्य की दृष्टि से यह रचनाएँ अद्वितीय हैं। कहा जाता है अंग्रेज़ कवि वर्ड्सवर्थ के यहां जो बच्चों की .खुशी की सादगी और असलियत

पाई जाती है वह इक़बाल के यहाँ नहीं है। लेकिन यह चीज़ तो किसी उर्दू कवि के यहाँ नहीं है, फिर भी इक़बाल के यहां जितना है बहुत है, क्योंकि औरों के यहाँ इतना भी नहीं है। पूर्व के कवियों के यहाँ प्राकृतिक दृश्य का वर्णन भावुकता को प्रकट करने के लिए वही काम देता है, जैसे चित्र के पीछे का पट, जिसका कोई महत्व नहीं होता, क्योंकि वह केवल चित्र को उभारने के काम में आता है। हमारे कवियों का तात्पर्य किसी भाव या विचार का व्यक्त करना होता है तो वे चित्र को उदाहरण या उपमा के लिए गौण रूप से उपस्थित कर देते हैं। विपरीत इसके पाश्चात्य कवि सुंदर दृश्य के वर्णन में, जो उनके सामने होता है, तल्लीन हो जाते हैं और उसका यथातथ्य वर्णन करके उससे आनंद उठाना उनका मुख्य उद्देश्य होता है। इक़बाल उर्दू के दूसरे कवियों की अपेक्षा इस विषय में पाश्चात्य कवियों के बहुत निकट हैं। उन्होंने पुराने ढंग को छोड़कर अपने लिए एक नया मार्ग ग्रहण किया है।

इक़बाल की कविता की विशेषता

(१) पहली विशेषता उनका पैन-इस्लामिज़्म है, जिसका वर्णन ऊपर हो चुका है। (२) इसलाम के प्रारंभिक सादा जीवन पर जो ईरान की बनावटी सभ्यता ने बुरा प्रभाव डाला, उसकी उनको बहुत शिकायत है, क्योंकि वह उसी को इसलाम के अधःपतन का मूल कारण बतलाते हैं। (३) उनका संदेश बहुत सच्चा है। लेकिन कुछ बातों के विषय में यही उचित समझा कि उनको खोल कर न कहा जाय अतः उसको उदाहरण और उपमा के द्वारा प्रकट किया है। (४) वह सच्चे कवि थे। वह किसी के आज्ञानुसार या किसी की चापलूसी में कविता नहीं करते थे (५) उन में संक्षेप से कहने का गुण था। उनके छोटे-छोटे शब्द इतने अर्थ-कचसू है मानों बिंदु में सिंधु भरा हुआ है। ग़ालिब के समान उन

पर भी यह कहावत चरितार्थ होती है कि पहले शब्दों का रासायनिक विश्लेषण कर लो उसके पश्चात् अर्थ रूपी स्वर्ण हाथ आ जायग'। (६) उनके लेख बहुधा फ़ारसी शब्दों और मुहावरों में होते हैं लेकिन पहेली के रूप में नहीं होते। थोड़ा विचार करने से समझ में आ जाते हैं। (७) वह बिलकुल वर्तमान काल के कवि थे। हर प्रकार की वैज्ञानिक, दार्शनिक और धार्मिक सच्चाइयां उनकी रचनाओं में मौजूद हैं। जिस तरह तसौवफ़ और नीति के उनके अमूल्य लेख अति सुन्दर शब्दों में हैं, वैसे ही पश्चात्य विद्याओं जैसे रसायन और भौतिक विज्ञान के रहस्य भी ललित रूपक और उपमा के ओट में पाए जाते हैं (८) उनकी कुछ उपमाएं बड़ी सुन्दर और विचित्र हैं जैसे, 'हिलाल ईद' (ईद का चाँद) को उन्हों ने प्रकाश का बुलबुला कहा है। ऐसा ही जुगनू के विषय में लिखते हैं :—

जुगनू की रोशनी है काशानए चमन में।
या शमा जल रही है फूलों के अंजुमन में॥
आया है आसमाँ से उड़कर कोई सितारा।
या जान पड़ गई है महताब की किरन में॥
या शब की सलतनत में दिन का सफ़ीर आया।
गुरबत में आके चमका, गुमनाम था वतन में॥

(९) उनकी रचना का विशेषण जोश, सचाई और शक्ति है उनकी कविताओं में वही वेग है जो बहते हुए धार में होता है। ये बातें और उर्दू कवियों में बहुत कम हैं।

इक़बाल की प्रसिद्धि हमारी समझ में जो ख्याति और सर्वप्रियता इकबाल की हुई वह वह किसी उर्दू — शायर की नहीं हुई। उनकी प्रसिद्धि हिन्दुस्तान से बाहर सुदूर देशों तक फैल गई थी। इस देश में वह एक जातीय कवि माने जाते थे। बड़े कवि और लेखक

जैसे शिबली, अकबर, हसन निज़ामी और ज़ुलफ़िक़ार अली खां ने उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। डाक्टर निकलसन ने उनकी पुस्तक 'असरार बेखुदी' का अनुवाद अँग्रेजी में किया है। योरप और अमरीका के प्रसिद्ध समालोचकों ने उनकी पुस्तकों पर अच्छी सम्मति दी है। उनकी साहित्यिक सेवाओं के उपलक्ष्य में उनको सर की उपाधि मिली थी।

वह हिन्दुस्तान के नवयुवकों के सब से अच्छे कवि थे, क्योंकि उनकी भावनाओं को वह बहुत अच्छे ढंग से व्यक्त करते थे। एक समय में अपनी अमूल्य कविताओं के कारण पूरे हिन्दुस्तान के हृदय पर राज्य करते थे और देश का प्रत्येक भाग उनको भारत माता का सच्चा कवि मानता था। लेकिन कुछ दिनों के बाद उनका वह आदर न रहा जब वह अन्य भावनाओं को देशानुराग से बढ़कर समझने लगे। दूसरे यह कि वह उर्दू को छोड़ कर फ़ारसी में लिखने लगे। इन सब बातों के होते हुए भी वर्तमान समय के उर्दू कवियों में उनका स्थान बहुत ऊँचा था, बल्कि वह दुनिया के बड़े-बड़े कवियों के जोड़ के थे।

उर्दू साहित्य का इतिहास

(पद्य खण्ड)

लेखक—डा० रामबाबू सक्सेना, एम० ए०, डी० लिट०

अनुवादक—श्री रामचन्द्र टण्डन, श्री शालिग्राम श्रीवास्तव

उर्दू साहित्य के इतिहास का ज्ञान उन सभी विद्यार्थियों, आलोचकों और साहित्यिकों के लिये अत्यन्त आवश्यक है जो आधुनिक खड़ी बोली-साहित्य के विकास और प्रगति का अध्ययन करते हैं। उर्दू साहित्य की धारा खड़ी बोली साहित्य के साथ ही साथ प्रवाहित होती रही है। इसी आवश्यकता को ध्यान में रखकर हिंदुस्तानी एकेडमी ने प्रस्तुत ग्रन्थ को हिन्दी में रूपान्तरित कराया है। अंग्रेजी में डा० रामबाबू सक्सेना का यह प्रामाणिक ग्रंथ 'हिस्ट्री आफ उर्दू लिट्रेचर' शीर्षक से प्रकाशित हुआ और उर्दू में उसका रूपान्तर मिर्जा मोहम्मद अस्करी ने किया है। प्रस्तुत हिन्दी रूपान्तर उपर्युक्त दोनों संस्करणों पर आधारित है। इस भाग में अबाध रूप से उर्दू कविता धारा की समीक्षा की गई है। प्रत्येक काल की प्रमुख प्रवृत्तियाँ, प्रमुख कवि और प्रमुख रचनाओं का परिचय और विवेचना उदाहरण सहित दिये गये हैं।

उर्दू गद्य की समीक्षा से सम्बन्धित भाग भी शीघ्र ही एकेडमी से प्रकाशित होगा।

मूल्य ५)